

Vinay Avasthi Sahib Bhuvan Vani Trust Donations

हमारी संस्कृति

हमारी संस्कृति

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	अत्यन्त	अन्यत्र
४	नीचे से ६	वहाँ	जहाँ
१६	१८	मिस्रकेश	मिश्रदेश
२५	७	प्रसार	यह ८ वीं पंक्ति के अन्त में आना चाहिए।
५२	नीचे से ११	अस्पष्ट	अस्पृश्य
८४	१४	प्रश्न	प्रस्रय
६०	१२	बालक	वाल
६२	नीचे से ५	चाने के	वचानेके
१२७	१०	शिखा-न्याय	शिखा-न्यास
१२७	नीचे से ६	न्याय	न्यास
१६७	अन्तिम	मन्त्र-शक्ति	मन्त्र-शक्ति,
		शब्द,शक्ति	शब्द-शक्ति

इस पुस्तकको सम्पूर्ण अथवा इसके किसी अंशको भी प्रकाशित करने,
उद्धृत करने या किसी भी भाषामें अनूदित करनेका
अधिकार सबको है।

हमारी संस्कृति

५

लेखक :

सुदर्शनसिंह 'चक्र'



इस पुस्तकको सम्पूर्ण अथवा इसके किसी अंशको भी प्रकाशित करने,
उद्धृत करने या किसी भी भाषामें अनूदित करनेका
अधिकार सबको है ।

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ,
Avesthi Sahib Bhuvan Vani Trust Donations

मथुरा-२८१००१

प्रथमावृत्ति-सन् १९७६ ई०

संस्करण-२०००

मूल्य-८) रु०

मुद्रक :

हर्षगुप्त

राष्ट्रीय प्रेस,

डैम्पियर नगर,

मथुरा ।

अनुक्रमणिका



क्र. सं०

पृष्ठ सं०

१. दो शब्द	
२. संस्कृतियोंकी जननी	१
३. हिन्दू संस्कृतिकी आधारभूमि	२
४. हिन्दू संस्कृतिका ह्रास एवं उत्थान	४४
५. हिन्दू संस्कृति और विकासवाद	५३
६. आवर्तवाद	७२
७. हिन्दू संस्कृति और धर्म	८३
८. हिन्दू संस्कृतिमें देवतावाद	१०४
९. हिन्दू संस्कृतिके प्रतीक	१०६
१०. हिन्दू संस्कृति और समाजके आचार	१३३
११. हिन्दू कला और उसका आदर्श	१४७
१२. हिन्दू संस्कृति और भौतिक विज्ञान	१६५
१३. हिन्दू समाज और पर्व	१८५
१४. भारतीय मनोविज्ञान	२०५
१५. वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं	२२२
१६. सृष्टि एवं प्रलय चक्र	२३२
१७. देहतत्त्व	२३६

दो शब्द

यह एक लेखोंका संग्रह है। इसके अधिकांश लेख मैंने 'कल्याण' के 'हिन्दू-संस्कृति अङ्क' के लिए सन् १९४६, में लिखे थे और इनमें-से कुछ जनवरी १९५० के 'हिन्दू संस्कृति अङ्क' में गये हैं। कुछ लेख पीछे 'कल्याण' के साधारण अङ्कोंमें निकलते रहे। अवशिष्ट लेखोंको भी बहुत वर्षों पीछे 'कल्याण' के सम्पादक श्री भाईजी (श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार) ने तब लौटाया जब गीताप्रेससे पुस्तकाकार इन्हें देनेकी परिस्थिति उनको नहीं जान पड़ी।

इनमें-से कुछ लेख 'विवेक रश्मि' मासिक (परमार्थश्रम, हरिद्वार) में भी निकले। कुछ लोगोंको ये लेख बहुत प्रिय लगे। कुछ तो ऐसे लोग थे कि जब भी इनमें-से कोई लेख 'कल्याण' में निकलता था, तभी मेरे पास उनका पत्र आता था—'आप दूसरा सब लेखन वन्द करके ऐसे शोधपूर्ण लेखनमें ही लगे।'

इतने दिनों पश्चात मैंने इनका संग्रह कर दिया है। हिन्दू-संस्कृतिकी महानता, प्राचीनता, व्यापकता और गम्भीरताका इससे किञ्चित् आभास मिलेगा पाठकको।

यदि इससे हमारी संस्कृतिके सम्बन्धमें प्रचलित—पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे वद्धमूल भ्रमोंका कुछ निवारण हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

प्रवासी भारतीयोंके लिए अथक श्रम करने वाले श्री भवानी दयालजी को इसमें-से 'संस्कृतियोंकी जननी' लेख इतना प्रिय था कि उन्होंने अपनी रुग्णावस्थामें इसका अंग्रेजी अनुवाद कराके प्रकाशित कराया था। यद्यपि उनकी रोगजन्य असमर्थताके कारण अनुवाद एवं प्रकाशन बहुत हल्के स्तरका हुआ। कदाचित् इसीसे वह प्रचार नहीं पा सका।

हमारे विद्वान यदि अपनी संस्कृतिके गौरवको ध्यानमें रखकर अपने अन्वेषणकी दिशा निर्धारित करें, पाश्चात्य प्रचारके प्रभावसे उनका मानस मुक्त हो तो हमारी संस्कृतिका प्रकाश जनता तक ठीक पहुँचे।

—सुदर्शनसिंह 'चक्र'

संस्कृतियोंकी जननी

विश्वकी प्राचीनतम संस्कृति कौन-सी है ? आदि संस्कृति अब विश्वमें कहीं विद्यमान भी है या नहीं ? एक ही संस्कृतिसे विश्वकी समस्त संस्कृतियों का जन्म हुआ या उनका स्वतन्त्ररूपसे निर्माण हुआ है ? इन सब प्रश्नोंके मूलमें एक ही प्रश्न है कि पृथ्वीपर मनुष्य-जातिकी सृष्टि कहीं एक ही स्थान पर हुई और वहींसे उसकी सन्तति विश्वमें फैली या अनेक स्थानोंपर मनुष्यकी सृष्टि हुई ? यदि एक ही स्थानपर हुई तो वह स्थान कौन-सा है ? मूल मानवकी संस्कृति कहीं अपनी सुरक्षित परम्परा भी रखती है या सब कहीं वह विकृत हो गयी ?

वर्तमान समयमें मनुष्योंकी विश्वमें चार मुख्य जातियाँ मानी जाती हैं—१. श्वेत, इन्हें काकेशस कहते हैं। ये लंबे आकारके होते हैं। २. पीले, मंगोलियन जातिके। लम्बी आकृति, चपटी नाक इनका चिन्ह है। ३. काले, काला रंग, मोटी आकृतिके नीग्रो। ४. लाल, यह जाति अमेरिकामें ही मिलती है। इनकी आकृति पतली होती है। ये रेड-इंडियन कहलाते हैं।

इन चारों रंगोंके अतिरिक्त एक पाँचवीं जाति है, जो भारतीयोंकी है। इन जातिमें उपर्युक्त चारों रंगोंके मिश्रण हैं। भारतके एक ही प्रान्तमें उपर्युक्त चारों रंगोंसे कुछ न कुछ मिलते-जुलते आकारके लोग पाये जा सकते हैं। ऐसी कोई सम्भावना किसी आधारपर प्राप्त नहीं है, जिससे कहा जा सके कि भारतीय मानव-जाति उपर्युक्त चारों जातियोंकी संकरतासे उत्पन्न हुई। जान यही पड़ता है कि यही जाति विश्वमें फैली और दीर्घ-कालमें विभिन्न देशोंकी जल-वायु आदिके भेदसे चार मुख्य रूपोंमें हो गयी। मनुष्योंमें चार ही प्रकार का रक्त भी पाया जाता है और भारतीयोंमें चारों प्रकारके रक्तके मनुष्य मिलते हैं।

विकासवादी मानते हैं कि मनुष्य जाति बन्दरसे विकसित होकर बनी है। मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति जावाद्वीपके 'कलेंग' नामक मनुष्योंसे हुई। यह जाति नीग्रो जातिकी है। लेकिन काला रंग सम्पूर्ण रंगोंके अभावका द्योतक है। उससे श्वेत, पीत एवं लाल रंग उत्पन्न नहीं हो सकते।

अमेरिकाके लाल रंगवालोंका मिलान मिस्त्रके प्राचीन निवासियोंसे है। सम्भवतः यह जाति मिस्त्रमें लाल समुद्रके किनारे वहाँ गयी है। मिस्त्रकी भांति अमेरिकामें भी पिरामिड और सूर्य मन्दिर पाये गये हैं। विद्वानोंने पता लगाया है कि चारों मनुष्य-जातियोंमें काकेसिक विभाग ही मुख्य है। इसी जातिके लोग कालक्रमसे भूरे और काले हो गये। मिस्त्रमें यही हेमेटिक शाखाके मनुष्य रहते हैं। यही जाति नीग्रो हुई है। इसके बाल सीधे और घुंघराले भी होते हैं। श्वेत रंगके यूरोपवाले भी अपनेको काकेसिक शाखा का ही बतलाते हैं। काकेसिक विभागकी दूसरी शाखा सेमेटिक है। इसमें अरब, बेबिलिन, सीरिया आदिके लोग हैं। मेसोपोटामियामें पुरातत्वके विद्वानोंको ३४०० वर्ष पूर्वकी ईंटें मिली हैं। इनमें सुलहनामा है। उससे ज्ञात होता है कि यहाँ जो सेमिटिक शाखाकी हिदोहिट जाति रहती थी, उसीका एक दल भारतमें रहता था और द्रविड़ कहलाता था। भारतीय द्रविड़ोंका रूप, रंग, भाषा, शरीरगठन यह सब नीग्रो तथा मंगोलियन विभागको एक करता है। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध नीग्रो जातिके हैं, और यह सिद्ध हो गया है कि द्रविड़ जाति ही आस्ट्रेलिया तक विस्तृत थी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समस्त मानव-जाति काकेसिक विभागसे ही निकली है। यह पाश्चात्य शोध है। मुझे कहना हो तो मैं कहूँगा कि मानव-जातिका मूल भारतीय मानव-जाति है। काकेसिक विभागके लोग मंगोलियन, रेड इंडियन और नीग्रो हुए—इस टेढ़ी कल्पनाके बदले यह सरल है कि भारतीय जाति एक साथ पृथ्वीके अनेक देशोंमें फैली और उनके जल-वायुके अनुरूप हो गयी। ऐसा माननेके कारण हैं—

१—भारतीय जातिमें चारोंके रंगोंके लोगोंका पाया जाना।

२—भारतीय लोगोंमें चारों जातियोंकी शारीरिक गठनका मिलना। जैसे ऊँची, दबी, गोल, लम्बी मस्तकाकृति। उठी या चपटी नाक। लम्बी, टिगनी, पतली, मोटी शरीराकृति तथा एकहरी या दुहरी अस्थिगठनकी आकृतियाँ।

३—भारतीय लोगोंमें काले सीधे, काले घुंघराले, सुनहरे, भूरे केशोंका पाया जाना। अब विज्ञानने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यके आकार के संस्कार माता-पिताके क्रोमोसोमोंमें स्थित 'जीन्स' में रहते हैं और 'जीन' में स्थिर संस्कार अनेक पीढ़ियों तक सुप्त रहनेके पश्चात् किसी शिशुमें प्रकट हो सकते हैं। संसार की दूसरी किसी मनुष्य जातिमें अब सब जातियोंके आकारके 'जीन' नहीं रहे। वर्ण संकर हुए बिना श्वेत जातिसे नीग्रो या मंगो-

लियन आकृतिका बालक उत्पन्न नहीं हो सकता; किन्तु भारतीयोंमें अभी भी किसी कुलमें बिना वर्ण संकरता के कभी भी नीग्रो, मंगोलियन या काकेशस आकृति का शिशु उत्पन्न हो जाता है। इसका अर्थ है कि मनुष्य जाति की मूल जाति भारतीय है। अत्यन्त बस जाने पर जलवायु के प्रभाव से दीर्घकालमें जीन विशेष इससे नष्ट हुए।

हेमेटिक और सेमेटिक जातियोंका मूल ढूँढना भी कठिन नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् अपनी खोज अपने धार्मिक आग्रहसे पृथक् करके कर नहीं पाते। यहूदियोंके धर्मग्रन्थमें एक जल-प्रलयका वर्णन है। हजरत नूह उसमें बच गये थे और उन्हींके दो पुत्र थे—हेम और सेम। इन्हीं दोनों पुत्रोंसे मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ। इन्हींकी सन्तानें हेमेटिक और सेमेटिक कहलाती हैं। यही कथा बाइबिलमें आयी और फिर इस्लाममें भी। नूहकी कथा तो वेवस्वत मनुकी कथाका अनुवाद है। यह बात इससे भी सिद्ध है कि मनुके वंशज होनेसे जैसे भारतीय अपनेको मनुष्य कहते हैं, वैसे ही जर्मन अपना मूल पुरुष 'मनस' को मानते हैं। जर्मन भाषामें मनुष्यको 'मेनस' कहते हैं और अंग्रेजीका 'मैन' इसीका अपभ्रंश है।

हजरत नूह कौन थे ? मिस्रकी भाषामें 'नून' शब्दका अर्थ मछली होता है। यह अक्षर अंग्रेजी, अरबी आदिमें अब भी मछलीके समान है। वेवस्वत मनुको जल-प्रलयके समय भगवान् ने मत्स्यरूप धारण करके बचाया था, यह तो पुराण स्पष्ट कहते हैं। वही मत्स्य भगवान् वहाँ 'नूह' कहे गये। 'हेम' तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ (सूर्य) का अपभ्रंश है और 'सेम' 'सोम' का। सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रिय ही भारतसे बाहर गये। उपर्युक्त कथाका सीधा तात्पर्य है कि सूर्य और चन्द्र भगवान् मत्स्यके पुत्र हैं, उन्हींसे सृष्टि विस्तार हुआ है। अवश्य ही पुराणकी यह कथा जब करोड़ों वर्षके पश्चात् वहाँ संकलित हुई तो उसका रूप अस्पष्ट हो गया।

विद्वानोंने भौगोलिक स्थितिका अध्ययन करके पता लगाया है कि पूर्वकालमें अमेरिका तथा यूरोपकी ऐसी भौगोलिक स्थिति नहीं थी कि वहाँ मनुष्य उत्पन्न हो सकते। डाक्टर ऐन्सनका कहना है—'मनुष्यके चमड़ेपर ध्रुवप्रदेशके पशुओंके समान लम्बे बाल नहीं हैं। इसके चमड़ेपर पसीना निकालनेके लिए रोम हैं। इसलिए यह अति शीत प्रदेशमें बसनेवाला प्राणी नहीं है।' लोकमान्य तिलकने 'ओरायन' में सिद्ध किया है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ध्रुवदेशमें हुई। लेकिन ध्रुवदेशमें पृथ्वीकी प्रत्येक केन्द्र च्युतिके

समय हिमपात होता है। गणितसे सिद्ध हुआ है कि साढ़े दस सहस्र वर्ष में पृथ्वीकी एक बार केन्द्रच्युति होती है। ध्रुव देशमें मनुष्योंके जो चिन्ह पाये गये हैं, वे हिमपातके पीछेके हैं। अतएव या तो यह मानना होगा कि मनुष्य दूसरे स्थानसे पीछे वहाँ गये, या यह मानना होगा कि मनुष्यके उत्पन्न हुए दस हजार वर्ष भी नहीं हुए। नेवादा में मनुष्यके जूतेका जो तला मिला है, वह ५० लाख वर्ष पुराना बताया जा रहा है। अतः यही मानना होगा कि मनुष्य ध्रुव प्रदेशमें पीछे गया।

मैक्समूलरने अनुमानके आधारपर पहले मध्य एशियामें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति बतलायी और पीछे उन्होंने मध्य एशियाका आग्रह छोड़कर 'कहीं एशियामें' कहना प्रारम्भ किया, क्योंकि मध्य एशियाके लिए कोई प्रमाण प्राप्त नहीं था। विकासवादी जावाके समीप मानते हैं, परन्तु अब सिद्ध हो चुका है कि जावा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण भारत, अफ्रीका, अमेरिकामें बसनेवाले सब नीग्रो एक ही जातिके हैं और वे काकेसिक शाखा के हेमेटिक भागसे हैं। धीरे-धीरे उनकी काली जाति बन गयी है। कुछ विद्वानोंने पहले रूस और जर्मनीके मध्यमें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति हुई—ऐसा माना था, पर अब वहाँ खोदनेपर ऐसे प्रमाण मिले हैं कि कोई भारतीय जाति ही जाकर बसी थी। मंगोलियामें मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति माननेवाले लोग भी हैं, परन्तु मंगोलियाके प्राप्त प्रमाण भी यही बतलाते हैं कि वहाँ भी भारतीय जाति ही जाकर बसी थी।

मनुष्यकी सभ्यताका ह्रास ही हुआ है, आदिमानव पूर्ण सभ्य एवं विद्वान् था। यदि सभ्यता पहले पूर्ण विकसित थी तो उसके लिए उपर्युक्त स्थान भी चाहिए। वह स्थान ऐसा चाहिए, जहाँ प्रत्येक ऋतुएँ होती हों। क्योंकि जो मानव-जाति सब प्रकारके देशोंमें जाकर रह सकी, वह सब प्रकारके वातावरणकी पहलेसे अभ्यस्त होनी चाहिए। मनुष्यके शरीर पर जो रोमकूप हैं, वे स्पष्ट बतलाते हैं कि मनुष्य ऐसे स्थानपर उत्पन्न हुआ, जहाँ स्वेद आता है। वहाँ मनुष्यकी प्रारम्भिक भोज्य सामग्री—फल सरलातासे प्राप्त हों।

भारतीय अन्वेषकोंके अतिरिक्त टेलर साहब कहते हैं—'मनुष्यकी जन्मभूमि स्वर्गनुल्य काश्मीर ही है। विश्वमें ईरानकी पारसी जाति और भारतीय हिंदू—यही प्राचीनतम संस्कृतियोंके उपासक विद्यमान हैं। दोनों अपना मूल निवास हिमालयको मानते हैं। पारसियों, यहूदियों और

क्रिश्चियनोंके धर्माग्रन्थोंके अनुसार आदिसृष्टि ऐसे स्थानपर हुई, जहाँ दस महीने सर्दी और दो महीने गरमी पड़ती है। कहना न होगा कि यह स्थान मानसरोवरसे काश्मीरतक है। पारसियोंके धर्माग्रन्थोंसे भी हिंदूकुश पर्वतके पास मूल सृष्टि हुई। इसे वहाँ 'ईरानवेज' कहा गया है।

अथ गच्छत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।

प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

(महाभारत)

इस श्लोकके अनुसार सप्तचरुतीर्थके पास वितस्ता नदीकी शाखा देविका नदीके तटपर मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति हुई। प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है कि आदिसृष्टि भारतके उत्तराखण्ड अर्थात् ब्रह्मावर्तमें ही हुई।

आदि संस्कृति

मनुष्य आदिमें 'पूर्ण संयमी, पूर्ण सभ्य, पूर्ण सशक्त था,—यह बात कही जा चुकी है। जब मनुष्य-सृष्टि एक ही स्थानपर हुई तो उसके ज्ञान, भाषा तथा संस्कृतिका मूल भी एक ही होगा। देखना यह है कि जो संस्कृतियाँ वर्तमान हैं, उनमें कोई उस मूल संस्कृतिकी अविकृत परम्परा भी रखती है या नहीं और वह कौन-सी संस्कृति है ?

यूरोपीय विद्वानोंकी मान्यता थी कि मिस्रकी सभ्यता भारतीय सभ्यतासे प्राचीन है। लेकिन श्रीहार्मर्सवर्थने अपने विश्वके इतिहासमें लिखा है—'मिस्रकी भूमि प्रति सौ वर्षमें ५ इंचके हिसाबसे नील नदी द्वारा मिट्टी एकत्र करती है। इस मिट्टीका बड़ेसे-बड़ा स्तर २६ फीटसे ६२ फीट तक है। औसतके हिसाबसे ६००० वर्षोंमें यह इतना मोटा हो सका होगा। दस सहस्र वर्ष भी मान लें तो उससे पूर्व वहाँ मैदान ही था। जंगली मनुष्य रहते थे।

मिस्रका लिखित इतिहास वहाँके प्रथम राजवंशसे प्रारम्भ होता है जो ईसासे ५५०० वर्षपूर्व तक जाता है। इसके विपरीत चन्द्रगुप्तके समयमें उसके दरबारमें जो यूनानी राजदूत मेगस्थनीज रहता था, उसने अपने ग्रन्थमें राजपुस्तकालयसे प्राप्त एक वंशावली उद्धृत की है। इसमें १५४ राजाओंकी गणना है। उनका राज्य-काल ६,४५१ वर्ष ३ मास है। चन्द्रगुप्तको हुए २,२५० वर्ष हो चुके। अतएव ८,७०१ वर्षका तो गुप्तवंशका राज्य-विवरण ही प्राप्त है, जो मिस्रके प्रथम राजाके कालसे १२७२ वर्ष प्राचीन है। काश्मीरमें जो 'दविस्तान' नामक लेख मिले हैं, वे सिकन्दर तकके हैं जो ५६०० वर्ष प्राचीन हैं। मेगस्थनीजकी वंशावलीमें महीनेतक दिये हैं।

मिस्रके पिरामिडोंमें जो मुर्दे मिले हैं, उनमें नीलका रंग लगा है और इमलीकी लकड़ी उनके गाड़नेके काम आयी है। नील और इमली भारतको छोड़ विश्वमें और कहीं नहीं होती। अतः वह मिस्रमें भारतसे ही गयी होगी।

धार्मिक सम्प्रदायोंमें इस समय हिंदू, पारसी, यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान ही मुख्य हैं। शेष सब इन्हींकी शाखाएँ हैं। इनमें भी पारसी धर्मसे ही क्रमशः यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्म हुए हैं। बौद्ध-धर्म हिंदू-धर्मकी ही एक शाखा है और जैन-धर्मकी भाँति हिंदू-धर्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है। प्राचीन धर्मोंमें हिंदू और पारसी यही दो धर्म बच रहते हैं। पारसीधर्म वैदिक धर्मसे ही निकला है, इसमें किसी अन्वेषकको आपत्ति नहीं है। पारसियोंके धर्मग्रन्थोंमें पूर्वी हिंदू तथा पश्चिमी हिंदू नामसे भारतीय एवं पारसीक जातियोंका बार-बार वर्णन है। दोनों जातियोंको हिंदू ही कहा गया है।

१२,००० दिव्य वर्षोंका दैवी समय पारसियोंके यहाँ भी माना जाता है। यह हिंदुओंकी एक चतुर्युगीका समय है। यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के अनुसार उनके प्रथम पैगम्बर इब्राहीम हैं। इनका अधिक-से-अधिक समय ७१६० वर्ष माना जाता है। इन धर्मोंकी परम्परा इससे अधिक नहीं हैं। इन धर्मोंके अनुसार पृथ्वीकी यही आयु है। विज्ञानके अनुसार पृथ्वीकी आयु भिन्न-भिन्न बतायी गयी है। कुछ मुख्य परिणाम निम्न हैं—

१. सूर्य तापके अनुसार २०,००,००,००० वर्ष, (बीस करोड़ वर्ष)
२. भूतापके अनुसार ६०,००,००,००० वर्ष, (साठ करोड़ वर्ष)
३. समुद्रजलके अनुसार १००,००,००,००० वर्ष, (एक सौ करोड़ वर्ष)
४. रेडियम किरणोंके अनुसार ३७०,००,००,००० वर्ष। (तीन सौ सत्तर करोड़ वर्ष)

वैज्ञानिकोंके परिणाम बतलाते हैं कि अभी वे एकमत नहीं हो सके हैं। उनके अनुमान भ्रान्तिहीन नहीं हैं। विश्वकी सभी मुख्य जातियोंमें उनका संवत प्रचलित है। ये संवत जातिकी उत्पत्तिसे भले न हों, फिर भी उनकी प्राचीनताकी सूचना देते हैं। इनसे पता लगता है कि कौन-सी जाति कबसे इतनी उन्नत हुई कि जो अपना संवत रखती है। इन संवतोंमें संस्कृतियोंके इतिहासका एक क्रम है। मुख्य संवतोंको देखकर यह समझा जा सकेगा।

१. भारतीय सृष्टि-संवत—१,९७,२६,४०,०७७
२. चीनके प्रथम राजासे चीनी संवत—६,६०,०२,४७६
३. खताके प्रथम पुरुषसे खताई संवत—८,८८,४०,३७८
४. चाल्डियन संवत—२,१५,००,०४७
५. ईरानके प्रथम राजासे ईरानी संवत—१,८६,६५५
६. फिनिशियन संवत—३०,०५७
७. मिस्रका संवत—२८,७२६
८. भारतीय कलि-संवत—५,०७७
- भारतीय विक्रम संवत—२,०३३
९. मूसाके धर्म-प्रचारसे मूसाई संवत—३,५४३
१०. ईसाके जन्म-दिनसे ईसाई संवत—१,९७६
११. मुहम्मदके समयसे हिजरी संवत—१,३६५

आर्योंकी जन्मभूमि भारत

आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। वही प्राचीनतम संस्कृति है। आर्य-जातिसे ही समस्त मानव-जातिका विस्तार हुआ है। मूल आर्य-जातिका उत्पत्ति स्थान भारतसे बाहर और कहीं नहीं है। यह सब बातें ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो गयी हैं। इतनेपर भी पाश्चात्य विद्वानोंने जो यह भ्रम फैला रक्खा है कि आर्य भारतमें बाहरसे आये, उनके मतकी आलोचना कर लेनी चाहिये।

सबसे पहली बात यह कि यदि कोई जाति किसी एक देशसे दूसरे देशको जाय तो भी वह अपने मूल देशका स्मरण रखती है। उसका आदर करती है। उसे भूल भी जाय, तो कम-से-कम इतना तो स्मरण ही रहता है कि हम कहीं बाहरसे आये हैं। जो जाति जहाँसे आती है, वहाँ मूलदेशमें उसके कुछ चिन्ह मिलते हैं। उस जातिमें उस देशके रहन-सहन, वेश-भूषा-भाषाका कुछ अंश होता है। समस्त यूरोपीय जातियोंके पुराने साहित्यमें यह वर्णन है कि वे पूर्वसे आये। उनकी भाषामें संस्कृतके शब्द हैं। उनके संस्कारोंका पूर्वरूप पूर्वकी दिशाकी ओर संकेत करता है। भारतीय हिंदू-जातिके किसी ग्रन्थमें ऐसा एक भी वर्णन नहीं कि आर्य यहाँ बाहरसे आये। इस भारतभूमिके प्रति शास्त्रोंमें जो पूज्यभाव है, वह विदेशके प्रति हो नहीं सकता। प्राचीन भारतीय शब्द-शास्त्र तथा आचारमें कहीं किसी दूसरे देशकी गन्ध तक नहीं। भारतसे बाहर जहाँ भी आर्योंके चिह्न मिले हैं, वे

यही सूचित करते हैं कि वे वहाँ भारतसे पहुँचे हैं। भारतसे बाहर कहीं ऐसा कोई चिह्न नहीं मिला, जिससे ज्ञात हो कि वह भूमि आर्योंकी मूल भूमि है।

वेदोंके 'सप्तसिंधु' शब्दको लेकर पाश्चात्य विद्वानोंने खूब उछल-कूद की है। भारतकी विख्यात सात नदियोंका वर्णन अनेक बार आया है लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि नदियोंके नाम सदा गंगासे यमुना, सरस्वती, शतद्रु आदि या फिर गंगासे पूर्वकी ओरके क्रमसे आये हैं। यदि कोई जाति बाहरसे आती तो वह जिधरसे आयी होती, उधरसे नदियोंका नाम देती। यहाँ तो नदियोंके नाम प्रत्येक स्थानपर गंगासे प्रारम्भ होते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हिन्दू-जाति गंगा-यमुनाके मध्यभागसे ही पश्चिम और पूर्व दोनों ओर विस्तृत हुई।

लोकमान्य तिलकने शास्त्रोंमें देवताओंके छः महीनेका दिन और छः महीनेकी रात्रिका वर्णन पाकर उत्तरध्रुवमें आर्योंका मूल-निवास मान लिया। देवताओंके रात्रि-दिन उत्तरायण तथा दक्षिणायन हैं, यह बात उनको स्मरण होकर भी भूल गयी। बाल्मीकीय रामायणमें आया है कि 'उत्तरध्रुव अन्धकार पूर्ण है, वहाँ कोई न जाय।' दूसरे उत्तरध्रुव क्या ऐसा है कि वहाँ कोई बस सके? वहाँ प्रति साढ़े दस सहस्र वर्षपर हिमपात होता है। ऐसा स्थान मूल-निवास कैसे हो सकता है। सबसे मुख्य बात यह है कि वैदिक समयसे यज्ञमें सोमलताके व्यवहारका वर्णन है। सोम केवल हिमालयपर ही प्राप्य है। यहाँतक कि पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ बतलाते हैं कि उन्हें पारस्य देशमें सोम न मिलनेसे उनका प्रतिनिधि लेना पड़ा। सोम न उत्तरध्रुवमें मिलता, न मध्य एशियामें, न मंगोलियामें और न रूस या जर्मनीमें। वर्तमान समयमें कर्मकाण्डी विद्वान् जिस क्षुपको सोमका प्रतिनिधि मानकर काम लेते हैं, वह एक पत्रहीन हरी टहनियों का क्षुप है। वह भी मौसूर, मध्यभारत, लोकपाल (हिमालय) के पर्वतीय प्रान्तोंमें ही मिलता है। बहुत थोड़ा है और दुर्गम स्थलोंमें है।

हिन्दू-शास्त्रोंके प्राचीनतम ग्रन्थोंमें षड् ऋतुओंका वर्णन है। ये ऋतुयें भारतसे बाहर एक साथ कहीं प्राप्य नहीं हैं। जहाँ भी इतिहास-भूगोल की चर्चा है, वहाँ शास्त्रों में ओर किसी देश का वर्णन नहीं है। केवल भारत का विस्तृत वर्णन है। मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा में जो खोदने से प्रमाण मिले हैं, उनमें भारतीय सभ्यता की प्रचीनता तथा भारत ही आर्यों की मूल भूमि है यह सिद्ध हो गया है। यहाँकी वस्तुएँ यह भी प्रमाणित करती हैं कि आर्य-जाति भारतसे ही मध्य एशिया में जाकर बसी थी।

पाश्चात्य विद्वानों ने 'दस्यु' शब्द को लेकर बड़ी खींचतान की है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक समय प्रत्येक देश एवं जातिमें दो प्रकारके लोग होते हैं—सज्जन तथा दुर्जन। वैदिक साहित्य में आर्य और दस्यु इसी प्रकार व्यवहृत हुए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, दस्यु—ये विश्वामित्रकी सन्ततियाँ बतायी गयीं हैं, जो उन्हींके शापसे धर्मभ्रष्ट हो गये थे। महाभारतमें एक कुलीन ब्राह्मणके दस्युसंसर्गसे दस्यु हो जानेका वर्णन है। इसका यही तात्पर्य है कि दस्यु उस समय वर्णाश्रमधर्मसे च्युत लोगोंको कहा जाता था। शिवालिक पर्वतोंमें जो खोदनेसे प्राचीन अस्थिपंजर मिले हैं, वे भी मानव-सृष्टिकी आदिभूमि भारतको ही सिद्ध करते हैं।

विदेशियोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए यह प्रचार किया कि आर्य भी भारतमें बाहरसे आये हैं। इसमें उनका एक हेतु तो यह था कि उच्चवर्ण-के हिन्दू अपनेको विदेशी मानने लगे और भारतके प्रति उनकी गौरव-बुद्धि नष्ट हो जाय। दूसरे वे निम्नजातियोंको 'आदिवासी' बताकर उन्हें उच्च वर्गके विरुद्ध उभाड़ना चाहते थे। एक सीमातक वे सफल हुए। भारतमें निम्न कोल-भोल आदि जातियोंने अपनेको आदिवासी कहकर एक पृथक् संगठन बना लिया। राजनैतिक उद्देश्यसे ही यह मिथ्या प्रचार किया गया था। आर्योंको विदेशी सिद्ध करनेमें मि० मूर कुख्यात हैं। बहुत श्रमके पश्चात् हताश होकर उन्हें लिखना पड़ा—'जहाँतक मुझे ज्ञात है, संस्कृतकी किसी पुस्तकसे अथवा किसी प्राचीन पुस्तकके हवालेसे यह बात सिद्ध नहीं होता कि भारतवासी किसी अन्य देशसे आये।'*

जिन कोल, द्रविड़, सन्थाल जातियोंको यहांका मूलनिवासी कहा जाता है, उनकी भाषामें इस देशका नाम ही नहीं है। वे भी इसे भारत-वर्ष या आर्यावर्त कहते हैं। यदि वे मूलनिवासी हैं तो देशका नाम तो उनके पास चाहिये ही था। अब द्रविड़-विद्वानोंने खोज की है और वे कहते हैं, 'द्रविड़ पश्चिमी एशियाके समुद्रपारसे ईरवी सन्से ५०० वर्ष पूर्व यहाँ आये।' यह एक रही। जिसे मूलजाति कहा जाता है, वही विदेशसे

*That so far as I know none of the Sanskrit, not even the most ancient contains any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indians. (Mur's Sanskrit Text Book, Vol. II, P. 323.)

आयी सिद्ध हो रही है। भूगोलके विद्वानोंने पता लगाया है कि किसी समय आस्ट्रेलिया, जावा, सीलोन, अफ्रीका—ये सब एकमें मिले प्रदेश थे। यहाँ एक ही नीग्रो जातिके लोग बसते थे। आज भी यह जाति आकृति, भाषा, शरीरगठनकी दृष्टिसे एक ही है। आस्ट्रेलिया नाम आन्ध्रालम का अपभ्रंशमात्र है।

जबसे यह सिद्ध हुआ है कि द्रविड़ जाति भारतमें बाहरसे आयी है और उसका आगमनकाल बहुत न्यून है, तबसे पाश्चात्य विद्वान कहने लगे हैं कि भारतके आदिवासी कोलरियन विभागके लोग हैं। द्रविड़ जातिको वे पृथक् गिनने लगे हैं। द्रविड़ तथा कोल जातिके सम्बन्धमें बलाडवेल साहबने बहुत खोज ही है। उनके मतसे तूदा, कोटा, गोंड, क् आदि भाषायें तामिल, कनाडी, तेलगुके समान ही द्रवीड़ियन हैं और उन्हींके समान राजमहाल तथा उरावँ भाषाएँ भी हैं। उरावँ भाषा द्रविड़ तथा कोल भाषाके मध्यकी कड़ी कही जाती है। पाश्चात्य विद्वानोंके लिए यह प्रश्न जटिल है कि द्रविड़जाति जब बाहरसे आयी तो कोलजाति उसीका भाग क्यों ज्ञात होती है। वस्तुतः तो द्रविड़ तथा कोल जातियाँ आर्य-जातिसे ही उत्पन्न हुई हैं। इनकी एक शाखा* जो बाहर गयी थी, फिर भारत आयी। ये आर्योंसे भिन्न जातियाँ नहीं हैं।

‘भारतीयोंमें आर्यविजेता और मूलनिवासी जैसे कोई विभाग नहीं है। ये विभाग सर्वथा आधुनिक हैं। यहाँ तो समस्त भारतीय जातियोंमें अत्यन्त एकता है। ब्राह्मणोंसे लेकर सड़क झाड़नेवाले भंगियोंतककी आकृति और रक्त समान ही हैं, यह मत है भारतीय जातियोंके विशेषज्ञ नैसफिल्ड साहबका।

*There is no division of the people as Aryan conquerors of India and the aborigines of the country, that division is modern and that there is essential unity of the Indian races. The great majority of Brahmins are not of lighter complexion or of finer or better red features than any other caste, or distinct in race and blood from the scavengers who swept the road

(Brief View of the caste System of the North-west provinces and Oudh, p. 27)

शतपथ ब्राह्मणके १-४-३-१४ मन्त्रसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूल आर्य-जातिने उत्तराखण्डसे नीचेकी भूमिमें वनको काटकर, जलाकर रहने योग्य बनाया । वहाँ नगर बसाये । उससे पूर्व वहाँ कोई रहता नहीं था । जैसे एक अंग्रेज डाकू अंग्रेजको 'ब्लैकगार्ड' कहता है, वैसे ही दुष्ट-कर्मा पुरुष प्राचीन कालमें 'कृष्णपुरुष' काले वर्णका कहा जाता था । विदेशी विद्वानोंने तो कल्पना यहाँ तक दौड़ायी है कि मूलनिवासी अधिक सभ्य थे । उनके नगरोंको आर्योंने ध्वस्त किया । लेकिन यदि मूलनिवासी अधिक सभ्य थे तो आर्योंको जंगल जलाकर बस्ती ही क्यों बनानी पड़ी ?

सच्ची बात तो यह है कि मूल निवासी-जैसी कोई जाति तभी सम्भव है, जब मनुष्यकी उत्पत्ति दो स्थानोंपर हो । आदिमानव-सृष्टि ही उत्तरा-खण्ड हिमालय प्रान्तमें हुई । वहींसे मनुष्य-जातिका विश्वमें विस्तार हुआ । आदिमानव-समाज हिंदू-समाज ही था । विश्वमें मानव-सभ्यताके प्रसार-क्रमसे यह और भी स्पष्ट हो जायगा ।

संस्कृतियोंका प्रसार

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पहल्वाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

(मनु० १० । ४३-४४)

'ब्राह्मणोंके न मिलनेके कारण क्रियाके लोप होनेसे पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पहल्व, चीना, किरात, दरद, खश—ये क्षत्रिय-जातियाँ धीरे-धीरे शूद्रत्वको प्राप्त हो गयीं ।

हम पहले कह आये हैं कि यहूदियों और ईसाइयोंको हजरत नूहकी कथा 'मनुके जलप्लावन' की ही कथाका रूपान्तर है । ये सब पाश्चात्य जातियाँ अपनेको हेम तथा सेमकी सन्तति बतलाती हैं, जो हिरण्यगर्भ (सूर्य) तथा सोम (चन्द्र) के अपभ्रंश हैं । ये सब सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी सन्तानें हैं । सदासे क्षत्रियके लिए देश विजय करके राज्यस्थापन भारतमें आदर्श कार्य रहा है । क्षत्रियकुमार ससैन्य भारतसे बाहर गये, अनेक बार

वे यहाँसे किसी-न-किसी अपराधमें शापित या दण्डित होकर निकाले गये । जब वे दण्डित होकर निकाले गये तो उन्होंने भारतसे बाहर जो प्रदेश अनुकूल पड़ा, वहीं निवास बना लिया । उनकी सन्ततिसे धीरे-धीरे वह देश जनाकीर्ण हो गया ।

महाभारतके अनुसार महाराज सगरने अपने पिताके शत्रु, अन्यायी क्षत्रियनरेश शक, यवन, काम्बोज, पारद, पहल्व, कौलि, नाग, महिष, दार्व, चोल और केरलको पराजित करके समूल नष्ट करना चाहा, किन्तु गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे उन्हें धर्मच्युत करके देशसे निकाल दिया । महाराज ययातिने जब अपने पुत्रोंसे उनकी युवावस्था मांगी और उनमेंसे केवल सबसे छोटे पुत्र पुरुने ही देना स्वीकार किया तब पिताकी अवज्ञा करनेवाले ज्येष्ठ पुत्रोंको म्लेच्छ होनेका शाप देकर उन्होंने देशसे बाहर निकाल दिया । इसी प्रकार विश्वामित्रजीने अपने पुत्रोंसे कहा कि वे शुनः शेषको ज्येष्ठ भ्राता मान लें । जब उन्होंने अस्वीकार किया तो उनको म्लेच्छ होनेका शाप दे दिया । विश्वामित्रजीके वे पचास पुत्र म्लेच्छ हो गये । 'तुर्वसार्यवना जाताः' ययातिके पुत्र तुर्वसुसे यवन उत्पन्न हुए । 'नरिष्यन्तस्य शकाः पुत्राः' शक लोग नरिष्यन्तकी सन्तति हैं । इस प्रकार पुराणोंमें इन सब जातियोंका वर्णन है ।

इस प्रकार जो लोग यहाँसे शापित होकर निर्वासित हुए, उनके साथ कोई कुलपुरोहित ब्राह्मण नहीं गया । धर्मच्युत लोगोंको पौरोहित्य कौन स्वीकार करता । फलतः उनके संस्कार लुप्त होने लगे । भारतमें तो ऋषियोंको वेदोंका सहारा था । वेदभाष्यरूप शास्त्र-विस्तार स्मरण रह सके, ऐसा सम्भव नहीं था । एक ही मन्त्रके दो या तीन ऋषि मन्त्रद्रष्टा हुए हैं । जब भी शास्त्रका कोई अंश लुप्त हुआ, ऋषियोंने वेदमन्त्रमें मन एकाग्र करके अर्थ-दर्शन किया और शास्त्रका पुनरुद्धार किया । पुराणोंका आदिकालीन रूप लुप्त ही हो गया था । भगवान् व्यासने द्वापरके अन्तमें उनका पुनः संकलन किया । भारतीय संस्कृति ब्राह्मणोंकी पावन तपस्यासे अविकृत रही । वेदोंकी घन-जटादि पाठपद्धतियोंने ईश्वरीय ज्ञानके मूलसूत्ररूप उन मन्त्रोंको न तो विस्मृत होने दिया और न विकृत । पर जो लोग देशसे बाहर चले गये, उनके साथ ब्राह्मण नहीं थे । वे शास्त्रोंको कबतक और कैसे स्मरण रखते ? वे क्षत्रिय थे, उनका स्वभाव अध्ययन-अध्यापन नहीं था । यज्ञादि कर्म ब्राह्मणोंके बिना हो नहीं सकते थे । धीरे-धीरे शास्त्रोंका विस्मरण होने लगा । आचारके सम्बन्धमें भी शंका होने पर वहाँ कोई

शास्त्रीय आचार बतलानेवाला था नहीं। जिसे जो उचित लगा, वही नियम, वही आचार बन गया। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार आचार बदलता गया। धर्माचार लुप्त हो गया। इस प्रकार देशसे बाहर गयी ये क्षत्रिय जातियाँ आचारहीन म्लेच्छ हो गयीं।

देशसे निकाले जानेपर ये जातियाँ पहले देशके बाहर सीमान्त प्रदेशोंपर ही बसीं। वहीं इन्होंने उन्नति की, राज्य स्थापन किये। भारतीय नरेश बार-बार राजसूय, अश्वमेधके लिए दिग्विजय करने निकलते थे। बार-बार इन जातियोंको पराजित होना पड़ता था। अनेक बार शक्तिशाली होकर ये भारतपर आक्रमण करते थे। भारतीय नरेश जब इनके उत्पातसे उद्विग्न होकर इनपर भयंकर आक्रमण करते तो इन्हें कई बार अपना वह देश छोड़कर भागना पड़ता या विजयी भारतीय नृपति वहाँसे भी इन्हें निकाल देता। परस्परके युद्धमें भी इन्हें भागनेके अवसर आते। इस प्रकार अनेक कारणोंसे ये और दूरके देशोंमें जानेको विवश होते।

पृथ्वी इसी क्रमसे भारतसे निर्वासित क्षत्रियकुमारोंकी सन्ततिसे जनपूर्ण हुई है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनु०)

भारतसे बाहर जाकर भी इन जातियोंमें अपने धर्म, आचारके प्रति अनुराग तो था ही। जहाँ तक सम्भव हो सकता था, उन्होंने अपने आचारकी रक्षा की। वे बहुत कालमें धीरे-धीरे म्लेच्छ हुए। प्रायः उन्होंने अपना सम्बन्ध भारतसे बनाये रक्खा। वे यहाँ आकर, अपनेमेंसे योग्य पुरुषको भेजकर ब्राह्मणोंसे आचारकी शिक्षा ग्रहण करते रहे। महाभारत-कालतक भारतीय नरेशोंसे उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए हैं। अवश्य ही उनकी कन्याएँ ही भारतमें आयी हैं। इस प्रकार विश्वके समस्त मानव कुल पाँच सहस्र वर्ष पूर्वतक भारतीय संस्कृतिके ही अनुयायी थे। वे यहींसे अपने आचारकी प्रेरणा प्राप्त करते थे। अवश्य ही भारतीय दृष्टिसे वे संस्कारच्युत थे, पर वे सदा प्रयत्नशील रहते थे कि अधिक-से-अधिक भारतीयआचार-धारामें रहें।

भारतसे पश्चिमोत्तर वर्तमान अफगानिस्तानका कन्धार नगर पुराना गान्धार है। यहाँ तक भारतीय साम्राज्यका विस्तार चन्द्रगुप्तसे पीछेतक

रहा है, अतएव ऐतिहासिकोंको इस सम्बन्धमें कोई आपत्ति नहीं है। महाराज धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी यहींकी कन्या थीं। इनके पास ही राजा गजसिंहका बसाया गजनी नगर है। काबुल तथा सीमाप्रान्तकी पठान-जाति पुरानी क्षत्रिय-जाति ही है, यह भी निर्विवाद है। यह पठान-जाति प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के चन्द्रवंशी क्षत्रियोंकी सन्तति हैं। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) महाराज पुरुरवाकी राजधानी रह चुका है। जैसे आज भी मालवीय, कान्यकुब्ज, आदि जातियोंके नाम स्थानके अनुसार हैं, वैसे ही प्रतिष्ठानका अपभ्रंश 'पठान' नाम भी स्थानके अनुसार है। उस समय (महाभारतकालमें) इस पठानक्षेत्रमें प्रजासत्तात्मक गणराज्य थे, यह खोजसे ज्ञात हुआ है। पाण्डवोंने सात गणोंको यहाँ जीता था, ऐसा वर्णन महाभारतमें है। इन गणोंने आगे जाकर जो राज्य स्थापित किया, वह उपगण कहलाया। यह उपगण या अपगण नाम 'अफगानिस्तान' का पूर्वरूप है। 'अपगणस्थान' का यह अपभ्रंश होना कठिन नहीं है।

मनुस्मृतिके अनुसार पतित क्षत्रियजातियोंमें किरात हैं। इनमें कुछकी सन्तति तो भारतीय वन्यप्रान्तमें अबतक है। वे अब पाश्चात्य भ्रान्त प्रचारसे अपनेको 'आदिवासी' कहने लगे हैं। किरात अब भी बड़े बलवान् हैं। ये जहाँ बसे वह नगर 'किरात' कहा गया। संस्कृतमें 'र' का उच्चारण 'ल' भी होता है। 'केलात' नामसे वह नगर अब भी है। बलवान् होनेसे किरात 'ब्लोच्च' कहलाये और पीछे यह शब्द 'बलोच' बलूची आदि हो गया। 'बलोच्च स्थान' हो गया 'बलोचिस्तान'। आज भी केलात नगर वहीं है।

भारतमें बसनेवाली पारसी जाति पारस्य देशसे आयी है। यह जाति भारतसे वहाँ गयी थी, इसका प्रमाण तो यही है कि इस जातिने भारतीय नाम ही वहाँ नदियों, नगरों तथा देशका रक्खा। 'सरस्वती' के स्थानमें 'हरहवती,' 'सरयू' के स्थानमें 'हरयू,' 'भरत' का 'फरत' करके 'यूफरत' 'भूपालन्' का 'बेबलिन,' 'काशी' का 'कास्सी' और आर्यन् का ईरान कर लिया। फारसीमें 'स' का उच्चारण 'ह' होता है, यह प्रसिद्ध बात है। पहले ही उद्धृत कर चुके हैं कि पारसीक धर्मग्रन्थोंमें उन्होंने अपनेको स्पष्ट पश्चिमी हिंदू तथा भारतीयोंको पूर्वी हिंदू लिखा है।

'अर्वन्' घोड़ेका संस्कृत नाम है। संस्कृतमें 'आरव्य' नाम घोड़ोंके देशके अर्थमें आया है। इसमें तो कोई विवाद ही नहीं कि अरबके घोड़े श्रेष्ठ होते हैं और भारत सदासे घोड़े वहीँके क्रय करता रहा है।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणसे उत्पन्न प्रतिलोम व्रात्य (म्लेच्छ) जातियोंका वर्णन करते हुए कहा गया है—

व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।

आवर्त्यवाटघानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥

यह 'शरूख' या 'शेष' जाति अब भी अरब देशमें ब्राह्मणोंके समान ही सम्मान पाती है। अरबमें अब भी एक हिंदू-जाति रहती है। इन लोगोंमें अबतक बहुत-से आचार हिंदुओं-जैसे हैं। इनके स्थानको 'काफिरस्तान' कहा जाता है। बगदाद, बसरा, मेसोपोटामियामें हिंदुओंके प्राचीन चिह्न अब भी पाये जाते हैं। कुरानको देखनेसे पता लगता है कि हजरत मुहम्मद साहबके पूर्व वहाँ मूर्तिपूजाका खूब प्रचार था। काबाशरीफका आकार ठीक-ठीक शिवलिंगका है। 'शुबरात' के सम्बन्धकी मुसलमानोंकी धारणा बतलाती है कि वह शिवरात्रिका ही एक रूप है। ईदके चन्द्रमाका जो इस्लाममें महत्त्व है, वह हिंदुओंके शुक्लपक्षकी द्वितीयाके चन्द्रमाकी महत्ताका रूपान्तरमात्र है। रोजा पर ध्यान दें तो पता लगेगा कि यह चान्द्रायण-व्रतका सरल संस्करण है।

अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखा ही पारसीधर्मकी मूल है—यह वैदिक साहित्यके अन्वेषक मानते हैं। गोपथब्राह्मणके १.१९ मन्त्रके अनुसार 'शन्नो देवी' इस मन्त्रसे अथर्ववेद पढ़ना चाहिए। यही बात पारसीक धर्मग्रन्थ 'होमयस्त' के १. २४ में कही गयी है। इसी पारसीधर्मकी परम्परामें यहूदी, ईसाई और इस्लाम-धर्म है। अतएव सांस्कृतिक चिह्न किसी-न-किसी रूपमें इन धर्मोंमें आये ही हैं।

भारतमें मद्रासमें पाण्ड्य तथा चोल प्रदेश हैं। इन प्रदेशोंमें पहले भारतीय व्यापारी रहते थे और समुद्रमार्गसे दूर-दूरतक व्यापार करते थे। इन वैश्योंमें लोग बहुत लोभी थे, वे जब लोभके कारण जातिबहिष्कृत हुए, तब उन्होंने भूमध्यसागरके किनारे जाकर अपने देश बसा लिए। पाण्ड्यके वणिक् या पणिक् लोगोंका देश फिनिशिया कहलाया और चोलवालोंका चाल्डिया। बेविलोनियावालोंके वायुदेवताका नाम आज भी 'मर्तु' है और यह 'मरुत्'का ही अपभ्रंश है। संस्कृतका वजनके अर्थमें 'मना' शब्द फिनीशियामें 'मनह' कहलाता है। इसी प्रकार संस्कृतका 'क्रमेलक' (ऊँट) भी अंग्रेजीमें 'केमल' और फारसीमें 'जिमल' हो गया। ऊँट अरबका प्राणी है या अफ्रिकाका, परन्तु उसका आदिनाम भारतीय होना यही सूचित करता है

कि इस प्राणीको जिन मनुष्योंने पहले पाया, वे भारतीय ही थे। भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत और चाल्डियनके बहुत शब्द मिलते हैं, पर यह भाषा-विवेचनका विषय होगा।

यहूदियों का मूल देश जुडिया है। बाइबिलमें लिखा है कि पश्चिममें आनेवालोंकी भाषा एक ही थी और वे सब पूर्वसे आये थे। पोकाकसाहब अपने 'इंडिया इन ग्रीस' में कहते हैं, 'युडाजाति भारतकी यदुवंशी क्षत्रिय जाति ही है*।' यहूदियोंका 'यहोवा' शब्द संस्कृतके 'यह्व' शब्दसे ही बना है। मेदिनीकोषके अनुसार 'जू' शब्दका एक अर्थ यवन है। यहूदी अपनेको 'जू' ही कहते हैं। महाराज सगरकी आज्ञासे यवनोंने जो पल्ली (नगर) बसाया, यही पल्लीस्थान कालान्तरमें पेलेस्टाइन—फिलस्तीन कहलाने लगा। ए० बेरीडेल कीथ साहबका कहना है—** "विशेष ध्यान देने योग्य शब्द 'सूरिआस' है। यह सूर्यके अर्थमें बोला जाता है।" 'सूर्याः' का विसर्ग 'स' होकर इस रूपमें आया है। बेविलोनियाके पुराने शब्दकोषमें 'सिधु' नामक पतले मलमलका नाम है। इस देशकी भाषामें 'सिधु' शब्दका कोई अर्थ नहीं होता। यही 'सिधु' बाइबिलमें 'सेडिन' ग्रीकमें 'सिडम' और अंग्रेजीमें 'साटिन्' हो गया है।

असीरियाके प्राचीन राजाओंके नाम सुवरदत्त, जशदत्त, सुवन्धि आदि बतलाते हैं कि उनका सम्बन्ध भारतसे था। भारतीय इन्हें असुर कहते थे और ये भी अपने नामके साथ 'असुर' लगाते थे। मेसोपोटामियामें एक प्राचीन राजाका नाम 'दसरथ' था। उसकी बहिन मिस्त्रमें व्याही गयी थी। मितानियोंके दूसरे राजाका नाम 'हरि' था। मेसोपोटामियामें जो प्राचीन खण्डहरोसे खोदनेपर ईंटे निकली हैं, इन ईंटोंमें 'मिताई' तथा 'हिदाई' राजाओंका सन्धिपत्र है। उसमें मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि देवताओंके नाम हैं। इस प्रकार एशिया माइनरके सभी देश प्राचीन

* The tribe of Yudah is, in fact, the very Yadu of which considerable notice has been taken in my previous remarks (India in Greece, P. 22.)

** More noteworthy is Surias, since it is explained as meaning the Sun (Dr. Bhandarker Commemoration Essay, (The Early History of Indo-Iranians by A. Berriedale Keith.))

निर्वासित हिंदूओंकी ही वस्तियाँ हैं। यूरोपवासो मानते हैं कि वे इन्हीं देशोंसे गये हैं, अतः उनके सम्बन्धमें विस्तार करना आवश्यक नहीं है।

यूरोपके लोगोंने इधर प्रबल प्रचार किया है कि वे आर्य हैं। इसी धारणापर आर्योंकी उत्पत्ति रूस तथा जर्मनीके मध्य भागमें बतानेका साहस भी कर लिया गया। क्योंकि एक ही मानव-जाति समस्त विश्वमें फैली, अतः सभी आर्य हैं—इसमें तो कोई बाधा नहीं, परन्तु जब आर्य-अनार्य जातिका भेद किया जाता है, तब आर्य-जातिका अर्थ होता है सीधे मूल आर्यजातिकी परम्परामें और अनार्य जातिका अर्थ होता है आर्यजातिकी दो या अधिक शाखाओंके मेलसे उत्पन्न सङ्कर जाति। यूरोपके लोग इस परिभाषाके अनुसार 'आर्य' सिद्ध नहीं होते। वहाँ जो प्राचीन मानव-अस्थिपंजर मिले हैं, वे स्पष्ट ही वर्तमान निवासियोंसे भिन्न हैं। यूरोपके विद्वान् मानते हैं कि यूरोपमें पहले जो जाति आयी, वह जंगली प्राय थी। उसके सिर बहुत बड़े थे। उन दीर्घाकार लोगोंको पीछे आए कुछ नाटे और छोटे कदके लोगोंने पराजित कर दिया। इन विजेताओं और पराजितोंके मिश्रणसे ही वहाँकी वर्तमान जातियाँ बनीं हैं।

एशिया माइनरके लोग आगे जाकर यूरोपमें बस गये। हम पहले बता आए हैं कि एशिया माइनरमें भारतीय बसे थे। यूरोपमें मंगोलियासे दूसरी जाति पीछे आयी। उनके द्वारा पहले लोग पराजित हुए। क्योंकि चीन बहुत दिनोंतक भारतके सम्पर्कमें था, अतः एशिया माइनरवालोंकी अपेक्षा यह मंगोल जाति अधिक सभ्य थी। इसी मंगोल जातिने यूरोपके पहले निवासियोंको पराजित किया। हार्मर्सवर्थने अपने विश्वके इतिहासमें स्वीकार किया है कि स्वेजके पास पहले मंगोलियन जाति भी रहती थी। यही जाति यूरोपकी केल्ट जानिकी जन्मदात्री है। अफ्रिकाकी जूलू जाति एशिया माइनरमें पहुँची। मंगोल जाति पीली थी और जूलू काले। इन्हींके मेलसे यूरोपकी वर्तमान श्वेत जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। इनका प्रारम्भिक निवास आर्मेनिया (आर्यमणि) था, जहाँसे ये यूरोपमें फैले। जिस शुद्ध आर्यजातिसे यूरोपके लोगोंने 'शतम्' भाषा सीखी। वह अब भी यूरोपमें है। यह वहाँ पीछे गयी। रूसी और जर्मन भाषाएँ उस जातिकी भाषासे बनी हैं। यूरोपमें वह जाति 'जिप्सी' कहलाती है और वर्तमान हिन्दीसे मिलती हुई भाषा बोलती है। यूरोपके विद्वानोंने पहले सिद्ध करना चाहा था कि यह जाति भारतसे ईसके बाद वहाँ गयी, परन्तु अब सिद्ध हो गया है कि

ये लोग ईसासे बहुत पूर्वसे वहाँ रहते हैं। ये भारतीय ज्योतिषियोंके समान फलित बतलाते हैं और घूमते रहते हैं। इसी जातिने यूरोपमें लोहेको ढालनेकी विद्या फैलायी।

उत्तरी देशोंको देखें तो नेपालमें जितने ब्राह्मण बसते हैं, सब प्रायः कान्यकुब्ज हैं और जितने क्षत्रिय हैं, सब सूर्यवंशी हैं। यहाँ एक तीसरी भाषा मंगोलियन है। खोजसे ज्ञात हुआ कि नेपालके उत्तर-पश्चिम किरातलोग बसते थे। ये किरात बलोचिस्तानके किरात तथा वर्तमान भारतीय किरातोंकी शाखामें-से ही थे। धर्मच्युत क्षत्रिय जातियोंमें जैसे किरात हैं, वैसे ही चीनी भी। मनुस्मृतिमें दोनोंके नाम हैं। इन्हीं दोनोंके मेलसे मंगोलियन जाति उत्पन्न हुई। रूसी तुर्किस्तानमें अलताई पर्वतपर आर्य-संस्कृतिके भग्नावशेष मिले हैं। सीधिया देश भारतसे निर्वासित शकोंने बसाया था। यह कहा जा चुका है कि शक राजा नरिष्यन्तके पुत्र थे। महाराज सगरने इनको धर्ममुण्डित, तीन शिखाओंवाला बना दिया। चीनमें तीन चोटियाँ रखनेकी प्रथा अबतक है।

चीन देशके सम्बन्धमें टाड साहबने अपने इतिहासमें लिखा है— 'भोगल, तातार और चीनी लोग अपनेको चन्द्रवंशी बतलाते हैं। इनमें तातारलोग अपनेको 'अय' का वंशज कहते हैं। 'अय' पुरुरवाके पुत्र हैं। इन्हींके वंशमें यदुके पौत्र 'ह्य' हुए। चीनीलोग इन्हींको 'ह्यू' कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं। चीनी विद्वान् यागंत्साईके एक ग्रन्थका पादरी क्लर्कने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है अत्यन्त प्राचीन कालमें भारतके मो, लो, ची, राज्यका आह, यू, नामक राजकुमार यून्नन प्रान्तमें आया। इसके पुत्रका नाम ती मोगंगे था।* इसके नौ पुत्र हुए। इन्हींकी सन्तानोंसे चीनी वंशकी वृद्धि हुई। चीनवाले अपने मूल पुरुष 'ह्यू' की उत्पत्तिके सम्बन्धमें कहते हैं कि ह्यूकी माताका सम्बन्ध एक तारेसे हो गया, इसीसे ह्यूकी उत्पत्ति हुई। यह कथा बुध तथा इलाकी कथाका रूपान्तरमात्र है।

जापानमें जो जाति है, वह चीनसे वहाँ जाकर बसी है। जैसे चीनमें पैतीसी और ओव नदियोंके किनारेकी जातियाँ भारतीय संस्कृत भाषासे मिलती-जुलती भाषा बोलती हैं, वैसे ही जापानमें भी 'एन्यू' जाति है, जो

* स्मरण रहना चाहिए कि चीनमें नामोंका अनुवाद कर लेनेकी परम्परा अब तक है।

मूल जातिका अवशेष है। कुछ लोग जापानी जातिको काकेशस विभागमें रखते हैं। दोनों दशामें यह जाति आर्य-जाति है। वर्मा, मलाया, हिंदचीन, स्याम (थाईलैंड) और पूर्वी द्वीपसमूहके सम्बन्धमें विस्तार करना व्यर्थ है। वहाँ तो नदियों, नगरों, व्यक्तियोंके नाम संस्कृतके ही हैं। बालि-द्वीपमें तो हिंदू-धर्म अपने एक रूपमें अवतक विद्यमान है।

दक्षिणी भारतकी द्रविड़ और कोल जातियोंके सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। उन्हें आदिवासी सिद्ध करनेका प्रयत्न व्यर्थ है। उनकी भाषामें इस देशका कोई नाम नहीं। चन्दन और कपूर ये दोनों दक्षिणमें ही होते हैं पर दक्षिणी जातियोंमें इनके नाम भी यही हैं। यदि ये जातियाँ आर्योंसे भिन्न होतीं और यहाँकी आदिवासी होतीं तो इनके यहाँकी इन वस्तुओंके इनकी भाषामें कुछ नाम होते। कम-से-कम ये तो अपने पदार्थके लिए संस्कृतके नाम न अपनाते। पहले जिन धर्मच्युत जातियोंका मनुस्मृति तथा महाभारतके अनुसार वर्णन कर आए हैं, उन्हींमें आन्ध्र तथा द्रविड़ हैं। इन्हीं जातियोंके लोग दक्षिणमें रहते हैं। क्षत्रियोंमें अब भी एक 'सिंहला' जाति है। इसीके निवाससे 'सिंहल' द्वीपका नामकरण हुआ, जो अब सीलोन कहलाने लगा है।

यूरोप और एशियाके पश्चात् अफ्रिकाका क्रम आता है। यहाँ मिस्रकेश अत्यन्त प्राचीन है। यहाँ सूर्य-मन्दिर मिले हैं और पिरामिडोंमें जो लाशें मिली हैं, उनमें नील लगी है और इमलीकी लकड़ी काममें आयी है। ये दोनों वस्तुएँ भारतमें ही होती हैं। 'हिस्टारिकल हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड' में लिखा है, 'इजिप्टवासी पणिकोंकी शाखा हैं। ये लोग परसियन गल्फ होते लाल समुद्रके दक्षिणमें पान्त नामक देशसे गये।* यह 'पान्त' देश 'पाण्ड्य' है। प्राचीन खोपड़ियोंके मिलानसे भी मिस्रवासी भारतीय ही ज्ञात होते हैं, ऐसा वैज्ञानिकोंका मत है। मिस्रदेशके वहाँकी भाषामें तीन नाम हैं—कमित्, हपि, मिस्र। इनमें कमित्, कुमृत् (काली मिट्टी) का अपभ्रंश

* It seems probable that they came up from the land of Pant, at the south of red sea, and they may have been branch of the Punic race in ist migrations from the Persian Gulf round by sea to the Mediterranean. (Historical History of the world, Vol, p. 89).

है। यहाँके वजनसम्बन्धी नाम भारतीय हैं। स्थानोंके नाम शिव और मेरु हैं। पोंकाक साहबका कहना है—‘मिस्रनिवासी अपनेको सूर्यवंशी कहते हैं। सूर्यकी पूजा करते हैं और मनुको अपना मूल पुरुष मानते हैं।* उनके पुराने ग्रन्थोंसे पता लगता है कि वे पुनर्जन्म-सिद्धान्त मानते थे।

पद्मपुराणमें महर्षि अत्रिके पुत्ररूपमें दत्तात्रेयके जन्मकी कथा है। मिस्रके दैवी इतिहासमें यह कथा ज्यों-की-त्यों है। मिस्र देशमें ‘टाय’ की उत्पत्ति ठीक दत्तात्रेयकी उत्पत्ति-कथा है। मिस्रके पेकिन नगरमें ‘महाकालम्यौ’ नामक एक मन्दिर है। वहाँ महाकालकी मूर्ति है। मन्दिरके एक भागमें मच्छोदरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) की एक मूर्ति है। दूसरे भागमें दत्तात्रेयका पादचिन्ह है।

व्रात्य क्षत्रियोंकी एक जाति झल्ल शास्त्रोंमें वर्णित है। यही जाति अफ्रिकामें जाकर ‘जुलू’ हो गयी। ऐतरेय ब्राह्मणमें राजा भरतने पष्णार देशमें बड़े-बड़े हाथी दान किये, ऐसा वर्णन है। उसमें बहुतसे सुवर्ण दानका भी वर्णन है। अफ्रिकाके दक्षिणी रोडेशियामें ‘मष्णा’ एक स्थान है। यह नाम वहाँकी भाषाकी निश्चय नहीं है। वहाँ पहले बहुत सोना होता था। हाथियोंकी बहुलता थी। वहाँके खण्डहर बतलाते हैं कि वहाँ एक प्राचीन सभ्य जाति रह चुकी है। अवश्य ही इस प्राचीन जातिके पश्चात् ही वहाँ ‘झल्ल’ पहुँचे। आज इनकी ही ‘जुलू’ जाति अफ्रिकामें है।

‘आस्ट्रेलिया’ यह नाम आन्ध्रालयका अपभ्रंशमात्र है। आस्ट्रेलियाके मूलवासियोंकी भाषा भारतीय द्रविड़ों तथा कोलोंसे मिलती है। इन लोगोंमें हिन्दुओंकी भाँति जातिभेद है। ये दूसरी जातिके हाथका छुआ नहीं खाते। ये लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त जातियोंके अन्वेषकोंने सभी देशोंके मूलपुरुषोंके जो कल्पना-चित्र खोजके आधारपर प्रस्तुत किये हैं, उनमें सबके पास घनुष-वाण हैं। यह भारतीय शस्त्र विश्वकी प्रत्येक मूल जातिके पास मिलता है।

* The reader will not readily forget the renowned City of the Sun, Helispolis, nor ‘Menes the first Egyptian king of the race of the Sun, the Manu Vaivaswata or patriarch of the Solar race, nor his statue that of the Solar race, nor his statue that of the great Menoo, whose Voice was said to salute the rising sun, (India in Greece, P. 178)

कहा जाता है कि कोलम्बसने अमेरिकाका पता लगाया और वहाँका नाम पहले 'इण्डिया' रख दिया। अंग्रेजीमें नीलको इंडिगो कहते हैं। नील केवल भारतमें होता है। यहीसे सर्वत्र जाता था। अतएव लोग इसे 'इंडिया' (नीलका देश) कहने लगे। कोलम्बस निकला था भारतकी खोज करने। अवश्य ही उसने भारतके लोगोंको आचार-विचार, आकृति आदिके सम्बन्धमें यात्रा करनेसे पूर्व कुछ जाननेका प्रयत्न किया होगा। वह जो कुछ भारतके सम्बन्धमें जानता था, अमेरिकामें उसका सादृश्य पाकर ही उसे भ्रम हुआ। अकारण वह अमेरिकाका नाम 'इंडिया' रख कैसे सकता था।

कहा जाता है कि प्राचीन अमेरिकावासी 'नागपूजक' थे। उनके यहाँ पंखधारी सर्पकी मूर्तियाँ अबतक हैं। अमेरिकामें इन्द्र और गणेशजीकी पूजा भी होती है। गणेशजीकी आकृति वे भारतकी भाँति सिर हाथीका और धड़ मनुष्यका बनाते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि अमेरिकामें हाथी नहीं होते। वहाँके मूल निवासी यदि बाहरसे न गये हों तो हाथीकी कल्पना उनके लिये शक्य नहीं। उनका रूप-रंग नेपालके लोगोंसे मिलता कुछ लाल वणके मङ्गोलियनों जैसा है। वहाँ मिस्रकी भाँति पिरामिड और सूर्य-मन्दिर मिले हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि अमेरिका और मिस्रकी सूर्य-मूर्तियाँ भारतकी एलोरा गुफाकी सूर्यमूर्तिके समान ही हैं। अमेरिकाके मूल निवासी भी सूर्यपूजा करते हैं और एक उत्सव मानते हैं, जिसका नाम 'राम-सीता' है। यहाँ भी वैवस्वतमनुके अलप्लावनकी कथा प्रचलित है और ये लोग भी अपनेको सूर्यवंशी मानते हैं। भारतमें नागपूजा, बंगालियोंमें 'नाग' उपाधि और आसामकी नागा जाति, इनकी नागपूजाका मूल भी बतलाती है।

संस्कृति-भेदके कारण

एक ही मानव-जातिसे विश्वकी समस्त जातियोंका विस्तार हुआ। एक ही हिन्दू-संस्कृतिके समस्त संस्कृतियोंकी उत्पत्ति हुई। इतनेपर भी मनुष्योंमें बहुत अन्तर है। संस्कृतियोंमें बहुत अन्तर है। यह अन्तर देश, काल तथा आचार भेदसे हुआ है। ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि आन्ध्रदेशकी एक जाति मिस्र गयी और दूसरी आस्ट्रेलिया। इनमें मिस्रकी जाति गोरी है और आस्ट्रेलियाकी काली। इसी प्रकार किरात जाति बलोचिस्तान,

भारतके जंगलों और चीनकी ओर गयी। क्रमसे गोरी, काली और पीली जातिके रूपमें यह उपलब्ध है। रङ्गोंका यह अन्तर देशकी जल-वायुके कारण हुआ है। एक पंजाबी तथा एक बंगाली ब्राह्मणको सम्मुख रखकर देखिये। दोनोंके आकार, आचार, भाषा, वेश, खान-पान सबका अन्तर स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि दोनों गौड़ ब्राह्मण होंगे। दोनोंकी एक जाति, एक मूलपुरुष और एक ही धर्म-ग्रन्थ हैं। अमेरिकामें गयी अंग्रेज जाति ही है। कुल ४०० वर्ष ही उसे वहाँ गये हुए हैं। पर इतने अल्पकालमें ही अमेरिकनोकी आकृति अंग्रेजोंको अपेक्षा रेड-इन्डियनोसे अधिक मिलती हो गयी है।

भारतसे बाहर प्रायः क्षत्रिय जातियाँ ही गयीं। थोड़ी-सी वैश्य जातियाँ गयीं। ये दोनों जातियाँ स्वभावसे उद्योगी थीं। क्षत्रिय जातियोंने ही यहाँसे निर्वासित होनेपर जंगल काटे और बाहर बस गयीं। वणिक् जाति वहीं बसी, जहाँ उसे समुद्रीय रत्नों या खनिज द्रव्योंका प्रलोभन ले गया। ब्राह्मण भारतसे बाहर नहीं गये। अवश्य ही क्षत्रियों और वैश्योंके साथ उनके सेवक शूद्र भी गये होंगे। नवीन देशमें नवीन परिस्थितिमें ऐसी जातियोंको बहुत कुछ आचार-परिवर्तन आवश्यकतावश करना पड़ा। समाजसे पृथक् होनेपर समाज-बन्धन न होनेसे कुछ प्रमाद आचार बन्ध गये। ब्राह्मणोंके न होनेसे क्रियाका—संस्कारका लोप हो गया। प्रकृतिने आकारमें परिवर्तन किया और इन बातोंने आचारमें। इस प्रकार ये जातियाँ भारतसे सर्वथा भिन्न हो गयीं। उनकी विकृतियोंने स्वतन्त्र संस्कृतियोंका रूप धारण कर लिया।

संस्कृतियोंके भेदके सम्बन्धमें केवल एक ही बात विचारणीय है। मिस्र, अमेरिका, आस्ट्रेलियाके मूल निवासियोंको छोड़ दें तो प्रायः विश्वकी दूसरी सब जातियाँ पुर्नजन्म में विश्वास नहीं करतीं। वे अपने मुर्दोंको जलाती नहीं। उनमें यह विश्वास है कि जीवात्मा प्रलयतक कब्रमें रहता है। इन विश्वासोंका हिन्दू-संस्कृतिसे कोई मेल नहीं है। ऐसा क्यों ?

हम अभी बता आये हैं कि आर्यजाति कई विदेशी जातियोंको 'असुर' कहते थे और असीरियाके प्राचीन राजाओंके नामोंके साथ असुर उपाधि लगी मिलती है। सभी पाश्चात्य-धर्म पारसी-धर्मकी परम्परामें हैं और

पारसी-धर्ममें असुर शब्द श्रेष्ठतासूचक है। वेदोंमें देव तथा असुर दोनों नाम परमात्माके लिए आये हैं। पुराने समयमें भारतमें दो वर्ग थे—एक तो देवताओंके उपासक, देवताओंकी सन्ततिपरम्परामें। और दूसरे उसी सन्तति-परम्परामें होकर भी असुरोंको आदर्श माननेवाले। देव और असुर दोनों महर्षि कश्यपके पुत्र हैं। एक उनकी पत्नी अदितिके और दूसरी दितिके। अब असुरोंको आदर्श माननेवाले लोग धर्मच्युत होकर भारतसे निर्वासित हुए, तब उन्होंने 'देव' शब्दको तिरस्कृत किया। अरबी, फारसी, अंग्रेजीमें सब कहीं 'राक्षस' के अर्थमें ही 'देव' का वर्णन होता है। इसी प्रकार भारतमें 'असुर' तिरस्कृत शब्द हो गया।

छान्दोग्य उपनिषद्में आया है कि 'असुरोंका यही धर्म है। वे अपने शवको अलङ्कारोंसे सजाते हैं। वे समझते हैं, ऐसा करनेसे परलोक मिल जायगा।' उपनिषदोंमें इन्द्र तथा विरोचनकी कथा है। दोनों ज्ञानप्राप्तिके लिए स्रष्टाके पास गये। ब्रह्माजीने दोनोंको अलंकृत होकर अपना प्रतिबिम्ब जलमें देखनेको कहा और बताया कि जो जलमें दीखता है, वही आत्मा है। विरोचन इससे सन्तुष्ट होकर लौट आया। इन्द्रने बार-बार मनन किया और बार-बार लौटकर प्रश्न किया। अन्तमें आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। विरोचनने लौटकर असुरोंमें देहात्मवादका प्रचार किया। शरीर ही आत्मा है। उसकी सेवा, उसे सजाना ही धर्म है। मरनेपर शरीरको सुरक्षित, सुसज्जित रखना चाहिये। आत्मा उसीमें प्रलयतक रहता है। प्रलयके समय उसे पृथ्वीकर्ता उठायेगे। तभी उसके कर्मोंका निर्णय होगा। इन्हीं सिद्धान्तोंको लेकर मिश्रमें पिगमिड बने और शरीर सुरक्षित किये गये। भारतसे जो लोग बाहर गये, वे स्वेच्छासे नहीं गये। उन्हें जाना पड़ा और उसका कारण उनका धर्मके प्रति प्रमाद था। धर्मके प्रति प्रमाद शरीरके प्रति आकर्षणसे होता है। वे देहात्मवादके संस्कार यहाँसे लेकर गये। जो भी हों, भारतमें, ही पहले असुर देहात्मवादी थे और शरीर निष्ठा भी भारतसे बाहर गयी, यह तो इससे सिद्ध ही है।

यह बात सत्य नहीं है कि विश्वमें आदिकालसे शवोंको गाड़नेकी प्रथा है। इस प्रथाका प्रसार पारसीधर्म तथा इसकी शाखा यहूदी, ईसाई धर्मोंके कारण हुआ है। 'बोगेज कुई' के शिलालेखोंसे पता लगता है कि रोमनलोग अग्निहोत्र करते थे। वे भोजनके पूर्व अग्निमें अन्न डालकर यज्ञवेदीको प्रणाम करते थे। वहाँ शव-दाह तथा श्राद्ध भी होता था।

विदेशियोंका भारतीय जातियोंमें मिश्रण

आज कहा जाता है कि भारतमें शक, हूण प्रभृति जातियाँ बाहरसे आयीं और यहीँके लोगोंमें मिल गयीं। यह बात इतिहास-सिद्ध है। महाराज पाण्डुकी छोटी रानीका नाम मग्दी था। ये मद्रदेशकी थीं। मद्रराज शल्यसे उनके देशके आचारकी जो निन्दा वर्णन की, वह देखनेसे पता लगता है कि यह जाति भारतीय आर्य परम्परासे दूर हो चुकी थी। इसी प्रकारकी मग जाति है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी हैं। वर्तमान अयोध्या नरेश शाकद्वीपी थे। वे अपनेको मग कहते हैं। नवीन इतिहासकार इन्हींको सीथियन कहते हैं। हूण तो तातारी हैं ही। रीवाँ राज्यमें एक ताम्रपत्र मिला, जिससे पता लगा है कि कञ्चुरी राजा कर्णने हूणोंको परास्त करके उनकी कन्यासे विवाह किया। खत्रियोंमें अब भी 'हूण' उपाधि है। चन्द्रगुप्तने सिल्यूकसकी लड़कीसे और उदयपुरके राजा गौहका विवाह प्रसिद्ध ईरानीनरेश नौशेरवाँकी पौत्रीसे हुआ था। भविष्यपुराणके अनुसार कण्व ऋषि मिस्र गये थे और वहाँसे दश सहस्र निवासी यहाँ ले आये। वे सब शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय बनाए गये।

इस प्रकारके और भी प्रमाण पाये जा सकते हैं, परन्तु जो लोग इन प्रमाणोंके अनुसार आर्योंद्वारा विजातीयकी शुद्धि सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, वे भ्रममें पड़ते हैं। उस समय विश्वमें कोई दूसरा धर्म था ही नहीं। इसलिए विधर्मीको शुद्ध करनेका प्रश्न ही नहीं था। शक, हूण, मिस्री, यवन आदि सब हिन्दू ही थे। वे जातिच्युत तथा संस्कारहीन हो गये थे। जैसे आज सिन्धी और पंजाबी हिन्दू भारतके दूसरे प्रान्तोंमें आये हैं। वे हैं, हिन्दू ही, यद्यपि उनके आचारमें बहुत अन्तर हो गया है। काल पाकर वे जिन प्रान्तोंमें हैं, उनके समाजमें मिल जायेंगे। ऐसे ही विदेशी हिन्दू-जातियाँ सदा हिन्दू-आचारके ग्रहणका प्रयत्न करती रही थीं। वे जब भारतमें आयीं, तब यहाँके आचार सरलतासे उन्होंने ग्रहण कर लिये। यहाँ ब्राह्मणोंके मिलनेसे वे पुनः स्वधर्ममें प्रतिष्ठित हो गयीं। इस प्रकार पुरानी शुद्धिके उदाहरण जातिच्युतको जातिमें स्वीकार करनेमात्रतक सीमित हैं।

हिन्दू-संस्कृतिपर आघात

हम बता आये हैं कि ऋषियोंने वेदोंकी अनेक पाठ-पद्धतियोंके द्वारा उन्हें अविकृत रूपमें स्थिर रक्खा। वेदार्थरूप बार-बार पुनरुद्धार हुआ

और मन्त्रदर्शनकी परम्परा भी चलती रही। इस प्रकार हिन्दू-संस्कृति अबतक अविकृत मूल संस्कृतिके रूपमें विद्यमान है। यही समस्त संस्कृतियोंकी जननी है।

अबतक हिन्दू-संस्कृतिपर अनेक आघात हुए हैं। ये आघात दो प्रकारके थे। एक बलप्रयोग और दूसरा चतुरतापूर्वक मिलकर हिन्दुओंको भ्रममें डालनेके प्रयत्न। दोनों प्रकारके आघात आदिकालसे अबतक होते रहे हैं। असुरोंने अनेक बार भारतपर आक्रमण किया प्रसार और उस समय आसुर मतके लोगोंद्वारा चार्वाक-दर्शन-जैसे मतोंका करनेका प्रयत्न किया गया, यह प्रारम्भिक आघात थे। विधर्मशासनके समयमें साहित्यका प्रचुर विनाश हुआ। कश्मीरमें ग्रन्थोंसे नदी पाटकर पुल बनाया गया। नालन्दाका पुस्तकालय एक महीनेतक जलता रहा, अनेक स्थानोंपर ग्रन्थोंसे स्नानके लिए पानी गरम किया जाता रहा। ग्रन्थ-नाशके साथ अनेक प्रकारके जो अत्याचार विदेशी आक्रामकोंने किये, वे इतिहासमें वर्णित हैं। तलवारके बलपर हिन्दुओंको विधर्मी बनाया गया। दूसरी ओर सूफियोंने अपने चमत्कारसे लोगोंको प्रभावित करना प्रारम्भ किया। इनके प्रयत्नसे हिन्दूघरोंमें पाँचों पीर पूजे जाने लगे। महिलाएँ ताजिया और कब्रें पूजने लगीं।

मुस्लिम आक्रान्ताओंके पश्चात् अंग्रेज आये। आरम्भमें ईसाई बनानेके लिए बलप्रयोग भरपूर काममें लिया गया। गोआमें पुर्तगालियोंके अत्याचारकी कहानियाँ अबतक प्रख्यात हैं। ईसाइयोंने बलप्रयोगका मार्ग शीघ्र छोड़ दिया और उन्होंने दूसरा मार्ग लिया। सरकारने ईसाइयोंके रेलवे आदि भागोंमें विशेष सुविधा देना प्रारम्भ किया। आर्थिक प्रलोभन उपस्थित किया गया। चिकित्सा और शिक्षाके नामपर पिछड़ी जातियोंको बराबर ईसाई बनाया जा रहा है। यह प्रयत्न अबतक चल रहा है। सबसे घातक आक्रमण था अंग्रेजोंका हमारी शिक्षापद्धति बदल देना। हमें ऐसी शिक्षा दी गयी, जिसमें हमें अपनी संस्कृतिसे घृणा हो जाय! इतिहास भ्रष्ट कर दिया गया। इसका कुपरिणाम हमारे सम्मुख है।

हिन्दू-संस्कृतिपर पाश्चात्य शिक्षासे शिक्षित हिन्दुओंका आघात उपेक्षा, नये-नये कानून आदिके द्वारा चल ही रहा है। ईसाई मत भी अपने कौशलमें संलग्न है। एक कूट प्रयत्न एनी बेसेंटका थियासोफी मत

भी था। उसमें हिन्दूधर्मके सिद्धान्तोंको माननेका बहाना करके बताया गया था कि वर्तमान समयके पथ-प्रदर्शक ईसामसीह हैं। इसी प्रकारका एक कूट प्रयत्न आगाखानी मत है। यह मत इस्माइली मतकी शाखामें है। इस्माइल जिनके नामपर इस्माइली मत चला, हजरत अलीके वंशजोंमें हैं। मिस्रमें इस्माइली मतके प्रचारके लिए एक विद्यालय था, जिसमें शिक्षाकी नौ श्रेणियाँ थीं। इनमें पढ़ाया जाता था कि प्रचारकको किस प्रकार पहले दूसरेके धर्म तथा मतको ठीक बताकर उसमें रहस्य-भावना उत्पन्न करनी चाहिए तथा पीछे उसी रहस्यके आधारपर उसे अपने धर्ममें लाना चाहिये। भारतमें कोटढ़ा ग्राममें पीर सरदीनने आकर इस मतका प्रचार किया। इसीकी गद्दीपर हिज हाइनेस सर आगा खाँ थे। यह मत अपने रहस्य छिपाता है। बम्बई हाईकोर्टके जजोंने सन् १८६६ में इस मतकी चालोंके सम्बन्ध में जो फैसला दिया है, वह वहीं देखने योग्य है। प्रत्येक प्रकारसे व्याक्तका विश्वास प्राप्त करना और फिर उसे किसी रहस्यपर आर्कषित करके अपने मतमें लाना, इस मतकी पद्धति है। बहुतसे हिन्दू इस मतमें सम्मिलित हो चुके हैं।

इस प्रकारके अनेकों प्रयत्न चल रहे हैं। ईसाई प्रचारक भी अब गेरुआ पहनते हैं। नवीन ईसाइयोंके भारतीय नाम नहीं बदलते। चोटी भी नहीं काटते। इसी प्रकारके दूसरे प्रयत्न हैं—शास्त्रीय ग्रन्थोंमें मिलावट करनेके। शास्त्रोंके नामपर नये-नये ग्रन्थ रचने तथा शास्त्रोंकी विचित्र व्याख्या करनेके। ये प्रयत्न भी बहुत पुराने समयसे हो रहे हैं और अबतक चलते हैं। रावर्ट नोविली नामक एक पादरीने एक पुस्तक लिखवायी। उसमें बाइबिलके सिद्धान्त थे। उसने इसका नाम यजुर्वेद रक्खा। फ्रेंचमें उसका अनुवाद भी हुआ, परन्तु मैक्समूलरने उसे लड़कोंका खेल बता दिया। भंडा फूट जानेसे वह ग्रन्थ चल न सका। यह एक उदाहरणमात्र है। ऐसे प्रयत्न असंख्य हुए हैं। यह कहना कठिन है कि उनमें कितने सफल हुए हैं।

संस्कृतिकी रक्षा

जो सबसे प्रथमकी, सब संस्कृतियोंकी जननी आदि संस्कृति है, जो अबतक अविकृत परम्परामें है, जिसके आचारोंकी विकृतियोंसे ही दूसरी संस्कृतियोंका उद्धार हुआ है, जो समस्त मानव-ज्ञानका कोषागार है और

जिसमें मानवकी समस्त आवश्यकताओं एवं कठिनाइयोंका समाधान है, उसकी रक्षा कितनी आवश्यक है—यह समझा जा सकता है।

हिन्दू-संस्कृतिकी रक्षाके लिए शिक्षाका सुधार, उसके सांस्कृतिक रूपका प्रचार तथा उसपर होनेवाले वर्तमान कानूनी आघातोंका रोका जाना सर्वप्रथम आवश्यक है। इसके पश्चात् इस संस्कृतिके साहित्यका उद्धार होना चाहिए। तातारमें, चीनमें, तिब्बतमें, संस्कृतकी अरबों प्राचीन पुस्तकें वहाँके पुस्तकालयोंमें हैं। इङ्गलैंड, जर्मनी, फ्रांस अमेरिका आदिके पुस्तकालयोंमें भारत तथा चीनसे गयी संस्कृतकी कराड़ों पुस्तकें हैं। देशमें असंख्य ग्रन्थ ग्रामोंमें पड़े हैं। इन सब साहित्यका अन्वेषण तथा सङ्कलन करनेका उद्योग करना चाहिए।

सांस्कृतिक स्थानोंका जीर्णोद्धार, उनकी रक्षा, ऐसे पर्वोंका प्रचारादि भी संस्कृतिकी रक्षाका एक अङ्ग है। सबसे मुख्य बात है रचिको। देशमें अपनी संस्कृतिके प्रति अभिरुचि उत्पन्न होनी चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षाका विष दूर हुए बिना हिन्दू-संस्कृति पुनः सशक्त नहीं हो सकेगी।*

* इस लेखमें बहुत सी बातें पं० श्रीरघुभन्वन्तजी शर्मा, साहित्यभूषणद्वारा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थसे ली गयी हैं, इसलिये हम उनके आभारी हैं।

हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूमि

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदेवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

(गीता ८।३-४)

परम ब्रह्म तो अक्षर—अविनाशी एवं अविकारी है। स्वभाव-प्रकृति—भावोंकी मूल सत्ता ही अध्यात्म है। अध्यात्म प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति एवं विनाशके रूपमें मूर्त होता है कर्मके कारण। जीवोंके कर्मसंस्कार ही सृष्टि प्रलयके कारण है। यह विसर्ग—सृष्टिपरम्परा कर्मात्मक है। अधिभूत—व्यक्त सृष्टि विनाशी अथच विकारी है। इस अधिभूतमें उसका चालक एवं आधार चेतन पुरुष ही उसका अधिदेवता है। सम्पूर्ण देहधारियोंमें वही परम पुरुष पुरुषोत्तम अधियज्ञ—साक्षी अधिष्ठाता है।

भगवद्गीताके ये प्रकाशमय वर्ण ही हिंदू-संस्कृतिकी आधार स्वर्णिम-भूमिको प्रकाशित करते हैं। हिंदू-संस्कृतिका प्राण है—‘एक सच्चिदानन्दधन अखण्ड चेतन। वही एकत्व इन नाना रूपोंमें उद्भासित है। प्रत्येक मार्गसे जीवनके प्रत्येक कार्यकलापमें अनेकत्वमें उस एकका साक्षात्।’ हिंदू-संस्कृतिका शरीर है—‘शास्त्रीय वर्णाश्रम-विभाग एवं तदनुरूप आचार।’ हिंदू-संस्कृतिका हृदय है—‘अधिदेववाद।’ अन्तमें हिंदू-संस्कृतिकी जीवन-प्रणालिका है—‘अधिदैवको अधियज्ञके भीतर साक्षात् करनेका प्रयत्न।’ हमें समझ लेना चाहिए कि शरीर परिणाम होता है हृदयका और हृदय प्राणोंका अनुगामी है। तीनोंका सामंजस्य ही जीवन-प्रणाली है। हिंदू-संस्कृतिमें-से अधिदैववाद तथा सर्वत्र चेतनकी उपलब्धि एवं शास्त्रोंमें-से एकको भी निकाल देनेसे इस संस्कृतिकी आधारशिला भंग हो जायगी।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—शास्त्रोंमें इनका विस्तृत विवेचन है। हमारी संस्कृतिके अणु-अणुका इनसे ही सृजन हुआ है। हम जानें, या न जानें, हिन्दूके प्रत्येक कामका संचालक, यदि वह सचमुच हिंदू है तो इनकी

स्वीकृतिके कारण ही होता है, इनके सम्बन्धमें स्पष्टीकरणके लिए हमें अपने सृष्टि-क्रमपर विचार करना होगा। सृष्टि-क्रमके सम्बन्धमें सोचते समय हमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।१६)

सत्का अभाव नहीं हुआ करता और असत् कभी भाव नहीं बनता। जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति भ्रान्ति है, किन्तु वह है इसीलिए कि सर्प सत्य है। यदि सर्प शशशृङ्गके समान मिथ्या होता तो रज्जुमें उसकी भावरूप प्रतीति न होती। प्रतीति भी किसी सत्यके आधारपर ही होती है। यह क्षर-भावापन्न अधिभूत—यह नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है। प्रतीति है, किन्तु इस प्रतीतिका सत्य क्या है? प्रतीयमानकी कल्पना कहाँसे आयी। असत् कभी सत् नहीं बनता। मनमें जो कल्पनाका भी सत् बना, उसका मूलरूप तो होना ही चाहिए। स्पष्ट यह कि मैं कह रहा हूँ कि असत्य केवल वह है जो न दृष्टिके सम्मुख आता है और न मनमें। जो भी दृश्य है, जो भी मनमें आता है—आ सकता है, सभी सत्य होता है। उस सत्यकी अन्यत्र प्रतीति ही भ्रान्ति है। अज्ञान है। सत्य-स्वरूप व्यापक चिन्मय तत्त्वमें असत्यको स्थान ही नहीं।

हमें इस प्रतीयमान अधिभूतसे ही विचार करना चाहिए। जो स्थूल है, जो सम्मुख है, उसीका विश्लेषण अधिक सरल है। 'अधिभूतं क्षरो भावः।' भगवान् कहते हैं, यह विनाशी है। जन्मसे पूर्व हम इस रूपमें नहीं थे, मृत्युके पश्चात् भी इस रूपमें नहीं रहेंगे। अतः मध्यका यह रूप सत्य नहीं हो सकता। मध्यके इस रूपका भी क्या अर्थ? बाल्यकालसे जरठत्वतक शरीरने पता नहीं कितनी आकृतियाँ बदली हैं। उसमें-से कोई किस आकृतिको सत्य माने? सम्पूर्ण दृश्य विकारी है। सबमें परिवर्तन हुआ करता है। अतएव नामरूपकी वर्तमान प्रतीति तो मिथ्या है ही।

वैज्ञानिकोंने स्थूल तत्त्वोंका विश्लेषण किया है और अबवे किसी सीमातक परमाणुतक पहुँच गये हैं। विश्व असंख्य परमाणुओंसे बना है और ये परमाणु शक्तिके घनीभाव हैं। परमाणुके भंग होनेपर अपार शक्ति प्रकट होती है। एक परमाणु पूरे ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति है। मध्यमें एक घन अणु तथा उसकी परिक्रमा करते अनेक ऋणाणु। यद्यपि अभी मध्यस्थ घन अणु

Vinay Avasthi Sahib Bhuvan Vani Trust Donations

तोड़ा नहीं जा सका है, किन्तु उसके सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंका कहना है कि उसके टूटते ही प्रलय हो जायगी। जो भी हो, जडवाद एक शक्तितक पहुँचा है जिसे वह व्यापक विद्युत् कहता है। परमाणु उस विद्युत्के शक्ति-केन्द्र हैं।

ऋण और धन, आकर्षण और विवर्षण, विद्युत्के यही दो रूप हैं। दूसरे शब्दोंमें अहंकारके तामस रूपका ही यह स्थूलीकरण है। अहंकारके तीन रूपोंमेंसे तामस अहंकारके द्वारा ही स्थूल जगत् बना, यह शास्त्र कहता है। अहंकारका रूप है—अहं और त्वं। यही स्थूल रूपमें आकर्षण एवं विवर्षण बन गया है। परमाणुओंका वाहक ईथर—केवल लहरियाँ और गति, महत्तात्व इस गतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब गति है तो उसकी शान्त स्थिति भी होगी। उस प्रकृतिको जडवादी स्वीकार तो करता है, किन्तु उसके स्वरूपको बतलानेमें वह असमर्थ है।

जड विचार नहीं करता। प्रकृतिमें यह भाव और विचार कहाँसे आये ? दो पदार्थोंके योगसे तीसरा पदार्थ बनता तो है, किन्तु उस तीसरे पदार्थका स्वरूप उन दोनोंमें प्रथमसे विद्यमान रहता है और यदि दो पदार्थोंके संयोगसे कोई शक्ति प्रकट होती हो तो विश्लेषण सिद्ध कर देता है कि वह शक्ति ही वस्तुतः उन पदार्थोंके रूपमें घनीभूत थी। जैसे यदि गन्धक और पोटाशका मिश्रण अग्नि उत्पन्न करता है तो इसीलिए कि दोनों आग्नेय पदार्थ हैं। पदार्थोंसे विद्युत् इसीलिए प्रकट होती है कि उनके परमाणु ही विद्युत्के घनीभाव हैं। यह चेतना तो किसी जड़में नहीं, अतः वह मिश्रण या योगसे कैसे हो सकती है। आज जडवादीके सम्मुख यह जटिल प्रश्न है। भाव, विचार ये जीवके लक्षण हैं और वे जड़के परमाणुतकमें नहीं। अतएव आजका वैज्ञानिक जीवाणुको भी परमाणुकी भाँति विश्लिष्ट कर लेना चाहता है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

तस्य भागस्य भागस्य एषा जीवस्य कल्पना ॥

शास्त्रोंने जहाँ जीवके अणुपरिणामका वर्णन किया है, वहाँ उसे रोमके अग्र भागका दस करोड़वाँ भाग कहा है। इतना सूक्ष्म है हो सके ; किन्तु वस्तुतः तो जड़ता ही भ्रान्ति है। नित्यव्यापक चेतनमें जड़का तो केवल आभास है। जीवाणुका यदि विश्लेषण हो सके तो जैसे परमाणुके विश्लेषणने सिद्ध किया कि परमाणुओंकी असंख्यता मूलमें एक ही शक्तिसे

ओतप्रोत है, वैसे ही एक ही चेतन-शक्ति ही उपलब्ध होगी। जीवाणु एवं परमाणु उस सीमापर अभिन्न हो जायँगे।

दृश्य-जगत् विकारी है। उसका दृश्यरूप भ्रान्तिजन्य है। मूल रूपमें वह ऐसा नहीं। यहाँ तक तो किसीको भी विवाद नहीं। यह दृश्य उपस्थित क्यों होता है? यहीं हिन्दू-संस्कृति अपनी विशेषता लेकर उपस्थित होती है। हमारा अधिदैववाद विश्वमें और कहीं भी नहीं है। हमारी संस्कृतिकी यह अद्भुत विशेषता है कि हम प्रत्येक दृश्य जड़को केवल जड़ नहीं मानते। हम उसका एक अधिदेवता मानते हैं। हमारा शरीर जड़ है और जीव उसका अधिदेव है। पृथ्वीका दृश्य रूप जड़ है, किन्तु उसका अधिष्ठाता रूप भी है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारागण, पर्वत, नदियाँ, वन प्रभृतिके दृश्यरूप उनके अधिदेवोंके शरीर हैं। जैसे सांसारिक जीवोंके रूपके अणु ज्योतिर्मय कहे गये हैं, वैसे ही इन अधिदेवोंके विभिन्न स्वरूपोंका शास्त्रोंमें विशद वर्णन है।

हम मसिपात्र, लेखनी, पुस्तक, बही, तलवार, हल, सबकी पूजा करते हैं। सबके अधिदेवको मानते हैं। हमारी संस्कृति कहती है कि स्थूल शरीरसे तभी अनुकूल कार्य सम्पन्न होता है जब उसका अधिष्ठाता मनुष्ट हो। हम मकान बनाते हैं और उसके बनते ही उसके अधिदेवता उसमें आ जाते हैं। मकानसे सुख-प्राप्तिके लिए हम वास्तुपूजन करते हैं। जैसे शरीरके प्रत्येक भागमें सहस्रत्रयः जीवाणु हैं। उनमें स्वतन्त्र जीवन-व्यापार है, किन्तु उनका सन्धीभाव शरीररूपमें होते ही शरीरका अधिष्ठाता हो जाता है, वैसे ही प्रत्येक वृक्ष या प्रत्येक पाषाण-खण्डके पृथक् अधिष्ठाता रहते भी उनके समूह वन, भवन, नगर एवं देशके अधिष्ठाता होते हैं।

‘पुरुषश्चाधिदेवतम्।’ जिस समूहमें चेतनका जो अंश अहंभाव कर लेता है, वही उसका देवता है। शरीराभिमानी जीव शरीरका अधिदेव। इसी प्रकार पृथ्वी, पर्वत, कानन, तरु, भवन, सूर्य, चन्द्रादिमें उनके अभिमानी रूपसे स्थिर चेतनांश उनके अधिदेव हैं। इन अधिदेवोंकी स्वीकृतिमें ही हिन्दू-संस्कृति, सम्पूर्ण आचार-व्यवहार-परम्परा है। हम सन्ध्या करते हैं, अर्घ्य देते हैं भगवान् सूर्यके निमित्त। तर्पण करते हैं पितरोंके लिए। हवनमें अनेक देवताओंको आहुतियाँ देते हैं। देवताओंको जो किसी-न-किसी क्रिया या पिण्डके अधिदेव हैं, न माननेपर हमारे सारे कार्यकलाप अवरुद्ध हो जायँगे।

अधिदेव क्या सचमुच हैं ? एक ही व्यापक चेतनतत्त्व, सर्वव्यापक परमात्मा हैं। इतना होनेपर भी जीवका जीवत्व है, यह तो प्रत्यक्ष है और जब एक जड़ शरीरका अभिमानी है तो दूसरेका क्यों नहीं होना चाहिए ? इसे आप स्पष्ट समझें ? मकान, मेज, कुर्सी, चित्रादि जड़ पदार्थ कैसे बनते हैं ? पहले वे अपने निर्माताके मनमें आते हैं। विचारोंमें उनका रूप मूर्त होता है और तब वे स्थूल रूपमें परिणत होते हैं। विचार और भाव चेतनके धर्म हैं। जड़ मिट्टी न मकान बन सकती और न जड़ काष्ठ मेज। उनका भवन या मेजरूप तो चेतनका मूर्तरूप है। आकृतिके लिए विचारका मूर्त होना आवश्यक है।

अधिक स्पष्ट समझिये—एक व्यक्ति मेस्मेरिजमसे सम्मोहित कर दिया गया है। सम्मोहक कहता है 'अग्नि लगी है।' सम्मोहित अपने वस्त्र बुझानेका प्रयास करता है और भागना चाहता है। यह भी देखा गया है कि उसे छालेतक पड़ जाते हैं। यहाँ अग्नि उसके लिए मूर्त भी। यद् मूर्त अग्नि सम्मोहकके विचारके अतिरिक्त और क्या थी ? विश्वके सभी पदार्थ इसी प्रकार विचारोंके मूर्त रूप हैं।

यह पृथ्वी, ये सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्वत, नदी प्रभृति किसके विचारोंके मूर्त रूप हैं ? अपनेसे ही समझिये। 'विसर्गः कर्मसंज्ञितः' सृष्टि होती है कर्मके कारण। कर्म हैं क्या ? मैंने एक व्यक्तिको लाठी मार दी तो यह कर्म क्या लाठी या सिरमें है ? 'मैंने लाठी मारी' केवल यह संस्कार ही कर्म है और वही फलोत्पादक हुआ करता है ' भगवानने बताया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमांलोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

(गीता १८। १७)

कर्म हैं संस्कारात्मक-विचारात्मक और वही जीवको जन्म-मृत्युके आवर्त-प्रत्यावर्तमें लगाए रहते हैं। जैसे आपके विचारोंने आपका उद्भव किया है, वैसे ही किसीके विचारोंने ही पृथ्वी, सूर्यादिका उद्भव किया है। स्रष्टाका मन जैसे हमारे कर्मोंसे प्रेरित होकर भवन, आसन, परिच्छदका निर्माण करता है।

क्रियाके मूलमें विचार होता है, उसका कम्पन सूक्ष्म जगतकी एक चेतन आकृतिसे सम्बद्ध होता है। उस आकृतिके कारण ही वह कम्पन है

और स्थूलरूपमें उस क्रियाका एक परिणाम होता है । स्थूलरूप व्यक्त है, जड़ है । उस व्यक्त करनेवाली क्रियाका कम्पन जिस सूक्ष्मरूपसे सम्बद्ध है, वह सूक्ष्म रूप उस व्यक्त रूपका अधिदेव है । अधिदेव चेतन है । वह नित्य है । स्थूलका वही सञ्चालक है । रागों और ऋतुओंके अधिदेव भी इसी प्रकार माने गये हैं ।

प्रत्येक क्रिया एवं आकृतिका आधार विचार है, वह विचार किसी सूक्ष्म चेतनसे प्रेरित ही होता है, अतः वह चेतन-तत्त्व उस क्रिया एवं आकृतिका अधिदेवता है । अधिदेवताकी एक दिव्याकृति होती है और वह आकृति ही विचार-जगत्में ऐसे कम्पनका सृजन करती है, जिससे क्रिया या स्थूलाकृति व्यक्त होती है । रिकार्डपर केवल ऊँची-नीची अस्पष्ट रेखाएँ होती हैं, किन्तु उनपर सुई चलनेसे स्वर व्यक्त होता है । इसी प्रकार देवताओंकी अव्यक्त चेष्टा विचार-जगत्से स्थूल-जगत्में व्यक्त होती है ।

एक बालक उत्पन्न होता है । ज्यौतिषी ग्रह-गणित करके उसकी कुण्डली बना देते हैं । कुण्डली देखकर कोई भी निपुण ज्यौतिषी बालककी आकृति, वर्ण, प्रकृति, कर्म, भोगसे मृत्युतक बतला सकता है । बालकका जन्म उसके प्रारब्धके अनुसार हुआ है और प्रारब्धके ही फल उसे भोगने हैं । प्रारब्धका निर्माण हुआ है उसके पूर्वकृत कर्मोंसे । अतः पूर्वकृत कर्म, प्रारब्ध, उसके जन्म-समय और ग्रहोंकी अवस्थितिमें कोई सामञ्जस्य-शृङ्खला होनी चाहिए । ऐसा न होनेपर या तो कर्मको फलद मानना होगा या ग्रहोंका प्राबल्य स्वीकार करना होगा । बात ऐसी है नहीं । सृष्टिके प्रत्येक कार्य जिस नियन्त्रककी नियम-शृङ्खलामें शृङ्खलित हैं, प्रारब्ध और ग्रह दोनों उसीमें हैं । अतः दोनोंमें विपर्यय कभी नहीं होता ।

ग्रहोंकी संख्या है और संख्या है नक्षत्रोंकी भी । अतः इनके संयोगोंकी भी संख्या होगी । यह संख्या बड़ी हो सकती है, किन्तु अनन्त नहीं । शास्त्र बतलाते हैं कि इतिहास आवृत्ति करता है । 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ब्रह्माने सृष्टिको प्रथमके समान ही बनाया । प्रत्येक युगके अवतार वह युग आनेपर होते हैं । जैसे त्रेतामें रामावतार और रामचरित प्रायः वही होता है । कल्पाभेदसे चरितोंमें थोड़ा अन्तर पड़ता है, किन्तु चौदह मन्वन्तरका एक कल्प ब्रह्माका दिन होता है । तीस दिनोंका एक मास और बारह मासका एक वर्ष । इस प्रकार अपने सौ वर्ष ब्रह्माकी आयु होती है । कल्पभेदका विकल्प भी यहीतक रहता है । पुनः दूसरे ब्रह्माकी आयुमें प्रथमके समान ही

सृष्टि आवृत्ति करती है। शास्त्रोंमें, वेदोंमें इतिहास देखकर लोग चौंकते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि यही नित्य इतिहास शास्त्र एवं श्रुतियोंमें है। एक ही इतिहासमें जो अन्तर हैं, वे कल्पभेदसे पड़नेवाले अन्तर हैं।

ग्रह एवं नक्षत्रोंकी संख्या तथा उनके संयोग एक कल्पमें समाप्त हो जाते हैं। दूसरे कल्पमें बहुत सूक्ष्म अन्तरसे उनके संयोगोंकी पुनरावृत्ति होती है। फलतः एक कल्पका इतिहास साधारण अन्तरसे दूसरे कल्पमें आवृत्ति करता है। यह साधारण अन्तर भी ब्रह्माकी आयुतक ही रहता है और दूसरी सृष्टिमें ये अन्तर भी आवृत्ति करते हैं। विचार, भाव, पदार्थ, वर्ण, क्रिया प्रभृति समस्त अन्तर एवं बाह्य इतिहास इस प्रकार आवृत्ति करता है। वही आकृतियाँ, उन्हीं रूपोंमें, वैसे ही विचारोंसे प्रेरित होकर पुनः-पुनः वही क्रियाएँ करती हैं। अतः ग्रह-नक्षत्रोंके संयोग-प्रभावके अनुसार दृश्य परिणाम होनेमें कभी विपर्यय नहीं होता।

‘हम कह आये हैं कि विचार सूक्ष्म-चेतन तत्त्वसे प्रेरित होते हैं और वे चेतन उन विचारों तथा उनसे होनेवाली स्थूल क्रियाके अधिदेव हैं। अधिदेवोंकी संख्या है। इसका अर्थ हुआ कि विचारोंकी भी संख्या है। इसे यों समझ लीजिये कि जैसे रेडियो-यन्त्र रेडियो-स्तरोंसे स्वरको व्यक्त करता है, वैसे ही विचारोंके भी स्तर हैं। मन जिस स्तरमें होता है, उसीके विचार उसमें प्रतिफलित होते हैं। हम उतनी ही कल्पनाएँ, भावनाएँ या विचार कर सकते हैं, जितने स्तर हैं। क्योंकि बाह्य स्थूल या क्षर आधिभौतिक जगत् विचारोंका परिणाम है, अतः स्थूल जगत्में भी उतनी ही क्रियाएँ या पदार्थ हो सकते हैं, जितने विचार-स्तर हैं। यह दूसरी बात है कि विचार-स्तरोंका कोई भाग स्थूलमें व्यक्त न हो, किन्तु स्थूल व्यक्त तो सदा उतना ही रहेगा जो विचार-स्तरोंमें है।

अधिदेवता ही अधिष्ठाता हैं विचारोंके, क्रियाओंके तथा स्थूल पदार्थोंके और वही अधिष्ठाता हैं ग्रह-नक्षत्र एवं उनके संयोगोंके। अतः कर्म और ग्रह-संयोगमें नित्य समन्वय है। विचार एवं क्रियाएँ उन्हीं क्रमोंसे सम्पन्न होते हैं, जिन क्रमोंसे ग्रहादि संयोग चलते हैं। अतः प्रारब्ध भी उसी नियमसे निर्मित होता है और प्रारब्धका परिपाक भी ग्रहोंका सहायात्री रहा करता है।

‘पुरुषश्चाधिदैवतम्’ पुरुष ही अधिदेवता है। चेतन शक्तियोंसे ही विचारस्तर स्फुरित होते हैं और वही व्यष्टि एवं समष्टिकी क्रियाओंका

सञ्चालन करती है। वस्तुतः तो समष्टि एवं व्यष्टि एक ही नियमसे चालित हैं। जो गति समष्टिमें चन्द्रका चालन करती है, वही व्यष्टिमें मनका। इसीलिए व्यष्टिके कर्म एवं समष्टिके ग्रहादिका समन्वय सदा रहता है। उन चेतन शक्तियोंसे स्फुरित विचार-स्तर समष्टिमें ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, समुद्र, नदी आदिका भूर्तरूप धारण करते हैं और व्यष्टिमें उसके विचार, भाव, क्रिया एवं भवनादि कृतियोंका। जिन सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, रुद्रसे समष्टि अधिष्ठित है, वही व्यष्टिकी इन्द्रियोंके भी अधिदेव हैं।

जड़ता केवल प्रतीति है। वह चेतनकी स्फुरणा है। प्रत्येक क्रिया एवं वस्तुका अधिष्ठाता चेतन है। वही पुरुष उसका अधिदेव है। वही उस व्यक्त जड़की स्फुरणा एवं सञ्चालनका मूल तथा उसका स्वामी है। अधिदेवोंकी संख्या है, अतः विचार, क्रिया एवं आकृतियोंकी भी संख्या है और इसी कारण इतिहास सर्वाङ्गरूपसे आवृत्ति करता है। मिथ्या कोई वस्तु नहीं। मनमें जो आता है वह इसीलिए कि विचार-जगत्में वह है। अधिदेव उसके हैं। स्वप्नमें जैसे ऊँटके धड़पर गजका मस्तक दीखता है तो गज एवं ऊँट दोनों सत्य हैं। केवल उनके अङ्गोंकी यह एकरूपता ही असङ्गत है, वैसे ही विचार एवं कल्पनामें असंगति तो सम्भव है, मिथ्यात्व नहीं। किसी समय ब्रह्माण्डमें वह घटित सत्य है या होगा, क्योंकि उसके अधिदेव हैं।

इस प्रकार नित्य सत्य एवं चेतनको स्वीकृतिके पश्चात् प्रश्न उठता है कि क्या ये चेतन स्वतन्त्र हैं? बहुजीववाद सांख्यने स्वीकार किया है। भगवान् कहते हैं 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्' देहधारियोंके देहमें अधियज्ञ मैं हूँ। फिरिश्ते और उनसे पृथक् उनका नियन्ता माननेवाले बहुत हो गये हैं, किन्तु हिन्दू-संस्कृति नियन्ताको पृथक् नहीं बताती। नियन्ता तो अभिमानी चेतनके नित्य साथ रहता है और वही उसका सञ्चालन करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽजुंन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गीता १८।६१)

वह अधियज्ञ—क्रियाओंका अधिष्ठाता सबके हृदयमें रहता है और वही सबको अपनी शक्तिसे संचालित करता है। क्रियाओं—यों कहिये कि

विचारस्तरों एवं उनके-सङ्घोंके अधिदेव वस्तुतः उनका सञ्चालन नहीं करते ।। वे उनमें अहङ्कार रखते हैं । जीव इसलिए शरीरका अधिष्ठाता है कि वह शरीर एवं उसकी क्रियाओंमें अहं बुद्धि रखता है । वस्तुतः तो शरीर और उसके कर्म समष्टि चालकके इच्छानुसार ही सम्पन्न होते हैं । जैसे जलमें सूर्यका पड़ा प्रतिबिम्ब यह मान ले कि जल मेरी उष्णतासे उष्ण हो रहा है । वस्तुतः तो जल मूल बिम्ब सूर्यसे उष्ण होता है ।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥

यह माया जीवकृत नहीं है । यह जीवके बन्धनका कारण भी नहीं, क्योंकि इसके द्वारा संस्कारोंकी प्राप्ति नहीं होती । यह तो ईश्वरकृत माया है । इसकी अनुपलब्धि तो हो सकती है, जैसे सुषुप्तिमें होती है, किन्तु इसका विनाश जीवके द्वारा नहीं होता । किसीके मुक्त होनेसे सृष्टिके रहनेसे किसीको कोई बाधा भी नहीं ।

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हैसि जीव निकाया ॥

‘यह मैं हूँ’ । यह मेरा है । यह तुम हो । यह तुम्हारा है ।’ अथवा ‘यह दूसरा है, यह दूसरेका है ।’ यही जीवकृत माया है । इसीने सम्पूर्ण जीवोंको स्ववश कर रखा है । अधियज्ञ उत्तम पुरुष श्रीपुरुषोत्तम ही सबके सञ्चालक हैं । उन्हींकी दिव्यलीला लोकमें प्रतिफलित हो रही है ; किन्तु अधिदेवोंने उसमें अपना अहं स्थापित कर लिया है । यह ‘अहं’ ही बन्धनका कारण है । ‘अहं’ के कारण ही यह द्विविध चेतनत्वकी उपलब्धि है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ।

(मुण्डक० ३।१।१)

भगवती श्रुतिने इसी द्विविध चेतनकी ओर संकेत किया है । हिन्दू-संस्कृति जड़को अस्वीकार करती है और अपने आचार-व्यवहारमें वह इसी द्विविध चेतनको मानती है । प्रत्येक पदार्थका अधिदेव जो उसके स्थूल-रूप एवं क्रियामें अहंभाव रखता है और सर्वत्र व्याप्त सर्व सञ्चालक ईश्वर । हमारा संचालक किसी सुदूर आकाशमें नहीं बैठा । वह तो प्रत्येकके हृदयमें रहकर उसका सञ्चालन करता है । वह सबका नियन्त्रक, सञ्चालक एवं व्यक्त रूपका कारण भी है ।

तब क्या चेतन द्विविध है ? एक सञ्चालक और शेष जीव या देवता । यीनेगदर्शनने कुछ ऐसी ही बात कही है, परन्तु, भगवान् अधियज्ञपर ही तो विराम नहीं करते । वे आगे कहते हैं, 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' स्वभावको अध्यात्म कहा जाता है । यह सृष्टि, विचारस्तर, उनके अधिदेवादिका जो स्वभाव है—वास्तविक स्वरूप है, उसे अध्यात्म कहा जाता है । क्या है यह अध्यात्म ? अधिभूतके प्रसङ्ग हम कह आये हैं कि जो सत् नहीं है, उसकी प्रतीति भी सतरूपसे नहीं हो सकती । यह जो प्रतीयमान विराट सत् है, वह इस रूपमें तो क्षर अथवा मिथ्या है, किन्तु उसका स्वभाव क्या है ? किस सत्की यहाँ प्रतीति हुई है ? भगवान् कहते हैं, उसे अध्यात्म कहा जाता है । आत्माका ही वहाँ अधिष्ठान है, वह । इसको स्पष्ट करनेके लिए हमें अन्यत्र अन्वेषण करना होगा ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायान्श्च पुरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

त्रिपादुर्ध्व उदेत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः

ततो विष्वग् व्यक्तामत् साशनानशने अभि ॥

[पुरुष सूक्त]

‘उन परम-पुरुषके सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र एवं सहस्रों चरण हैं । वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंमें सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित हैं और उससे दश अंगुल ऊपर भी हैं । यह समस्त व्यक्त जगत उनकी ही महिमा है और वे इससे भी अधिक हैं । ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनके एक पाद एकांशमें ही स्थित हैं और उनके तीन पाद—त्रिपाद् विभूतिमें अमृत-अविनाशी-दिवलोक-शाश्वत लोक हैं । यह पुरुषकी त्रिपाद विभूति मायासे परे प्रकाशमान है । मायिक विश्वमें भी वही पुरुष हैं । मायामें प्रविष्ट हुए उसी परम पुरुषसे जड एवं चेतनमय सृष्टिकी अधिव्यक्ति हुई ।

भगवती श्रुति के इस प्रधान पुरुषसूक्त पर ध्यान रखते हुए हमें अध्यात्मके अन्वेषणके लिए प्रलय-क्रमपर ध्यान देना चाहिए । कल्पान्तमें अतिवृष्टिसे लोक जलमय हो जाते हैं, किन्तु जब ब्रह्माजीकी आयु समाप्त हो जाती है तो केवल जलप्लावनसे सृष्टि-नाशतक ही बात नहीं रहती ।

पृथ्वी-तत्त्व जलमें, वह अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश तन्मात्राओंमें, इस प्रकार क्रमशः तन्मात्राएँ अहङ्कारमें, वह महत्में और उसके लीन होनेपर प्रकृति रह जाती है। कल्पान्तमें तो महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोकका नाश नहीं होता, किन्तु इस महाप्रलयमें इन सब लोकोंका भी विलय हो जाता है। इसी महाप्रलयको लक्ष्यकर भगवान् ने कहा है—

‘आब्रम्हभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽजुन ।

(गीता ८। १६)

ब्रह्मलोकतकका नाश होता है और वहाँसे अभी संसारमें प्रत्यावर्तन होता है। इस महाप्रलयके पश्चात् क्या बचता है? साम्यावस्थामें स्थित प्रकृतिको आप कह सकते हैं। दूर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। जो पिण्डमें है, वही ब्रम्हाण्डमें भी है। संस्कारहीन चित्तको आप जो संज्ञा दे सकें, वही संज्ञा उस समयकी प्रकृतिको दी जानी चाहिए। भगवान् बुद्धने उसे शून्य संज्ञा दी है। ठीक उसी अर्थमें तो नहीं, किन्तु यह शून्य संज्ञा बहुत कुछ उपयुक्त है। उस समय केवल शून्य रह जाता है। जैसे चित्त संस्कारग्राही होता है, वैसे ही वह भी संस्कारग्राही होता है। उसके समीप जो जाता है, उसीका प्रतिबिम्ब वह अपनेमें प्रतिफलित करता है।

ब्रह्मलोक तकके लोक तो महाप्रलयमें नष्ट हो जाते हैं; किन्तु त्रिपाद्विभूति तो शाश्वत है। कैलाश, वैकुण्ठ, साकेत, गो-लोक ये मायिक ब्रह्माण्डसे परे हैं। श्रुतिने ‘त्रिपादस्यामृतं दिवि’ (पुरुष सूक्त) द्वारा उन्हें अमृत-दिव्यलोक कहा है। भगवान्की नित्यलीला वहाँ शाश्वतरूपसे होती रहती है। न वहाँ कभी कोई व्याघात होता और न विपर्यय। एकरस स्थिति है वहाँ। वहाँ मायाका नामतक नहीं। वही सच्चिदानन्दघन तत्त्व नाना रूपोंमें धनीभूत होकर वहाँ क्रीड़ा करता है। वहाँकी भूमि, गृह, तरु, परिच्छद, पार्षद, प्रभृति, समस्त एक ही तत्त्वके घनीभाव हैं। भेद वहाँ आनन्दके लिए, क्रीड़ाके लिए ही है। जो उस दिव्यधाममें जाते हैं, वे भी सायुज्य स्वीकार केवल इसलिए नहीं करते कि पार्थक्यमें ही रसास्वाद है, अन्यथा होते वे भी तद्रूप ही हैं।

कितने हैं ये दिव्यलोक? सम्भवतः ३०। यद्यपि यह कोई पूर्ण संख्या नहीं। कल्प ३० माने गये हैं। उनकी द्वादश आवृत्तिमें ब्रह्माका एक वर्ष पूर्ण होता है और १०० वर्ष स्रष्टाकी परमायु है। ये कल्प होते हैं दिव्यलोकोंके

अनुसार, इसीसे इन्हें ३० कहा जा सकता है। वैसे तो नित्यलोकोंकी कोई संख्या ही नहीं जा सकती। यह शून्य, जिसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतिफलित हैं, मायिक विस्तार एकपाद विभूतिरूप अण्ड गतिशील है। जब वह किसी दिव्यलोकके सान्निध्यमें पहुँचता है, प्रतिबिम्ब ग्रहण करने लगता है। यही उसमें सृष्टि है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता जाता है। सृष्टिमें विस्तार होता है और साथ ही परिवर्तन भी। अन्तमें जब वह पुनः दूर होने लगता है, प्रतिबिम्ब अस्पष्ट होने लगता है। सृष्टिका ह्रास होकर प्रलय हो जाती है।

यदि हम सृष्टिपर ध्यान दें तो ज्ञात होता है, इसमें तत्त्व-प्रधान तो होते हैं, किन्तु रहते मिश्रित हैं। जैसे पृथ्वी-तत्त्वमें शेष चारों जल, वायु, अग्नि, आकाश गौण रूपसे हैं। प्रत्येक युगमें भी अवान्तरगत युग चला करते हैं। कलिमें भी त्रेता, द्वापर, सत्यके चक्र चलते हैं। ग्रहोंकी महादशामें अन्तर्दश चलती है। प्रतिबिम्बकी इस स्थितिसे बिम्बके सम्बन्धमें अनुमान किया जा सकता है। उन नित्यलोकोंमें भी अन्तर्गत लोकके रूपसे लोक तथा उसके अधिष्ठाता हैं। अर्थात् शिवलोकमें प्रधानता भगवान् शङ्करकी है तथा विष्णु, राम, श्रीकृष्णादिके लोक तथा वे वहाँ गौणरूपसे हैं। उनकी लीला भी वहाँ होती है। इसी प्रकार विष्णुलोकमें शिवलोक तथा उसके अधिष्ठाता एवं उनकी लीलाएँ गौणरूपसे चलती हैं। प्रत्येक लोक उस पूर्णका स्वरूप है और इसीलिए पूर्ण है।

अब यदि शून्य शिवलोकके सान्निध्यमें है तो उस कल्पमें भगवान् शिवसे सृष्टिका उद्भव होगा। विष्णु, राम, श्रीकृष्णादिकी लीलाएँ ही प्रतिफलित होंगी। उस कल्पमें भगवान् शशाङ्कशेखरकी प्रमुखता होगी। जब शून्य विष्णुलोकके सान्निध्यमें होगा तो विष्णुलोक एवं उसके अवान्तरगत लोक प्रतिफलित होंगे। उस कल्पमें भगवान् विष्णुसे सृष्टिका उद्भव होगा और उन्हींकी प्रधानता होगी। महाशिव, महाविष्णु परस्पर अभिन्न हैं। एक ही तत्त्वके दो घनीभाव हैं। पुराणोंमें जहाँ शिवपरक वर्णन हैं, वहाँ शिवलोक, उनके अधिष्ठाता एवं उस लोकके अन्तर्गत लोकों तथा अधिष्ठाताओंका वर्णन है। जहाँ विष्णुलोकका वर्णन है, उन वैष्णव पुराणोंने उस लोकके अन्तर्गत लोकों एवं उनके अधिष्ठाताओंका वर्णन किया है। दिव्यलोकोंमें अन्तर्गत लोक होनेसे कल्पके इतिहासमें तो परिवर्तन नहीं

होता, किन्तु मुख्य एवं गौण अधिष्ठाताओंके क्रमभेदसे घटनाओंके क्रममें कुछ अन्तर होता है और साधारण भेद हुआ करता है।

अन्तर्गत लोक एवं उनके अधिष्ठाताओंकी गौणताको गौण नहीं मानना चाहिये। स्मरण रखना चाहिए कि नित्य लोकोंमें उच्च-निम्न-जैसा कोई भेद है ही नहीं। वहाँ मुख्यता और गौणता केवल लीलाके लिए प्रतीतिमात्र है। अन्यथा एक ही चिन्मय तत्त्व उन सब रूपोंमें घनीभूत है। शक्ति, प्रभाव, गुणादिकी दृष्टिसे वहाँ पार्थक्य सम्भव नहीं। लोकान्तर्गत लोकोंके अधिष्ठाताओं एवं लोकके अधिष्ठातामें कोई न्यूनाधिक प्रभावका भेद नहीं है। ऐसी स्थितिमें दो लोकोंके अधिष्ठाताओंमें भेद हो कैसे सकता है।

मूलतत्त्व सच्चिदानन्दघन है। वहाँ प्रभुके साथ उनकी दिव्यतम शक्ति योगमाया सदा सेवामें उपस्थित रहती हैं। शून्यमें प्रतिफलित वही योगमायाका प्रतिबिम्ब यहाँ माया हो जाता है। सत् यहाँ तमस् बनकर प्रकट होता है, चित् रजस्के रूपमें और आनन्द सत्यके रूपमें। यहाँके मायिक वातावरणमें वे दिव्यभाव प्रतिबिम्बित होकर विकृत हो जाते हैं और अन्तःकरण-भेदसे विकार-बाहुल्य होता ही जाता है। यहीँका मनो-विज्ञान मानता है कि काम विकृतरूप है प्रेमका। द्वेषका शुद्ध रूप वैराग्य। मानव यदि अपनी कामवासनापर नियन्त्रण प्राप्त कर ले तो वह उसमें कला, प्रेम एवं प्रतिभाके रूपमें प्रकट हो जायगा।

यहाँके सब कुत्सित रूप विकृत हैं। अपने मूलरूपमें वे दिव्य हैं और दिव्यरूपका प्रतिफलन ही यहाँ इस रूपमें हो गया है। जैसे चिन्मय वियोगानुभूति जो रसरूप है, यहाँ विकृत होकर दुःख बन गयी। त्याग यहाँ काल हो गया है। सत्त्व, जो स्थितिस्वरूप है, व्यष्टिमें जड़ता बना है और समष्टिमें स्थूल पदार्थ। चित् जो ज्ञान एवं क्रियारूप है, यहाँ गति एवं व्यग्रता बन गया। आनन्द जो शुद्ध स्वरूप था, यहाँ वैयक्तिक सुख हो रहा। अतएव यहाँके सब कुत्सित भाव एवं रूप उन नित्य लोकोंमें हैं, ऐसी भ्रान्तिमें नहीं पड़ना चाहिए। अवश्य ही इनका स्वभाव, जो शुद्ध रूप है, उसकी उपलब्धि उसी अध्यात्ममें होगी।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

जो जिस भावसे जिस रूपमें प्रभुको चाहता है, उसी भावसे उसी रूपमें वे उसे उपलब्ध होते हैं। साथ ही उन चिन्मय अविनाशीके सभी स्वरूप, सभी लीलाएँ नित्य एवं शाश्वत हैं। यह इसलिए सम्भव है कि भाव एवं विचार आते ही हैं उनके नित्यलोकसे। उनके जितने स्वरूप हैं, उतने ही विचारस्तर हैं। उनके अतिरिक्त विचार किसी अन्तःकरणमें आ नहीं सकते। अन्तर केवल विचारोंका ग्रहण करता है। जब कोई अन्तर किसी एक विचार या भावस्तरमें स्थिर हो जाता है तो उस स्तरके मूल दिव्यरूपसे वह सम्बन्ध बना लेता है और इस प्रकार जीवको प्रभुका साक्षात् प्राप्त होता है।

मनोविज्ञानने आज सिद्ध कर दिया है कि विचारोंके भी रूप होते हैं तथा रंग भी। प्रेम, दया, मैत्री, घृणा, द्वेष, क्रोधादिके विचारोंकी आकृतियों तथा उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा चुका है। अतः विचार एवं भावोंके अधिदेवताओंकी बात आजका वैज्ञानिक भी स्वीकार कर लेगा, यदि वह बुद्धिकी बात सुननेको प्रस्तुत हो। दिव्यलोकोंके प्रतिविम्ब इस मायिक शून्यमें अधिदेव होते हैं और उनकी क्रिया विचारस्तरोंके रूपमें नित्य व्यक्त रहती है। विचार मनमें आते हैं और समष्टि या व्यष्टिके मनसे स्थूल रूपमें। पदार्थ एवं क्रिया और स्थूल आकृतिके अधिदेवता हैं। सूक्ष्ममें उनका प्रभाव विचारस्तरोंके रूपमें व्याप्त है। इन विचारस्तरोंका मूल नित्य दिव्य लोकोंमें है। एक ही विचारस्तरमें दृढ़तापूर्वक स्थित होकर नित्यलोकके उस आनन्दधनको आकृष्ट किया जा सकता है। स्थूल जगतमें अभीष्टकी सिद्धिके लिए स्थूल या अभीष्टके अधिदेवको अर्चसे तुष्ट करके सरलतासे कार्य सम्पादित किया जा सकता है।

‘अक्षरं ब्रम्ह परमम्’ (गीता ८) सृष्टिसे मुख मोड़ते ही सृष्टिके मूल कारणकी ओर ध्यान जाता है। वह तत्त्व जो नित्यलोकोंमें घनीभूत हो गया है, जिसमें ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतिभासित हो रहे हैं और जो इन सबसे परे भी है। श्रीश्यामसुन्दर कहते हैं कि वह परब्रह्म अविनाशी है। वह है और नित्य है। इससे अधिक उसके सम्बन्धमें और कहा भी क्या जा सकता है। त्रुटियाँ उसका वर्णन ‘नेति-नेति’ कहकर निषेध मुखसे करती हैं। सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रोंका वही प्रतिपाद्य है और सभी आचार्योंने उसीकी ओर लक्षणावृत्तिसे सङ्केत किया है।

‘यह समस्त दृश्यमान असत्य है। नामरूपात्मक जगत् है मिथ्या। केवल आत्मा ही सत्य है। द्वैतकी प्रतीति अज्ञानजन्य है।’ विचारक इस प्रकार मनन करता है। भावुक कहता है ‘भगवान् ही इन रूपोंमें प्रतिभासित हो रहे हैं। ये विविध रूप उन लीलामयने अपनी लीलासे धारण कर रखे हैं। इन रूपोंकी विविधता उन ऐन्द्रजालिकका जाल है। इन सबके रूपोंमें वे आनन्दघन ही सत्य हैं।’ दृश्यका विनाश दोमें-से किसीको इष्ट नहीं और न समष्टि सञ्चालककी समष्टिका विनाश सम्भव है। एक दृश्यमें अपने-आपका आधान करते आत्मानुभूति करनेका प्रयत्न करता है। उसे अन्तर्मुख होना है। वह बाह्यको अस्वीकार कर देता है और वहाँ अपना अनुभव करता है। दूसरा बाह्यकी विविधताको अस्वीकार करके वहाँ हृदयके अधिष्ठाताको विराजित करता है। बाह्यकी उसकी अस्वीकृतिका रूप दूसरा है, पर होना उसे भी अन्तर्मुखी ही है। इसीसे बाह्यके स्थानपर वह अन्तरके आराध्यको प्रतिष्ठित करता है। दोनोंका उद्देश्य है ‘अहं’ की परिसमाप्ति। एक उसके विस्तारमें ‘त्वं’ का हवन करके परिच्छिन्नतासे परित्राण पाना चाहता है और दूसरा ‘त्वं’ में ‘अहं’ की आहुति देना चाहता है।

अधिभूत तो क्षर है-विनाशी है। उस विनाशीमें अहंभाव करके ही अधिदेव बना जीव जन्म-मरणके आवर्त-प्रत्यावर्तमें कष्ट पा रहा है। यों इस विनाशी अधिभूतिका भी संचालन वह नहीं करता। उसका सञ्चालन तो उसमें स्थित अधियज्ञ कर रहा है और इस अधिभूतिका स्वभाव है अध्यात्म। जीवके लिए दो मार्ग हैं—एक तो वह उस आध्यात्मको उल्लब्ध करे भावके द्वारा। वह अध्यात्म ही इस अधिभूतके रूपमें स्थित है और वही इसका अधियज्ञ-रूपसे सञ्चालन कर रहा है, इस सत्यको साक्षात् करके अपने ‘अहं’ से उपरत हो जाय। कर्तृत्वके अहङ्कारका त्याग करके किसी एक भावका दृढ़ आलम्बन लेकर अध्यात्मका सान्निध्य लाभ करे। दूसरा मार्ग है कि वह विचारके द्वारा शुद्ध हृदयमें अव्यवसायिनी बुद्धिसे अधिदेव एवं अधियज्ञके अन्तरको लीन कर दे और उसका सायुज्य—तादात्म्य प्राप्त करे।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गीता १५। १७-१८)

जो परम ब्रह्म अक्षर है, वही देहोंमें अधियज्ञरूपसे स्थित है। सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त वह अविनाशी ईश्वर उनका धारण करता है। वह उत्तम पुरुष और अधियज्ञ पृथक् नहीं हैं। दोनों श्रीश्यामसुन्दर स्वयं ही हैं। इस अधियज्ञ उत्तम पुरुषमें जो सर्वव्यापक परमब्रह्म है तथा अधिदेव जीवमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं। अन्तर है केवल जीवके उपभोक्ता होनेके कारण—

‘एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नम् ।’

एक ही शाखापर रहनेवाले वे दोनों पक्षी केवल इसलिए पृथक् हैं कि उनमें-से एक फलको भक्षण करता है। अन्यथा दोनों ‘सयुजा’ हैं नित्य युक्त, एक स्वरूप हैं। ‘अधिभूत’ में कर्तृत्व अहङ्कार करके जीव उनके फलका भागी हो गया है। इसीलिए द्विविध चेतनकी उपलब्धि हो रही है। दृश्यकी अस्वीकृति करके जब वह पूर्णतः अन्तर्मुख हो जाता है, भोक्तृत्व ही निवृत्ति हो जाती है। आधिदैवत भाव उसका समाप्त हो जाता है, क्योंकि अधिभूत ही स्वीकृतिके बिना अधिदैव कैसे रहेगा। फल होता है कि वह अधियज्ञमें निर्वाण प्राप्त करता है।

समाजके व्यवहार-क्षेत्रमें सम्पूर्ण दृश्यको चेतनात्मक मानकर सबका समुचित आदर एवं यथायोग्य अर्चन करते हुए, विश्वमें सफलता और इसके द्वारा नित्य कारण परम चेतनका आराधन करके उस चिन्मय तत्त्वकी उपलब्धि, यही हिन्दूसंस्कृतिका स्वरूप है। इसी आधार-भूमिपर हमारी संस्कृतिका भव्य सौध अवस्थित है और शास्त्र ही उसके संरक्षक, निर्देशक एवं व्यक्त करने वाले हैं। श्रद्धा, विश्वास वह प्रथम वस्तु है जो एक मानवमें आवश्यक है। हिन्दू-संस्कृतिमें अविश्वास एवं कुतर्कके लिए स्थान नहीं। हमारी मान्यता है और इस प्राणपणसे उसे सत्य मानते हैं कि बिना श्रद्धा एवं विश्वासकी पूर्णताके मानव कभी मानव कहलाने योग्य हो नहीं सकता और वह श्रद्धा-विश्वास शास्त्रके प्रति सम्पूर्ण होना चाहिए।



हिन्दू संस्कृति का ह्रास एवं उत्थान

नियम सब कहीं एकसे होते हैं—चाहे वे पदार्थके सम्बन्धमें हों, शरीरके सम्बन्धमें हों या समाज अथवा संस्कृतिके सम्बन्धमें हों । अवश्य ही नियमोंको समझनेमें भ्रान्ति होती है और यही भ्रान्ति विकार को बढ़ाती है । किसी भी स्थानपर ह्रासका एक ही कारण होता है—विकार आना और उत्थानका कारण होता है—जीवनी-शक्तिकी प्रबलता । विकार की उत्पत्ति होती है, विजातीय द्रव्योंके मिश्रणसे और ये विजातीय द्रव्य मिथ्या आहार, विहार या व्यवहारसे आते हैं । इनके आने पर रुग्णावस्था प्रारम्भ होती है, पीड़ा-अजीर्ण-आहार ग्रहणकी अक्षमता और ह्रास यह विकारके लक्षण हैं । विकृति को दूर करनेका उपाय परिशोधन, अनाहार तथा चिकित्सा है । शरीर एवं पदार्थोंके सम्बन्धमें यह नियम सर्वत्र सर्वमान्य है और कोई कारण नहीं कि संस्कृतिके सम्बन्धमें भी यह इसी रूपमें कार्य न करता हो ।

पाश्चात्य विज्ञानने भारतीय मस्तिष्कको बहुत अधिक भ्रान्त किया है, क्योंकि विज्ञान अभी अन्वेषण-रत है और उसकी मान्यताएँ अपूर्ण खोजोंपर आश्रित हैं । संस्कृति एवं सभ्यताके सम्बन्धमें भी उसने वैसी ही भूल की है, जैसी कि आकृतियोंके सम्बन्धमें । विज्ञानने अधूरे लक्षणोंपर कह दिया कि पृथ्वी क्रमशः शीतल हो रही है । विश्वमें यह भ्रान्त धारणा सर्वमान्य हो गई; किन्तु हम जानते हैं कि शीतल स्थानों में मनुष्यकी आकृति उष्ण देशोंसे अधिक लम्बी होती है । यदि पृथ्वी शीतल हो रही है तो मानव आकृतियोंमें क्रमशः ऊँचाई बढ़नी चाहिए; किन्तु यह तो प्रत्यक्ष है कि सभी देशोंमें मनुष्य क्रमशः ठिगने होते जा रहे हैं । इसी प्रकार शीतल देशोंमें उच्च आकृतिका सिद्धान्त किस सीमातक ठीक है, विज्ञान इसका भी उत्तर नहीं दे पाता और यह प्रत्यक्ष है कि उत्तरीध्रुवके एस्किमों लोग अफ्रीकाके उष्णतम देशके निवासियोंसे भी ठिगने हैं । जैसे इन प्रत्यक्ष स्थूल विषयोंमें वैज्ञानिकों के नियम भ्रमपूर्ण हैं, वैसेही सभ्यता एवं संस्कृतिके क्रम-विकास का सिद्धान्त आमूल भ्रमपूर्ण है और संस्कृतिके ह्रास एवं उत्थानके कारणके सम्बन्धमें तो पाश्चात्य जगत कल्पित धारणाओंपर ही सन्तोष किये

बैठा है। पाश्चात्य प्रभावसे प्रभावित शिक्षित भारतीय समाजकी दशा भी स्वभावतः पाश्चात्य समाजके समान रहती ही है।

हिन्दू-संस्कृतिके ह्रासके कारणोंमें आधुनिक विद्वानोंने बहुत कुछ लिखा और कहा है और अपनी धारणाके अनुसार वे उन कारणोंको दूर करनेका यथासम्भव प्रयत्न भी करते हैं। ऐसे सभी आधुनिक मतोंका सार है—“जब किसीकी पाचनशक्ति क्षय हो जाती है तो वह रुग्ण हो जाता है और अन्तमें मृत। उपवास तथा अजीर्ण दोनों व्यक्ति एवं समाजको मार देते हैं। हिन्दू समाजने परित्याग करना ही सीखा। उसमें अपनाते—आहारकी शक्ति नष्ट हो गयी। उसने श्रेणी-विभाजन करके घृणा अपनायी। फलतः उसका ह्रास हुआ अद्धत-समस्या, नारी-समस्या, बुद्धि-समस्या प्रभृति, कई समस्याएँ इस विचारधाराने कल्पित की हैं और इनके समाधानमें हिन्दू-संस्कृतिका उत्थान देखा है।

बात ठीक है; किन्तु नियमको मध्यसे ही उठा लिया गया है। अन्वेषणीय तो यह है कि संस्कृतिने अनाहार क्यों प्रारम्भ किया? उसे अजीर्ण हुआ ही क्यों? क्योंकि कभी कहीं किसीको भी अजीर्ण एवं अनाहार प्रिय नहीं होता। वह विवशतासे किया जाता है और वह विकृतिको दूर करनेका साधन है। शरीरमें विकृति आनेपर उपवास शरीरका शोधन करता है और समाजमें विकृति आनेपर समाजका। हमें रोगके मूलसे विचार करना चाहिए और तब समुचित समाधान पाना कठिन न होगा।

हिन्दू-संस्कृतिके अतिरिक्त विश्वमें अनेक उन्नत संस्कृतियोंका उत्थान हुआ था। रोम, मिश्र, यूनानकी संस्कृतियाँ उन्नतिके उच्चतम शिखर तक पहुँची थीं, किन्तु आज उनका नाम भी शेष नहीं और सबसे प्राचीन होनेपर भी हिन्दू संस्कृति अब तक वर्तमान है। यद्यपि अनेक विधर्मी विदेशी संस्कृतियोंके संघर्षमें वह क्षीण हुई, परन्तु उसकी भित्ति दृढ़ रही। ऐसा क्यों हुआ? विदेशी संस्कृतियोंमें दूसरोंको आत्म-सात् करनेकी क्षमता थी, उनमें धन, जनबल भी था; किन्तु संघर्षमें एक ही थपेड़ेमें वे अस्त हो गईं। दूसरी ओर हिन्दू-संस्कृति सदा अपनी को पृथक् ही करती रही। उसी एक मूल संस्कृतिसे च्युत हुए लोगों के

आचारोंने अनेक संस्कृतियोंका रूप धारण किया। इस प्रकार जनवल निरन्तर घटता गया और फिर भी हिन्दू संस्कृति कोटि-कोटि वर्षोंके पश्चात् अनेक संघर्षोंमें से जीवित चली आ रही है। इस वैषम्यमें कौन-सा नियम कार्य कर रहा है ?

हम कह आये हैं कि नियम सब कहीं एकही होता है। हिन्दू संस्कृतिमें सदा परिष्कारकी भावना रही है। जीवनी शक्ति एवं स्वास्थ्यको बनाये रखनेके लिए जिस प्रकार अनावश्यक भेदकी अभिवृद्धि अवांछनीय है और शारीरिक मांसका क्षय इसमें बाधक नहीं होता, वैसे ही संस्कृतिके जीवनके लिए जनसंख्याकी वृद्धि अपेक्षित नहीं, अपेक्षित है परिष्कार। विदेशी संस्कृतियोंमें यह परिष्कारकी भावना नहीं थी। भेदपूर्ण शरीरकी भाँति एक बार उनकी अभिवृद्धि हुई; किन्तु परिस्थितियोंके संघर्षमें रुग्ण-विकृत होकर नष्ट होना स्वाभाविक था। उनमें अवांछनीय तत्व—भोगेष्सा तथा उसीको केन्द्र मानकर आचारादि बढ़ते, मिलते एवं परिवर्तित होते रहे। फलतः कालने उन्हें उदरस्थकर लिया। स्वार्थके संघर्षमें वे समाप्त हो गयी। हिन्दू संस्कृतिने अधिक अनुयायियोंकी भीड़की अपेक्षा नहीं की। उसमें सदा परिष्कृतिकी भावना रही और विकृत तत्व बहिष्कृत होते रहे। फलतः जनसंख्या घटती रहने पर भी उसका अस्तित्व सुरक्षित रहा।

हिन्दू संस्कृतिके जीवनको ठीक-ठीक समझनेके लिए पूरे जीवन-तत्त्वपर ध्यान देना चाहिए। गति, क्रिया, विश्राम एवं समुचित आहार जीवनको सुरक्षित रखता है। संस्कृतिके जीवनमें इसीको हम अनुयायियोंकी मानसिक उन्नति, प्रसार एवं आत्म-रक्षण, विकृतियोंका परिष्कार तथा परिस्थितिके अनुकूल व्यवहार-ग्रहणके रूपमें पाते हैं। संस्कृति व्यक्तियोंकी भीड़से रक्षित नहीं होती। वह तो अपने विशुद्ध अनुयायियोंसे रक्षित होती है। यदि एक भी अनुयायी विशुद्ध रहा तो अनुकूल स्थिति पाकर वह बीजसे वृक्ष एवं वृक्षसे कानन वनकी भाँति स्वतः आत्म-विस्तार कर लेगी।

किसी भी संस्कृतिकी गतिका चिह्न यह है कि उसके अनुयायियों का मानसिक स्तर उच्च हो। यदि व्यक्तियोंका मानसिक पतन होता रहा तो संस्कृतिका पतन अवश्यम्भावी है यह निर्विवाद है कि मानसिक

एवं आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रेरणाही हिन्दू संस्कृतिका प्राण है और हिन्दू संस्कृतिका ह्रास तभीसे प्रारम्भ हुआ है, जवसे आन्तरिक उन्नतिकी अपेक्षा बाह्य उन्नति ही प्रधान हो गयी है। बाह्य उन्नतिको इच्छावृद्धिके साथ संस्कृतिका ह्रास बढ़ता जा रहा है।

संस्कृतिका आत्म-प्रसार एवं आत्म-रक्षण गम्भीर विषय है। आत्म-रक्षण तो हिन्दू-संस्कृतिमें स्पष्ट है, किन्तु आजके विद्वान् यही तो आक्षेप करते हैं कि हमारी आत्म-प्रसार वृत्ति नष्ट हो गयी है। बात यह है कि प्रसारका अर्थ भीड़ बढ़ाना मान लेनेसे ही यह भ्रम उत्पन्न हुआ। संस्कृति धर्म एवं गुण है, आकृतियुक्त व्यक्ति नहीं। अतएव संस्कृतिके आत्म-प्रसारमें व्यक्तियोंका बढ़ाना आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। संस्कृतिका आत्म-प्रसार उस सत्यका प्रसार है जो उस संस्कृतिके (बाह्य एवं आन्तरिक) संस्कारोंमें निहित है। हिन्दू संस्कृतिने दूसरे धर्मोंके अनुयायियोंको (किसी बाह्य साधनके द्वारा) हिन्दू बनानेकी प्रेरणा कभी नहीं दी किन्तु हमारे बाह्य एवं आन्तरिक संस्कारोंके सत्यका प्रसार ऋषियोंने सदा किया है और इस प्रकारका प्रचार ही संस्कृतिका आत्म-प्रसार है।

हिन्दू संस्कृति का अनाहार

आत्म-रक्षण, परिष्कार एवं अनाहारपर विचार करनेसे पूर्व आहारपर ही विचार करना चाहिए। आहार शरीरके स्वरूप, प्रकृतिके अनुकूल एवं शारीरिक तत्त्वोंका सजातीय होनेपर ही जीवन-वर्द्धन करता है। इसके विपरीत होनेपर वह विकार एवं विनाशका कारण होता है। मनुष्यका शरीर अन्नमय है, अतः अन्न ही उसका आहार है, पत्थर या विष नहीं। संस्कृति व्यक्ति नहीं, गुण और धर्म-स्वरूप है, अतः व्यक्ति उसके आहार नहीं हो सकते गुण एवं धर्म ही उसके आहार होंगे। संख्या-संवर्धनसे संस्कृतिमें विकृति ही आवेगी, उसका पोषण नहीं होगा। हिन्दू-संस्कृतिमें युग-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्मके साथ आपद्धर्मका भी विधान है। अवश्य ही इन निश्चित धर्मोंका ठीक पालन न करके इनमें व्यत्यय करनेसे संस्कृतिमें विकार आया है। यह तर्क व्यर्थ है कि दूसरोंके गुण एवं धर्मोंसे कुछ लेते रहना इस आहारमें आता है। आहार प्रत्येक देशके मानवका निश्चित होता है और अपने देशमें दूसरे देशका आहार-

ग्रहण उसे रोमीही बनावेगा। जिस संस्कृतिमें प्रत्येक युग एवं कालके लिए प्रत्येक व्यक्तिके अनुरूप आचारका विधान है, उसमें परिवर्तन—परिशोधनका अर्थ उसे विकृत करनेके गिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।

हिन्दूसंस्कृतिके इस दीर्घ-जीवनका रहस्य उसके आत्म-रक्षण एवं परिष्कारमें है। संघर्षोंके मध्य, विजातीय आक्रमणों एवं उत्पीड़नों के संघर्षमें हिन्दू जातिने अपनेको संकुचितकर लिया। आप चाहें तो इसे संकीर्ण रूढ़िका अनुगमन कह सकते हैं, किन्तु अपने आचारों एवं संस्कारोंपर इतनी दृढ़निष्ठा, इतना पूर्ण विश्वास एवं अडिग भाव विश्वकी किसी जातिमें कभी नहीं रहा। हिन्दू जातिने अपनी संस्कृतिकी संरक्षाके लिए अवर्णनीय कष्ट सहे, अपरिमित बलिदान किये और यही उसकी नैष्ठिक शक्ति रक्षाकवच बनकर उसको बचाये रही।

दूसरी विशेषता हिन्दूसंस्कृतिकी सदासे रही परिष्कृतिकी भावना। परिष्कारका स्वभाव ही बहिष्कार है। जहाँ, जिसमें थोड़ी भी विकृति आई, वह समाजसे पृथक् कर दिया गया। फलतः समाज छोटा अवश्य होता रहा, किन्तु वह विशुद्ध रहा। उसके भीतर विकृति नहीं थी, अतः वह बाह्य संघर्षों में अडिग रहा। आज कहा जाता है कि इस बहिष्कारके कारण ही हिन्दू जातिका ह्रास हुआ है; किन्तु सच्ची बात यह है कि हमारे वर्तमान ह्रासका कारण इससे ठीक विपरीत है। हमने विकृत तत्त्वोंको बहिष्कृत करना बन्दकर दिया है इसीसे समाजमें विकृति आगयी है। इस विकृतिने ही समाज एवं संस्कृतिका ह्रास किया है। जब हम तनिक-सी बातपर जातिकी जातिको बहिष्कृत कर सकते थे, तब भले कई बार अविचारपूर्ण बहिष्कृतियोंके कारण हमें एक बड़ी संख्याके अनुयायियोंकी हानि होती रही हो; किन्तु बहिष्कृतिने संस्कृतिमें वह शक्ति सुरक्षित रखी थी जिससे चोटीके बदले मस्तक कटाने वाले शूर उत्पन्न होते थे। महाराणा प्रतापका शौर्य, हकीकत राय एवं गुरुगोविन्द सिंहके पुत्रोंकी निष्ठा, सतियोंका जौहर, व्रत, उसी समय शक्य था। बहिष्कृतिके लोपसे समाजमें विकृति आयी और आजतो चोटी, जनेऊ परिहासकी वस्तु है; धर्माचरण 'अन्धपरम्परा' कहलाने लगा है और सतीत्वकुसंस्कार' !!!

हिन्दू संस्कृति में शुद्धि

एक प्रश्न उठ सकता है कि 'तब क्या हिन्दू संस्कृतिमें बहिष्कार नहीं है; उसमें अपनानेके लिए स्थान नहीं? यदि ऐसा हो तो किसी-न किसी दिन इस संस्कृतिका विनाश अवश्यम्भावी है। क्योंकि जिसमें आत्म-प्रसारको स्थान नहीं, उसका स्वरूप चाहे जितना शुद्ध हो, नष्ट होगा ही। उसके बीजके रक्षणका भी क्या उपयोग?' बात ऐसी नहीं है। हिन्दू संस्कृतिमें यदि बहिष्कार करनेकी शक्ति है तो अपनानेकी भी शक्ति है। बहिष्कार, निष्कासन सामाजिक दंड हैं और वह किन्हीं त्रुटियों-के कारण होता है। उन त्रुटियोंके पूर्णतः दूर हो जानेपर अपराधका प्रायश्चित्त हो जानेपर पुनः न अपनाना न्याय नहीं है। अपनानेकी व्यवस्था धर्माचारका विधान करने वाली स्मृतियोंमें है; किन्तु वह आज के सुधारकोंके बाह्य आन्दोलन जैसी विधि नहीं। हिन्दू संस्कृति ऐसे तत्त्व-को अपनानेके पक्षमें नहीं, जो विजातीय हो, पच न सके। ग्रहणकर लेनेपर विकृति उत्पन्न करे। ग्रहण करनेसे पूर्व उसकी पूर्णतः शुद्धि आवश्यक है।

स्मृतिका आदेश है कि जो कुटुम्ब अपनी तीन पीढ़ियों तक जिस वर्ण धर्मका पालन नियम-पूर्वक करता रहता है, वह अपनी चौथी पीढ़ीमें उसी वर्णका हो जाता है। उसी वर्णमें उसके रूप सम्बन्धका उसे अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जन्मना जातिको मानकर भी कर्मणा जातिकी यह व्यवस्था पुरातन कालमें चलती रही। इस व्यवस्था-के अनुसार समाजको परिष्कृत करते रहनेमें शिथिलता आनेका ही यह परिणाम है कि वर्तमान समाजमें किसी वर्षमें उसके पूर्ण वर्ण-धर्म नहीं पाये जाते। गुणोंपर दृष्टि डालें तो लगता है कि वर्णसङ्करता समाजमें व्याप्त हो चुकी। जब एक वर्ण अपने शास्त्र-विहित कर्म एवं गुण छोड़ देता था तो पुरातन-कालमें चौथी पीढ़ीमें वह अपने पूर्व वर्णसे च्युत होकर उस वर्णका माना जाता था, जिसका आचार उसने ग्रहण कर लिया हो। इस प्रकार समाजमें जन्मना जातिकी प्रतिष्ठा होकर भी कर्म एवं गुणोंमें विपर्यय नहीं होता था।

तीन पीढ़ी वाला नियम अत्यन्त वैज्ञानिक है। कुष्ठ एवं राजयक्ष्मा-जैसे भयङ्कर रोग भी सन्तानमें रक्तक्रमसे तीसरी पीढ़ी तक आते हैं।

यदि नवीन कारण न मिले तो चौथी पीढ़ीमें रक्त पूर्णतः शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक वर्णके रक्तगत संस्कार भी चौथी पीढ़ीमें परित्यक्त होनेपर नहीं रहते और नवीन संस्कार पक्व हो जाते हैं। अतः चौथी पीढ़ी उम विशुद्ध वर्णकी हो जाती है, जिसके आचारको उसके तीन पीढ़ी पूर्वके पुरुषोंने अपनाया था।

शुद्धि की यही उत्तम पद्धति हो सकती है कि शुद्ध होने वाला समाज अपना वर्ण निश्चय प्राप्त कर ले; किन्तु वर्णान्तर्गत जाति उसकी पृथक् रहे और तीन पीढ़ी तक उस नवीन वर्ण-धर्मका पालन करते हुए वह परस्पर ही सम्बन्ध करे। चौथी पीढ़ीमें वह उस वर्णको वस्तुतः प्राप्त कर लेगा और तब उसे सम्बन्धादिकी सुविधा भी प्राप्त हो जायगी। भारतमें इस प्रकार अनेक विदेशी जातियाँ समाजमें ली गयीं, इसके प्रमाण हैं। अवश्य ही संख्यावर्धनके लिए शुद्धिका ध्यान न रखकर किसी को समाजमें लेना न तो हिन्दू धर्मकी पद्धति है और न वह लाभप्रद है। उससे हानि ही होगी।

सचमुच हिन्दू संस्कृतिके ह्रासका कारण यही है कि हमारी संस्कृतिमें अजीर्ण एवं अनाहारके तत्त्व आ गये हैं। लेकिन ह्रासका कारण यह नहीं है कि हमने विकृत तत्त्वोंको बहिष्कृत किया है। समाज में सदा काट-छाँट की है। ह्रासका कारण यह है कि हमने काट-छाँट रोक दी। बहिष्कार स्थगित कर दिया है। फलतः विकृति बढ़ी और बढ़ती जा रही है। हमने पाश्चात्य भौतिकवादके आचार-विचार अपनाये। यह विजातीय आहार पच नहीं सका। पच सकता भी नहीं। वह ज्योंका त्यों पड़ा है और संस्कृतिको विकृत कर रहा है। वर्ण, आश्रमादिके धर्मोंका हमने त्याग कर दिया है। संस्कृतिके इन पोषक तथ्योंकी उपेक्षासे दौर्बल्य बढ़ता जा रहा है। ऐसी दशामें नाममात्रके संस्कृतिके अनुयायियोंकी अभिवृद्धिसे विकार ही बढ़ेगा। जनवृद्धिसे विकृतिकी वृद्धि होगी, न कि संस्कृतिकी वृद्धि।

बहुत स्पष्ट रीतिसे हमें समझ लेना चाहिए कि धर्म एवं नीति दो पृथक्-पृथक् तथ्य हैं। धर्म संस्कृतिका पोषक है और संस्कृतिका धर्मके साथ नित्य सम्बन्ध है। नीतिका निर्माण व्यवहारके लिए है। नीतिको सदा धर्मका अनुगमन करना चाहिए। जहाँ धर्मको नीतिका अनुगमन

करना पड़ता है वहाँ संस्कृति एवं धर्म दोनों विकृत होते हैं—जैसे संख्या-वृद्धि नीति है। इसका उपयोग है जन-बल एवं अधिकार प्राप्त करनेके लिए। धर्मको इस नीतिका अनुगामी बनानेका प्रयास वर्तमान नेताओं की प्रेरणा है; किन्तु इससे संस्कृतिका ह्रास होगा। क्योंकि समाजमें ऐसे अवाञ्छनीय लोगोंका प्रवेश होगा जो हमारी संस्कृतिके आन्तरिक एवं बाह्य संस्कारोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं और उनको अपनानेमें असमर्थ रहेंगे। यह असमर्थता शास्त्रीय एवं स्वाभाविक दोनों प्रकारकी है।

धर्म जब अपने समग्र रूपमें ग्रहण किया जाता है; तभी वह संस्कृति-का पोषक होता है। धर्मका प्रत्येक अङ्ग परमार्थकी दृष्टिसे मनुष्यको पूर्णत्व प्राप्त कराने में समर्थ है और इसीलिए हिन्दू शास्त्रोंने निष्ठाको महत्त्व दिया है, किन्तु समाज एवं संस्कृतिका पोषण एक धर्माङ्ग नहीं कर सकता। विश्वमें जब भी धर्मके किसी एक अङ्गको समाजका आधार बनाया गया, वह समाज उससे च्युत हुआ। अहिंसाको लेकर चलने वाले ईसाई, बौद्धादि धर्म अपने आदि आचार्यके पश्चात् कितने दिन समाजको उस आदर्शपर चला सके? अतएव समाजके लिए तो धर्मका समग्र रूप ही वाञ्छनीय है। हिन्दू संस्कृतिका सदा पोषण सम्यक् सम्पूर्ण समग्र धर्म सनातनधर्मके द्वारा ही हुआ और इसीसे यह संस्कृति सनातन शाश्वत संस्कृति है। आजका समाज सनातनधर्मके आदर्शोंसे जितना च्युत हुआ है, संस्कृतिका भी उतना ही ह्रास हुआ है।

सबसे बड़ी विपत्ति

हिन्दू संस्कृतिके ह्रासका वर्तमान कारण है पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावमें आकर समाजके अग्रणी वर्णकी भौतिक उन्नतिकी ओर अभिरुचि एवं समाजकी उसीओर प्रवृत्ति। सनातनधर्म एवं संस्कारोंकी उपेक्षा-विकृत एवं संस्कृति-च्युत वर्गको बहिष्कृतकर सकनेमें उसकी असमर्थता। जब हिन्दू समाजपर घोर संकटके दिन थे, तब भी विरोधियोंके कठोर नृशंस अत्याचारोंके मध्य हमारी संस्कृति सुरक्षित थी। क्योंकि तब समाज विशुद्ध था। संस्कारोंके पालन एवं संस्कृतिके अनुगमनमें हमारी गौरव बुद्धि थी। इसीसे हम धर्मके लिए प्राणदे सकते थे। आज समाज विकृत हो गया है। अपनी ही संस्कृति, अपने ही संस्कारों में हमारी

हेय बुद्धि हो गयी है। धर्म एवं आचारोंका पालन उपहास एवं अपमानका कारण हो गया है। अतएव अपमान एवं उपहास सहन करके उसका आचरण अवश्य होता जा रहा है। यही सबसे भयङ्कर संस्कृतिके लिए आपत्तिका समय है।

ह्रास दूर कैसे हो ?

यह ह्रास दूर कैसे हो ? बड़ा कठिन प्रश्न है। ह्रास तो प्रत्यक्ष है; किन्तु उसके निदानमें मतभेद है। निदानमें मतभेद होनेसे चिकित्सा-में मतभेद होना स्वाभाविक है। लेकिन यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो चिकित्सामें मतभेद होना नहीं चाहिए। क्योंकि उद्देश्य एक होनेपर साधनोंमें सामञ्जस्य निकल आता है। संस्कृतिके अविकृत भागों की सुरक्षा एवं सङ्गठन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा ध्यान देने योग्य विषय है। यह दो रूपमें हो सकता है। अत्यन्त कठिन किन्तु सर्वोत्तम रूप तो यह है कि जो भी दस-पाँच, सौ-दो-सौ व्यक्ति शुद्धाचारके, विशुद्ध संस्कृति के अनुगामी मिलें, वे वर्ण एवं आश्रम धर्मके अनुसार अपना छोटा-सा समाज बना लें। उसकी परिष्कृतिका पूर्ण प्रयत्न रखें और शेष समाज उनसे प्रेरणा प्राप्त करे। इस प्रकार बीजके संरक्षणका प्रयत्न लोकमें होता है। वैसे व्यावहारिक दृष्टिसे यह बहुत अटपटी बात है। वर्तमान युग-में एक समाज विश्वसे अस्पष्ट रह सकेगा—कहना कठिन है। दूसरी पद्धति है कि जो स्थान, जो व्यक्ति, जो आहार, जो रुढ़ि बच रही है उनकी रक्षाका संपूर्ण शक्तिसे प्रयत्न किया जावे। उनमें यदि कुछ विकृति हो तो उन्हें दूर करनेका प्रयत्न उनको रक्षित रखकर ही चलाया जाय।

सबसे महत्तम एवं मुख्य बात है संस्कृतिके उत्थान के लिए उसमें गौरव बुद्धि जाग्रत करना। हिन्दू संस्कार, आचार, वेश, वाणी प्रभृतिमें गौरव बुद्धि समाजमें उत्पन्न की जाय। शिक्षाको वर्तमान पद्धतिमें सुधार होना चाहिए। उसे भारतीय संस्कृतिके अनुरूप होना चाहिए। जो और जितने भी उपाय संस्कृतिके प्रति गौरव बुद्धि जाग्रत कर सकें, सबको अपनाना ही चाहिए। क्योंकि गौरव बुद्धि होनेपर अनुराग, अनुशासने निष्ठा और निष्ठासे प्राप्ति होती है।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि रोगीको साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक संयमकी आवश्यकता होती है। जब समाजमें, संस्कृतिमें विकार आ गया तो नियमों एवं मर्यादाओंपर अत्यधिक बल देनेकी आवश्यकता है। नियमोंमें अपवादोंका लाभ उठानेका यह अवसर नहीं। इस समय तो थोड़ा भी प्रमाद हानिकर होगा। सम्पूर्ण सावधानी तथा दृढ़ता आवश्यक है ह्रासको दूर करके उत्थानके लिए नीतिके प्रलोभनसे धर्मको आक्रान्त करना इस समय बहुत हानिकर होगा। परिष्कारकी भावनाको जागृत करनेमें लाभ है, लुप्तकरने में नहीं। हिन्दू संस्कृतिका मूल आध्यात्मिकता में है, अतः भगवद्विश्वास, आध्यात्मिक जीवन, संयम एवं सदाचारके द्वारा ही उसका उत्थान हो सकेगा।

—:✽:—

हिन्दू-संस्कृति और विकासवाद

संसार क्या है ? इसका निर्माण क्यों और कैसे हुआ ? इसकी क्रियाओंके नियम क्या हैं ? ये प्रश्न मनुष्यके मनमें सदासे ही उठते रहे हैं। इन प्रश्नोंमें केवल कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा ही नहीं है। हम जिस विश्वमें रहते हैं, उसके नियमोंको जानकर ही अपने जीवनक्रमको व्यवस्थित कर सकते हैं। अतएव विश्वकी गतिशीलताके नियम अवश्य जान लेने योग्य हैं। भारतीय महर्षियोंने बताया कि एक सर्वशक्तिमान् दयामय सत्ता है और उसने जीवोंके विनोदके लिए विश्वका निर्माण किया। विश्व जब बना, सम्पूर्ण दोषरहित था। धीरे-धीरे वह उसी प्रकार बिगड़ता जा रहा है, जैसे नये खिलौने पुराने होते जाते हैं या वर्षाका शुद्ध जल सड़ता जाता है। पाश्चात्य देशोंमें डार्विनने इसके विपरीत ठीक दूसरी बात कही। उसका मत है कि कोई चेतनसत्ता नहीं है। विश्व धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उसमें गति स्वतः स्वाभाविक है।

विचारणीय यह है कि भारतीय विकृतिवाद तथा डार्विनके विकासवादमें से सत्य कौन-सा मत है। यदि भारतीय मत ठीक है—जो कि ठीक ही है, यह हम आगे देखेंगे,—तो ईश्वर स्वतःसिद्ध सत्ता है। फिर धर्माचार,

आध्यात्मिकता आदि मनुष्यके जीवनके आदर्श होने चाहिए। यदि डार्विनका मत ठीक है तो चेतनसत्ता कोई नहीं है। मनुष्य भी एक पशुविशेष है। नास्तिक महापण्डितोंकी यह बात ठीक ही है कि 'ईश्वर मनुष्यका मानस पुत्र है और धर्म मनुष्यकी दुर्बलताओंका संघीभाव।'।

हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि विकासवादका जन्म इंग्लैंडमें हुआ है। वहाँकी सभ्यताका इतिहास ढाई-तीन सहस्र वर्षका है। यूरोपके दूसरे देशोंके असभ्य लोग जब अपने देशकी अपेक्षाकृत सभ्य जातियोंसे पराजित हुए, तब भागकर वहाँ जा बसे। वहाँ खेती आदिकी सुविधा थी नहीं। फलतः उनका रहा-सहा ज्ञान भी विस्मृत हो गया। वे केवल समुद्री मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए बन गये। पश्चिमी यूरोपीय देशोंकी भी उस समय यही दशा थी। रोम (इटली) के संसर्गसे धीरे-धीरे उनकी सभ्यताका विकास हुआ। अतएव डार्विनके विकासवादकी युक्तियाँ वहाँ ठीक प्रमाणित हुई। पश्चिमी यूरोपके भी वे अनुकूल थीं। फलतः वहाँके विद्वानोंके हृदयमें बैठ गयीं। क्योंकि पश्चिमी यूरोप और ब्रिटेन शासकदेश थे, विश्वके तीन चौथाई देशोंपर उनका शासन था। अमेरिका, आस्ट्रेलियामें वही उपनिवेश बनाकर बसे थे। उनकी इस मान्यताका खूब प्रचार हुआ। शासित देशोंके विद्वानोंने आँख मूँदकर उनका अनुसरण किया। यों तो अब यूरोप तथा ब्रिटेनके वैज्ञानिक विकासवादको दो युग पीछेका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं और उसे स्वीकार नहीं करते; परन्तु इतिहास, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व आदि सभी विद्याओंपर विकासवादकी धारणाका प्रभाव पड़ा था और अब तक वह चल रहा है। विकासवादको अस्वीकार करके भी पश्चिमी यूरोपमें सभ्यताके विकासके कारण इन विद्याओंमें परिवर्तनकी आवश्यकता ज्ञात नहीं हो रही है और न है; परन्तु भारत, मिस्र आदि देशोंमें तो सभी विभागोंके ग्रन्थोंको नये सिरेसे लिखना आवश्यक होगा। अब तकके पाश्चात्य सिद्धान्तोंको अस्वीकार करके दूसरे ही ढंगसे समस्त ज्ञानको सजाना होगा। इन प्राचीन सभ्य देशोंके विद्वान् पाश्चात्योंका अनुकरण करनेके कारण सभी विषयोंको भ्रमात्मक बना चुके हैं और अभी भी उसी प्रवृत्तिका अनुगमन करते हैं। अतएव डार्विनके विकासवादकी आलोचना अभी इन देशोंमें बहुत आवश्यक है।

विकासवादके प्रमाण

वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। अन्ततः डार्विनको ऐसे कौन-

से प्रमाण मिले, जिससे उसने विकासवादके सिद्धान्तोंको स्थिर किया ? इसके उत्तरमें विकासवादी निम्न पाँच विद्याओंका नाम लेते हैं—

- १—जाति-विभाग ।
- २—तुलनात्मक शरीर-रचना ।
- ३—लुप्त जन्तुओंके प्राप्त शरीर ।
- ४—गर्भ-वृद्धिक्रम ।
- ५—भौगोलिक रचना ।

इन विषयोंपर पाश्चात्य विद्याविशारदोंने बहुत अन्वेषण किया है । यहाँ विकासवादके इनके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्त और उन सिद्धान्तोंकी आलोचना क्रमशः करना पर्याप्त होगा । जाति-विभाग । इसमें विश्वके दो विभाग हैं—वनस्पति और प्राणी । विकासवादी वैज्ञानिक वनस्पति-विभाग छोड़ देते हैं ; क्योंकि तृणसे वट-जैसा महावृक्ष कैसे विकसित हुआ, यह उनके वशकी बात नहीं । प्राणिवर्गके भी दो विभाग हैं—बिना रीढ़वाले प्राणी और रीढ़की हड्डीवाले । इन प्राणियोंमें भी श्रेणी विभाग किया जाता है ; किन्तु ऐसा श्रेणी विभाग अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता । रुधिर-परीक्षणसे प्राणियोंमें चार प्रकारके रक्त पाये गये हैं । गोल, चपटे, अण्डाकार तथा चपटे अण्डाकार रक्तकण होते हैं । छोटे कीड़ोंमें रक्तके स्थानपर कुछ चिपचिपा जल होता है । क्यों गोल या चपटा रक्तकण बर्तुलाकार हुआ ? विकासवादी रक्तके परिवर्तनका कोई कारण बता नहीं पाते । जातिविभागके मुख्य आधार रक्तकण हैं और जब यही नहीं बताया जा सकता कि एक रक्तकण दूसरे रक्तकणमें क्यों बदलता है, तब वह बदलता ही है, ऐसी भ्रमात्मक बात क्यों मानी जाय ?

दूसरा प्रमाण तुलनात्मक शरीर-रचनाका है । सच्ची बात तो यह है कि इसी बातने डार्विनको भ्रममें डाला और एक बार भ्रमको सत्य मान लेनेपर बहुतसे कल्पित प्रमाण एकत्र कर लिये गये । बन्दर, वनमानुष, जावाके जंगली मनुष्य, हब्शी और यूरोपियन—इन आकृतियोंमें कुछ समता है । ऐसे ही चमगीदड़, पशु एवं पक्षियोंके बीचका है । उड़नेवाली गिलहरी, तेंदुआ सब ऐसे ही प्राणी हैं । ऐसी ही समानता विकासवादी लेते हैं । गाय, घोड़ा, हिरन, गधा, हाथी, ऊँट—ये सब खुरवाले पशु हैं । इस प्रकार मनुष्यसे कीड़ों तक आकृतियोंमें कुछ-न-कुछ समताका क्रम मिल जाता

है और जहाँ नहीं मिलता, वहाँ मान लिया जाता है कि सन्धि-योनियोंके प्राणी पृथ्वीपर से नष्ट हो गये ।

यह तो ठीक है कि आकृतियोंमें समताका तारतम्य है ; परंतु क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये जीव एक दूसरेके विकसित रूप हैं ? अन्ततः यह विकास क्यों हुआ ? किस पद्धतिपर हुआ ? वैज्ञानिक कहते हैं कि विकासका कारण परिस्थिति है । जैसे पानीमें लकड़ी तैरती थी । उसपर कीड़े थे । उन कीड़ोंको खानेके लिए जो मछलियाँ कूदने लगीं, वे धीरे-धीरे मेढक हो गयीं । जो मेढक हो गयीं । जो मेढक वृक्षपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करने लगे, वे आगे जाकर गिलहरी बन गये । आकृतियोंके इस परिवर्तन-सिद्धान्तकी आलोचना तो पीछे करेंगे ; पहले यह देखिये कि क्या यह सम्भव है ?

आज सहस्रों वर्षोंका इतिहास प्राप्त है—इतने वर्षोंमें एक भी वैज्ञानिक-प्रयोगशाला लाख सिर मारकर भी एक मेढकको गिलहरी या एक मछलीको मेढक न बना सकी । इन जीवोंमें थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ । ब्रिटेनके दो प्रसिद्ध भेड़ पालनेवालोंमें से एकने निश्चय किया कि वे अपनी भेड़ोंको हाथीके बराबर बनायेंगे और दूसरे भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनानेमें लगे । वैज्ञानिकोंकी सलाहें ली गयीं । सहस्रों पाउण्ड व्यय हुए । वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् ज्ञात हुआ कि कुछ इन्च भेड़ें बड़ीं और घटी हैं तथा आगे घटना और बढ़ना बन्द हो गया है । आकार भी घटाया-बढ़ाया न जा सका तो भेड़से ऊँट या चूहा बननेकी तो बात ही दूर । भेड़ोंने सिद्ध कर दिया कि वे अपने समान चरनेवाली बकरी भी नहीं बनना चाहतीं ।

एक टेढ़ा प्रश्न और है—जो सन्धियोनियाँ मिलती हैं, वे अब तक क्यों उसी प्रकार हैं ? जब चमगीदड़ पशुसे पक्षी बन रहा था, तब क्यों उसके सब साथी सफल हो गये और वह अधरमें लटक रहा है ? क्यों जलके छोटे जीव अभी ज्यों-के-त्यों हैं ? नालीमें पड़े अन्नके सड़नेपर पूँछवाले कीड़े आपने देखे होंगे, सभी देशोंमें ये इसी आकृतिके होते हैं । मूत्रके कीड़े भी सब कहीं एक-से होते हैं । किसी देशकी परिस्थिति इन्हें अपनी शीत या उष्णतासे दूसरा रूप नहीं दे पाती ।

तुलनात्मक शरीर-रचनामें घोड़ा एक बड़ा भारी रोड़ा है । पुरुष घोड़ेके स्तनके चित्त नहीं होते । उसके टाप होता है, खुर नहीं । बच्चा

देते समय घोड़ीकी जिह्वा गिर जाती है। यह सब विशेषता उनमें कैसे आयी ? फिर जो प्राणी घोड़ेसे आगे विकसित हुए, उनमें यह विशेषता क्यों नहीं आयी ? अनावश्यक होनेसे जब पुरुष घोड़ेके स्तन चिह्न लुप्त हो गये तो आगेके पुरुष प्राणियोंमें उनकी क्या आवश्यकता हो गयी ? बकरीके गलस्तन, मनुष्यकी छठी अँगुली किस आवश्यकताके लिए विकसित होते हैं ?

सच्ची बात तो यह है कि इस शरीररचनाके निरीक्षणमें ही दोष है। डार्विन स्वयं जब उत्तरी ध्रुवदेशमें गये तो वहाँके मनुष्योंको देखकर पहचान न सके कि ये पशु हैं या मनुष्य, किंतु वनमानुष उन्हें मनुष्यका पूर्वज लगा। ध्रुवदेशके वे अत्यन्त छोटे मनुष्य, चौदह इन्च मोटे ओठोंवाले दक्षिणी अमेरिकाके हब्शी और एक अंगरेज, ये सब मनुष्य हैं, यद्यपि इनकी आकृतियोंमें बहुत अन्तर है। वनमानुष (गुरिल्लों) की कोई-कोई जाति इससे भी कम अन्तर मनुष्याकृतिसे रखती है, पर वे मनुष्य नहीं हैं।

एक सिद्धान्त भारतीय 'समानपशवात्मिका जातिः' का है। जिन प्राणियोंके परस्पर संयोगसे सन्तति-परम्परा चल सके, उन्हें जाति कहना चाहिए। चाहे आकृतियाँ कितनी भी मिलें, परंतु गधे एवं घोड़ेके मेलसे उत्पन्न खच्चरकी जाति नहीं चलती। खच्चरी गर्भ धारण करते ही मर जाती है। खच्चरमें वीर्य होता ही नहीं। इसी प्रकार कलमी वृक्षोंके बीज या तो उगते नहीं या उगकर फल नहीं देते और फल देते भी हैं तो फल मूल बीजू वृक्ष-जैसा देते हैं।

आकृतियोंमें इतनी समानता क्यों है ? इसका बड़ा सीधा उत्तर है कि यह समानता बतलाती है कि कोई सृष्टिकर्ता चेतनतत्त्व है और उसके मन है। वह मनोयोगसे सृष्टिरचना करता है। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि मनका स्वभाव है कि वह एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको सहसा नहीं सोचने लगता। पहले पदार्थके किसी सादृश्यके आधारपर ही दूसरे पदार्थ-तक जाता है। मनके इसी धर्मके कारण हमारे जीवनकार्योंमें तारतम्य एवं सादृश्य होता है। सृष्टिकर्ताके मनका भी वही धर्म होता चाहिए। अतः एक जीव-सृष्टिसे दूसरे जीवकी सृष्टिमें उनके मनकी सादृश्यता ही लक्षित होती है।

तीसरा प्रमाण विकासवादियोंका लुप्त जन्तुओंके प्राप्त चिह्न हैं। विकासवादी इसीको सबसे पुष्ट आधार मानते हैं ; पर वे स्वीकार करते हैं कि प्राप्त प्रमाण अभी अपर्याप्त हैं। पृथ्वीमें खोदनेपर जीवोंके बहुतसे अस्थिपंजर मिले हैं। 'चट्टानोंमें दबे जीवोंके चिह्न मिले हैं। प्रायः सभी संग्रहालयों (अजायबघरों) में इनका एक विभाग होता है। विकासवादी वैज्ञानिकोंकी यह कठिनाई स्वीकार करने योग्य है कि समूची पृथ्वी खोदी नहीं जा सकती। बहुतसे अस्थिपंजर नष्ट हो जाते हैं। संयोगवश ही कोई प्राणी ऐसे स्थानपर दबा रह जाता है, जहाँ सड़-गले नहीं। ऐसे प्राणी समस्त पृथ्वीभरमें होंगे। अतः प्राप्त प्रमाण अत्यल्प हैं। इनमें भी केवल अस्थिवाले जीवोंके ही अवशेष मिलते हैं। जिनमें अस्थि नहीं है, वे तो सड़-गल जायेंगे।

जो प्रमाण मिले हैं, उनमें देखा गया है कि भूमिके नीचेकी तहोंमें केवल छोटे जीवोंके चिह्न हैं। जैसे-जैसे ऊपरी तहें। उन्नत (इसका अर्थ केवल बड़े) जीवोंके चिह्न मिलते हैं। मनुष्यके चिह्न तो सबसे ऊपरके स्तरमें ही हैं। इसीलिए जीवोंका क्रमविकास पृथ्वीपर सिद्ध किया गया है। लेकिन वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वीके एक स्तरको बननेमें कई शताब्दियाँ लगती हैं। एक स्तरके ऊपर जब दूसरा स्तर बनता है, तब नीचेके स्तरपर भार बढ़ जाता है। बहुत नीचेके स्तर भारकी अधिकतासे टूटकर एक हो गये हैं। ऐसी दशामें यह स्वतः सिद्ध है कि जो स्तर जितने नीचे हैं, उनको उतना अधिक काल व्यतीत हुआ है। हड्डी भी दीर्घकालमें मिट्टी बन जाती है, यह सब जानते हैं। अधिक भारसे बड़े अस्थिपंजर दब जायेंगे और पत्थरोंकी संनिधियोंमें बचे छोटे जीवोंके अवशेष ज्यों-के-त्यों रहेंगे, यह स्वाभाविक है। इस प्रकार पहले छोटे ही प्राणी थे, यह नहीं कहा जा सकता।

अस्थिपंजरोका पहचानना और भी टेढ़ा है। गधे, टट्टू और जुर्रावके पंजर पास-पास हों तो उनको कैसे पहचाना जाय ? यदि पृथ्वीसे सब शेर नष्ट हो गये होते तो उनके अस्थिपंजर देखकर वैज्ञानिक यही तो कहते कि किसी समय बिल्लियाँ गधेके बराबर होती थीं। प्राप्त अस्थिपंजरो (फॉसिलों) से भी कुछ सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्धका लंदनका संग्रहालय विश्वमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसके अध्यक्षसे यह तो आशा करनी ही चाहिए कि वह विश्वके दूसरे संग्रहालयोंकी विशेषताओंसे परिचित

होगा। वह ब्रिटिश संग्रहालयका अध्यक्ष डाक्टर एग्रिज कहता है—‘इस ब्रिटिश म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन होता है। विकास-सम्बन्धी दसमें नौ बातें व्यर्थ और सारहीन हैं। इनके परीक्षणोंका आधार सत्यता और निरीक्षणपर सर्वथा अवलम्बित नहीं है; पूरे विश्वमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विकास-सिद्धान्तकी पुष्टि करती हो।’

अगस्त सन् १९२३ के ‘थिर्यासॉफिकल पाथ’ पत्रमें एक समाचार निकला है—‘जॉन टी० रीडको नेवाडामें एक आदमीके पद-चिह्न और अच्छी प्रकार बने हुए जूतेका एक तला प्राप्त हुआ है। इसमें सिलाई, धागोंके मरोड़, सीनेके छेद, धागोंके माप जो मिले हैं, वे आजकलके बने अच्छेसे-अच्छे जूतेसे पक्की और सूक्ष्म हैं। चट्टानविषयक भूगर्भविद्यासम्बन्धी ज्ञानके अनुसार इस जूतेके तलेको पचास लाख वर्ष पुराना समझा जाता है।’ इसका अर्थ हुआ कि पचास लाख वर्ष पूर्व मनुष्य इतना सभ्य था कि आज की अपेक्षा अच्छे जूते बनाकर पहनता था। तब मनुष्यका विकास कब हुआ? विकासवादके अनुसार पृथ्वीकी आयु बहुत छोटी है, यह स्मरण रखना चाहिए।

चौथा प्रमाण विकासवादियोंका गर्भका विकास-क्रम है। मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणी है; अतएव मानव-शिशु गर्भमें उन सत्र अवस्थाओंमें दिखलायी पड़ता है, जिन योनियोंमें विकसित होते हुए वह मनुष्य-शरीरमें आया है। विभिन्न समयोंके गर्भस्थ शिशुओंके नमूने सुरक्षित रखे गये हैं। इस सम्बन्धमें वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस नियमसे प्राणीका विकास हुआ है, वही नियम गर्भका भी है।

इस प्रमाणके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिए कि लुप्त जन्तुओंके शरीरोंकी भाँति इसमें मध्यकी कड़ियोंके न मिलनेके कारण नहीं हैं। गर्भको पूरा-पूरा विकास-क्रम दिखलाना चाहिए; परन्तु ऐसा होता नहीं है। विवश होकर विकासवादी कहते हैं कि गर्भशास्त्रके विकास-क्रममें भी अध्याय-के-अध्याय लुप्त हैं अर्थात् मध्यकी बहुत-सी आकृतियाँ गर्भमें नहीं मिलतीं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर नहीं है। उदाहरणके लिए मुर्गीको वे सर्पणशीलोसे पक्षी हुआ मानते हैं; किन्तु गर्भमें मुर्गीके सर्पण-शीलोके दाँत नहीं दिखायी पड़ते। चमगीदड़का पशुओंसे पक्षी होना

बताया जाता है, क्योंकि उसके स्तन हैं ; किन्तु चमगीदड़के गर्भमें भी पशुओंके पूरे चिह्न नहीं हैं । मनुष्य पक्षीसे इस योनिमें आया है । मानव-गर्भ मछली, मेढक, पक्षी, बंदर, वनमानुषका रूप बताया जाता है ; किन्तु मनुष्यगर्भमें चोंच तथा डैने कभी स्पष्ट नहीं होते ।

बात यह है कि कोई भी बच्चा सहसा नहीं बन जायगा । पिण्डके बननेमें अवयव क्रमशः प्रकट एवं स्पष्ट होंगे । अपुष्ट तथा अप्रकट अवयवोंमें मनमानी कल्पना कर लेना एक बात है और सचमुच गर्भका वैसा प्राणी होना दूसरी बात । बच्चे बादलोंमें घोड़े, हाथी, ऊँटकी आकृतिकी कल्पना करते हैं । गर्भके सम्बन्धमें भी ऐसी ही कल्पना विकासवादी करते हैं । नहीं तो मनुष्यका गर्भस्थ शिशु न तो एक बार भी मछली या मेढकके समान गलफड़ोंसे श्वास लेता पाया गया है और न उसमें पक्षियोंके लक्षण आते हैं ; यही दशा सभी प्राणियोंके गर्भकी है ।

पाँचवाँ प्रमाण विकासवादी भौगोलिक शास्त्रको बतलाते हैं । कम-से-कम इस शास्त्रको उन्होंने क्यों प्रमाण माना, यह समझमें आना कठिन है । क्योंकि इसके सम्बन्धमें वे स्वयं जो कुछ कहते हैं, वह उनका खण्डन करता है, समर्थन नहीं करता । वैज्ञानिकोंका कहना है कि संसारके सभी स्थानोंमें एक प्रकारके प्राणी नहीं हैं । जहाँकी जैसी परिस्थिति है, वहाँ वैसे प्राणी हैं । जैसे हिमप्रान्तके प्राणी उष्ण देशोंमें नहीं हैं । बात तो ठीक है, पर वे चाहते क्या हैं ? क्या वे चाहते हैं कि मछलियोंको घासके मैदानोंमें टहलना चाहिए और ऊँटको समुद्रमें डुबकी लेते मिलना चाहिए । जिस प्राणीके स्वभाव, आकृति, आहारके अनुरूप जो स्थान है, वह वहाँ पाया जाता है ।

विकासवादी ही कहते हैं कि यूरোपियनोंके जानेसे पूर्व आस्ट्रेलियामें शशक नहीं थे, यद्यपि उनके रहने योग्य वहाँ परिस्थिति थी । जब वे वहाँ लाकर छोड़े गये तो खूब बढ़ गये । ऐसे उदाहरण बहुतसे प्राणियोंके सम्बन्धमें मिल सकते हैं । इन उदाहरणोंका तो यही अर्थ हुआ कि परिस्थिति अनुकूल होनेपर भी प्राणियोंका स्वतः विकास नहीं होता । उनका बीज तो लाना पड़ता है । भारतका मयूर दूसरे स्थानोंपर कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी अन्यत्र कम है । स्वयं वह कहीं किसी पक्षीसे विकसित नहीं हो गया ।

इस प्रकार विकासवाद जिन पाँच प्रमाणोंपर निर्मित हुआ है, उनमें से पाँचों ही प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं। उनमेंसे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जिससे विकासवाद सिद्ध होता हो। प्रमाणोंको छोड़कर विकासवादके सिद्धान्तों एवं नियमोंकी आलोचना भी कर लेनी चाहिए। विकासवादी कहते हैं—‘पृथ्वी धीरे-धीरे शीतल हो रही है। पहले यह एक धधकते गैस (वायव्य अग्नि)-गोलकके रूपमें थी। धीरे-धीरे शीतल हुई और तब क्रमशः जल एवं भूमि प्रकट हुए। बहुत समय पश्चात् जलमें जीवन-बीज प्रकट हुआ। यह जीवन-बीज क्यों और कहाँसे आया, इसका उत्तर वे दे नहीं पाते, परन्तु इतना मानते हैं कि वह पार्श्वभौतिक तत्त्वसे ही किसी प्रकार बना। पहले जीवन-बीज एक कोष्ठका था। धीरे-धीरे उसीसे वनस्पति एवं प्राणिजगत्का विकास हुआ।

विकास सदा यन्त्रकी भाँति होता है। आरम्भिक शरीर सीधे सरल थे, वे क्रमशः जटिल होते गये। विकासकी प्रवृत्ति प्रकृतिके संघर्षोंमें जीवन-रक्षा एवं भोजन-प्राप्तिकी आवश्यकताके कारण हुई। जैसे तैरती लकड़ीपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करते-करते मछलियाँ क्रमशः मेढक हो गयीं। प्रकृतिके संघर्षमें जो प्राणी अपनेको अनुकूल बना पाते हैं, वे बच रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। प्रकृतिमें सदा योग्यकी रक्षा एवं अयोग्यके विनाशकी प्रवृत्ति है। वे विशेषताएँ जो एक जीवमें उसके प्रयत्नसे आती हैं, उसकी सन्तानमें भी आ जाती हैं। इस प्रकार सन्ततिक्रमके द्वारा विशेषताएँ बढ़ती जाती हैं और वह एक नवीन आकृति बना देती है। साथ ही जो जीव अपने जिस अङ्गसे काम लेना बन्द कर देते हैं, वे अङ्ग धीरे-धीरे असमर्थ होकर लुप्त हो जाते हैं।

विकासवादके सिद्धान्तोंकी योजना

विकासवादके सिद्धान्त ऊपर संक्षेपमें दिये जा चुके। पृथ्वी क्रमशः शीतल हुई और होती जा रही है, यह बात ही प्रथम विश्वसनीय नहीं है। सब जानते हैं कि शीत देशोंके पुरुष लंबे होते हैं और उष्ण देशोंके ठिगने होते हैं। यदि पृथ्वी क्रमशः शीतल हो रही है तो सभी देशोंके मनुष्योंकी लंबाई अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा बढ़नी चाहिए। प्रत्यक्ष तथा मिले कंकालोंपर से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि सभी देशोंमें मनुष्यकी लंबाई घटी है और बराबर घटती जा रही है।

जीवन-बीज पृथ्वी, जल आदिसे ही बना—यह कल्पना ही है। प्रत्यक्ष सत्य तो यह है कि नदीमें रेत निकलनेपर, समुद्रमें नवीन टापू प्रकट होनेपर तब तक वहाँ कोई पेड़, तृण या जीव नहीं हो पाते, जब-तक उनके बीज बाहरसे वहाँ न पहुँचें। यद्यपि बीजके बढ़नेके, पोषणके योग्य वहाँ परिस्थिति होती है, तथापि बीज स्वयं वहाँ उत्पन्न नहीं होता। यही बात शरीरोंके सरल एवं क्रमशः जटिल होनेके सम्बन्धमें है। अमीबाको प्रारम्भिक एक कोष्ठक जीव कहा जाता है। वह सरेस या गोंदके एक बिन्दुके समान है। वह चाहे जहाँसे अपने शरीरमें छिद्र करके अपना भोजन ग्रहण कर लेता है। शरीरमें चाहे जहाँ छिद्र होनेपर भी उसके भीतरका द्रव बहता नहीं। वह भोजन पचाता है, अपना भोजन पहचानता है और उसीको लेनेमें प्रवृत्त होता है, मल-त्याग करता है। अब उसके शरीरकी रचनाको सरल कहना केवल धृष्टता नहीं तो क्या है? मनुष्यके पश्चात् सबसे बुद्धिमान् प्राणी चींटी है; किंतु उसके मस्तिष्कमें क्या है? उस रचनाको तो अभी समझना ही कठिन है। अतएव किसीके शरीरकी रचना जटिल और किसीकी सरल है, यह बालकों-जैसी कल्पना है। सभी प्राणी आहार पहचानते, ग्रहण करते, पचाते, मल त्यागते तथा सन्तानोत्पादन करते हैं, सब भयका अनुभव करते और आत्मरक्षाका प्रयत्न करते हैं। इन कार्योंके योग्य यन्त्र सबमें हैं। अतः सबकी रचना एक-सी जटिल है।

आहारके अन्वेषण तथा जीवन-रक्षाके प्रयत्नके अनुसार आकृतियोंमें परिवर्तन हुए। आवश्यक अङ्ग, जिनसे काम लिया गया, बढ़ गये और अनावश्यक अङ्ग क्षीण हो गये, यह बात भी सत्य नहीं है। जिन प्राणियोंमें हड्डी नहीं थी, उनमें हड्डी कैसे बनी? इसका कोई उत्तर विकासवादियोंके पास नहीं है। वे कहते हैं कि जैसे हाथोंमें कार्य करनेसे घट्टे पड़ते हैं, वैसे ही कोई नस कठोर हो गयी होगी या हड्डी बनाने-वाली वस्तुएँ खानेसे हड्डी बनी होगी। इन दोनों ही बातोंमें तथ्य नहीं है। घट्टे शरीरके बाहर पड़ते हैं और वे कभी इस रूपमें नहीं आते कि उन्हें हड्डीका पूर्वरूप कहा जा सके। उनमें सदा चर्म ही रहता है, चाहे वह कितना भी कड़ा हो जाय। दाँत स्पष्ट बतलाते हैं कि वे स्नायुसे नहीं बने हैं। वे नसके अङ्ग होते तो गिर न सकते। नसमें चूनेका वह अंश ही नहीं, जिससे हड्डी बनती है। जोंक, खटमल, जू—ये मनुष्य एवं पशुओंके अस्थि बनानेवाले रक्तमें ही

जीवित रहते हैं, परन्तु इनमें अस्थिका नाम तक नहीं, अतः अस्थि बनाने-वाले भोजनमें अस्थि स्वतः बन गयी। यह बात भी ठीक नहीं।

अस्थि, मान लीजिये, किसी प्रकार बन गयी ; पर उसमें परिवर्तन कैसे होता है ? क्योंकि अस्थिवाले प्राणियोंकी आकृतिमें परिवर्तन तो अस्थिमें परिवर्तन हुए बिना हो नहीं सकता। भोजनकी आवश्यकता या आत्मरक्षाकी आवश्यकताका अनुभव मनको होता है। अस्थिपर मनका कोई नियन्त्रण नहीं है। दाँतोंमें छिद्र करनेसे कण्टका अनुभव नहीं होता। टूटी हड्डी जब शरीरसे बाहर आती है, डाक्टरकी रेतीके चलनेपर भी कण्ट नहीं होता। जब मनका अस्थिपर कोई नियन्त्रण ही नहीं है तो मनके द्वारा अनुभूत आवश्यकतासे अस्थिमें परिवर्तन कैसे सम्भव है।

दूसरी बात यह है कि आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन होते तो कहीं देखा नहीं जाता। भारतमें, अफ्रिकामें रीछ भी हैं और भैंस भी हैं। गाय और भैंस साथ-साथ रहती हैं। भैंसको गर्मी और शीत दोनोंमें कण्ट होता है, परन्तु आवश्यकता उसके शरीरपर गाय-जैसा मोटा बालयुक्त चमड़ा न बना सकी। साइबेरियाके शरीरपर भी रीछ-जैसे बाल नहीं उगे। उन बेचारे एस्किमो लोगोंको मछलीका चमड़ा पहनना पड़ता है। इस प्रकार कहीं भी आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन देखनेमें आता नहीं।

निरन्तरके अभ्याससे यदि कोई अङ्ग घट जाता होता तो आर्य अपने बच्चोंका सहस्रों वर्षोंसे कर्णवेध करते हैं ; किन्तु एक भी बच्चा जन्मसे कानोंमें छिद्र लेकर नहीं उत्पन्न हुआ। चीनी स्त्रियोंके युगोंके प्रयत्नसे भी उनके पैर छोटे नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य पक्षियोंसे उत्पन्न हुआ बताया है। उसने उड़नेके लिए विमान बनाया। भला, क्या पक्ष भी ऐसी वस्तु थी जो व्यर्थ हो जाय। फिर पक्षका लोप क्यों हुआ ? कहा जाता है कि मयूरके पक्ष काम न लेनेसे दुर्बल हो गये ; परन्तु अभी भी उसे कुत्ते, शृगालसे भय है। अतः पक्षकी आवश्यकता गयी तो नहीं थी। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि उसके बाल पक जायँ, उसके दाँत गिर जायँ। वह दाँतोंसे काम भी लेता ही है। इतनेपर भी बाल पक जाते हैं। दाँत गिर जाते हैं।

प्रकृतिमें योग्य ही टिक पाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं—यह बात जितनी मिथ्या है, उतनी ही भयङ्कर भी। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक जाति अहङ्कारवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ मान लेती है और कल्पना कर

लेती है कि शेष समस्त विश्व उसीके उपभोगके लिए है, उसे अपनी उन्नतिके लिए दूसरोंको नष्ट करनेका नैतिक अधिकार है । जर्मनी-जापानादिने इस धारणाका खुला प्रचार किया था । यह सिद्धान्त स्थिर करनेवाले यह नहीं देखते कि जिस अमीबाको वे निकृष्टतम प्राणी कहते हैं, वह विश्वमें दूसरे सब जीवोंसे अधिक है और उन्नततम मनुष्यकी संख्या किसी भी जातिके कीड़ेसे कम है । यदि प्रकृतिमें उन्नत जीवोंको ही रखनेकी प्रवृत्ति होती तो एक भी कीट आदि न होता ।

विशेष संस्कार सन्ततिमें आते हैं, यह सिद्धान्त बहुत थोड़ी दूर तक ही ठीक है । नियम तो यह है कि जिस प्राणीका जो स्वभाव है, वही उसकी सन्तानमें आता है । यदि कोई प्राणी कोई अतिरिक्त विशेषता उत्पन्न कर ले तो सन्तानमें वह अतिरिक्त विशेषता नहीं आती । जो बहुत विद्वान् हैं, उनके पुत्र प्रतिभाशाली ही हों, यह आवश्यक नहीं । बकरीके गलस्तन तथा मनुष्यकी छठीं अँगुली सन्तानमें नहीं आती । इसी प्रकार कर्णवेधका छिद्र, खतनेका चिह्न, छोटे किये गये पैर भी सन्ततिमें नहीं आते । कृत्रिम रीतिसे जो विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, उनका प्रयत्न भी स्वाभाविकताकी ओर ही जानेका है । यदि बगीचेके कलमी वृक्षोंकी सम्हाल न रखी जाय तो थोड़े दिनोंमें वे बीजू हो जाते हैं । सिंह तथा बाघके योगसे सन्तान होती है ; किन्तु जब उस मिश्रित सन्तानसे सन्तान पैदा करायी जाती है तो बच्चा सिंह या बाघ हो जाता है । इस प्रकार नवीन-प्राणी बनाया नहीं जा पाता ।

विकासवादके समर्थक कहते हैं कि 'मनुष्य स्त्रियोंके कई बच्चे होते हैं, उनमें कहीं-कहीं छःसे आठ तक स्तन देखे गये हैं ; इससे सिद्ध है कि मनुष्य पशुओंसे विकसित हुआ है ।' मनुष्योंमें तो और भी विशेषताएँ हैं, वह भेड़ियेकी माँदमें पाले जानेपर बिलमें रह सकता है और कच्चे माँस खा सकता है । मृगोंद्वारा पाले जानेपर चालीस मील प्रतिघण्टेकी गतिसे छलाग मारता भी देखा गया है ; किन्तु ये सब विशेषताएँ तो उसे बन्दरके बाद मनुष्य होनेपर मिली हैं न ? बन्दर भी तो मनुष्यके समान ही निम्न योनियोंसे विकसित हुआ है । मनुष्यसे छोटा भी दूसरी योनियोंसे तो बड़ा है ही । बन्दरियाके दोसे अधिक स्तन क्यों कभी देखे नहीं जाते ? क्यों बन्दरिया चार-छः बच्चे कभी नहीं देती ? बन्दरको भी आप भेड़ियेकी मादमें पाल सकेंगे क्या ?

विकासवादी भी मानते हैं कि कुछ स्थिर जातियाँ हैं। सृष्टिके आरम्भसे अबतक उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर नहीं है। क्यों अमीबा जीवित रहा और अधिक योग्य प्राणियोंकी जातियाँ नष्ट हो गयीं ? इसका भी उत्तर नहीं है। जन-संख्याके अनुसार विश्वमें बहुत लम्बे और बहुत ठिगने व्यक्ति थोड़े हो हैं। इनमें मध्यम कदके ही अधिक हैं। ऐसा क्यों है ? यह भी समाधानहीन प्रश्न है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि मेढ़क, मछली, सर्प—इन सबकी आयु बहुत अधिक है ; परन्तु मनुष्य, पशु तथा पक्षियोंकी आयु उनके सम्मुख अत्यल्प है। इस प्रकार आयुकी दृष्टिसे ह्रास हुआ है। भोजनकी दृष्टिसे भी सर्प, मछलीका आहार कम है। वे निराहार भी पर्याप्त समय तक रह सकते हैं। मेढ़क महीनों बिना भोजनके रह सकते हैं। पशु एवं पक्षियोंमें भोजनकी आवश्यकता बढ़ गयी। यहाँ भी असुविधा ही बढ़ी। इस प्रकार किसी भी रीतिसे विकासवादका कोई सिद्धान्त ठीक नहीं सिद्ध होता।

मद्रास हाईकोर्टके जज श्री टी० एल० स्ट्रैज़ने लिखा है—‘जलकृमियोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूपके जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। उनके लिए दूसरे जन्तुसे विकृत होकर उत्पन्न होना आवश्यक नहीं। एक-दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समय वे अलग-अलग आकारके उत्पन्न होते हैं।’

प्रोफेसर गेडिसका कहना है—‘यह मान लेना चाहिए कि मनुष्यके विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं और उनके लिए विज्ञानमें अब कोई स्थान नहीं है।’ यह एक व्यक्तिकी बात नहीं है। अमेरिकाकी कई रियासतोंने डार्विनकी शिक्षाको अनियमित घोषित कर दिया है। वहाँ विकासवादकी चर्चा अपराध है। एक अमेरिकन जजने प्रोफेसर जॉन स्कोप्सपर एक सौ डालर जुर्माना करते हुए फैसलेमें लिखा था—‘अभियुक्तने शिक्षा दी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओंका विकसित रूप है।’ सिडनी कॉलेटका कहना है कि ‘विज्ञान स्पष्ट कहता है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके बदले उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।’

न्यूटनका सिद्धान्त है कि गतिको रोकनेके लिए शक्तिकी आवश्यकता है, बनाये रखनेके लिए शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। गति और उष्णता एक ही तत्त्वके रूप हैं, आज यह सिद्ध हो चुका है। पृथ्वी जब वायुहीन स्थानमें अग्निका गोला थी तो शीतल कैसे हुई ? वायुहीन बोटलमें का

गरम पानी आज शीतल नहीं होता और होता भी है तो इसलिए कि बोटलपर वाहरी वायुका प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी जब अग्निगोलक थी, तब तो वायु थी ही नहीं। अतः उस समय उसमें शीतलता आना सम्भव ही नहीं।

विकासवादियोंमें हक्सलेने कहा था कि प्राचीन समयमें भारतीय भी विकास मानते थे। कुछ वैज्ञानिक अवतारोंके क्रमको विकासवाद पोषक बतलाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भारतका नाम लेकर वे अपनी भ्रान्त धारणाका अनुचित ढङ्गसे पोषण करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जब मत्स्य-कच्छपादि अवतार हुए, तब सृष्टिमें सभी प्राणी विद्यमान थे। वे अवतार प्राणियोंका विकास करनेके लिए नहीं हुए। उनके अवतारका प्रयोजन ही दूसरा था।

आकृतियोंमें परिवर्तन होता है और परिस्थितिका प्रभाव भी उनपर पड़ता है, यह सिद्धान्त सत्य है। परन्तु इस परिवर्तनका यह अर्थ नहीं कि गधा बिच्छू बनने जा रहा है, आपके घरके सामनेका वृक्ष किसी दिन सर्दी या गर्मी या कोई विशेष खाद पाकर भेड़ बनकर भाग जायगा या आपकी गो-माता सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेके उद्योगमें है। आप चाहे तोतेको पिंजड़ेमें डालकर बन्दी ही बना दें, परन्तु इस परिस्थितिसे वह सर्प बनकर सरक निकलेगा और आपको डँस लेगा, ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं। आकृतिमें परिवर्तनकी एक सीमा है। उस सीमाके पश्चात् आकृतिमें परिवर्तन नहीं होता। जातिका लक्षण है समान प्रसव, आयु और भोग। परिस्थिति जाति नहीं बदल देगी। मनुष्यका, पशुका, एक जातिका सजातीयमें सन्तानोत्पादनकी शक्ति, उस सन्तानसे सन्तति-परम्परा चलना, उसकी आयुकी सीमा और उसका स्वाभाविक आहार, यह परिस्थिति नहीं बदल सकती।

जब अंग्रेज अमेरिका गये थे, उस समयका उनका चित्र, आजके अमेरिकनका चित्र और अमेरिकाके एक रेडइण्डियनका चित्र लेकर देखिये। आजके अमेरिकनकी आकृति रेडइण्डियनसे अधिक मिलती है। इसका अर्थ है कि उसकी आकृतिमें उस देशकी जल-वायुके अनुसार परिवर्तन हो रहा है; किन्तु रेडइण्डियनकी आकृति ज्यों-की-त्यों है। उसमें परिवर्तन पूरा हो चुका। इसी प्रकार एक ही मनुष्यजाति स्थानके प्रभावसे हब्शी, चीनी, यूरॉपियन, ध्रुवीय देशके वौने—इन विभिन्न आकृतियोंमें परिस्थितिके

कारण परिवर्तित हुई है। परिस्थिति इतना ही परिवर्तन कर सकती है। पर सब कहीं मनुष्य मनुष्य ही है। वह न तो सैकड़ों वर्ष जीनेवाला सर्प बना और न कुल आठ-दस वर्ष जीनेवाला पक्षी। किसी भी दो जातिके मनुष्योंसे सन्तान-क्रम चल सकता है। प्रत्येक मनुष्य फलोंको रुचिपूर्वक खाता है।

‘परिस्थितिजन्य परिवर्तन यदि जाति नहीं बदल सकता और एक जीव क्रमशः विकसित होकर नहीं बना, तो इतने जीव सृष्टिके आदिमें एक साथ कैसे बन गये?’ इसी प्रश्नको न सुलझा पानेके कारण डार्विन विकासवादके भ्रममें पड़ा। भारतीय शास्त्र कहते हैं कि ‘पृथ्वी जलसे प्रकट हुई। पृथ्वीतत्त्व जलका परिणाम है। अतएव इसके क्रमशः शीतल होनेका प्रश्न ही नहीं है। यदि यह गोला थी तो जलका थी। आजतक भी समुद्रोंसे नवीन-नवीन द्वीपोंके निकलनेके समाचार आते ही रहते हैं। जैसे आज समुद्रसे नवीन द्वीप प्रकट होते हैं, वैसे ही आदिसृष्टिमें भी जलसे पृथ्वी प्रकट हुई। आज जैसे वरसातमें वीरबहूटी, केंचुए प्रकट हो जाते हैं, जैसे मेढ़कको सुखाकर चूर्ण बनाकर रख लें और वर्षाके समय जलमें फेंकें तो तुरन्त सैकड़ों छोटे मेढ़क कूदने लगते हैं, जैसे आज भी जलमें नित्य सैकड़ों नवीन प्रकारके कृमि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी सब जीव एक साथ उत्पन्न हो गये।

जीवोंके उत्पन्न होनेके दो क्रम संसारमें स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं। एक तो सन्तति-परम्परासे और दूसरे उस जीवके शरीरांशसे। मेढ़क, वीरबहूटी, केंचुए ये सब वच्चे उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे कोई भी वर्षाके प्रारम्भमें मिट्टीसे भी उत्पन्न हो सकता है; किन्तु मेढ़क वहीं उत्पन्न होगा, जहाँ मेढ़कके शरीरका अंश हो। वीरबहूटी एवं केंचुए भी अपने शरीरांशसे ही उत्पन्न होंगे, चाहे वह शरीरांश सूखकर मिट्टीमें चूर्णित क्यों न हो गया हो। सब मिट्टी केंचुआ, वीरबहूटी या मेढ़क नहीं बन सकती। इसका अर्थ है कि सृष्टिके आश्रित बहुतेसे जीव उत्पन्न तो हो सकते हैं, किन्तु उनके जीवन-बीज होने चाहिए। जीवन-बीजकी खोजमें जानेपर पहले बीज या पहले वृक्षका प्रश्न आता है। सृष्टिकी अनादि-परम्परा माने बिना छुटकारा नहीं।

‘मान लें कि सृष्टि अनादि है; किन्तु जब सर्वप्रथम पृथ्वी प्रलयके पश्चात् प्रकट हुई, तब जीवन-बीज कहाँसे आये! पृथ्वीमें तो प्रलयके समय नष्ट हो गये थे। जब पृथ्वी जलात्मक या उससे पूर्व आग्नेय थी, तब वहाँ

जीवन किसी प्रकार सम्भव नहीं था। जब जीवन ही नहीं था तब जीवन-बीज कैसा। उससे पूर्व-सृष्टिका जीवन-बीज रक्षित रह सकता है, बिना इसे माने कोई मार्ग नहीं। क्योंकि विश्वमें परिस्थिति जीवन उत्पन्न नहीं करती, यह स्पष्ट हो चुका है। पूर्व-सृष्टिके जीवन-बीज रक्षित थे तो कहाँ थे? क्यों रक्षित थे?' इनका अन्वेषण करनेपर आपको एक सृष्टिकर्ता चेतनकी सत्ता स्वीकार करनी होगी और मानना पड़ेगा कि समस्त जीवन-बीज उसीके समीप सुरक्षित थे।

जीवनकी एक प्रकारकी विजातीय-सी उत्पत्ति हम संसारमें और देखते हैं। जुएँ, खटमल, नालीमें अन्नके कीड़े इसके उदाहरण हैं। ये स्वयं सन्तान उत्पन्न करते हैं और बिना आदि बीजके मनुष्यके पसीने और नालीके सड़े अन्नसे उत्पन्न हो जाते हैं। नालीमें जब अन्न सड़ता है और पूँछवाले कीड़े उत्पन्न होते हैं, तब न तो वहाँ उनको उत्पन्न करनेवाला कोई कीड़ा पहलेसे होता और न किसी कीड़ेके शरीरका अंश। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्नमें ही उनको उत्पन्न करनेका बीज था। अन्नसे ही मनुष्य-शरीर बना है। अतएव एक ही अन्नका परिपाक दो रूपोंमें सम्भव है। मनुष्यके स्वेदसे खाटमें खटमल तथा वालों और कपड़ोंमें जुएँ उत्पन्न होते हैं। स्वेदमें परिस्थिति-भेदसे दो जीव उत्पन्न हुए, इसका भी यही अर्थ है कि दोनोंके बीज स्वेदमें थे। स्वेद मनुष्यका है, अतः मनुष्यमें ही खटमल एवं जुँके मूल बीज रहते हैं, यह मानना पड़ेगा।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि एक बार जूँ बननेपर वह फिर खटमल नहीं बन सकता और खटमल जूँ नहीं बन सकता। स्वेदसे उत्पन्न होनेपर भी दोनोंकी जातियाँ पृथक् हैं। वे आगे अपनी ही जातिकी सन्तानें उत्पन्न करती हैं। दूसरी बात यह कि कहीं भी जीवका निर्माण जड़से नहीं होता। मिट्टी, पानी, पत्थरमेंसे कोई जीवन कभी प्रकट नहीं होगा। जड़ पदार्थ केवल जीवनका पोषण करते हैं। जीवनका उद्भव तो सदा चेतन या चेतनके शरीरांशसे होगा। खटमल आदि मनुष्यके पसीनेसे ही हो सकते हैं, वर्षा में खेतोंमें सफेद छत्रक (कुकुरमुत्ते) खेतोंमें भूमिसे निकल पड़ते हैं। खोज करनेपर यह सिद्ध हो गया है कि वे भूमिसे नहीं निकलते। किसी लकड़ीका अंश, पत्तोंकी सड़ी खाद, गोबर या किसी प्राणीके मिट्टीप्रायः शरीरांशसे ही वे निकलते हैं। विकासवादी भी वृक्षादिको जीवन-सृष्टिमें ही मानते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि एक ही जीवनयुक्त शरीरमें अनेक

प्राणियोंके जीवन-बीज हो सकते हैं। परिस्थिति-विशेषमें वे प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होनेके पश्चात् वे अपनी ही जाति चलाते हैं। उनमें प्रकट होनेके अनन्तर कोई विकास नहीं होता।

जीवोंकी यह अपरिमित सृष्टि क्यों हुई? हिन्दूओंमें तो चौरासी लक्ष योनियोंकी बात वच्चा-वच्चा जानता है। स्पेन्सरने वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वनस्पतियोंके तीन लाख बीस हजार भेद बताये हैं और प्राणियोंके भेद उसने बीस लाख लिखे हैं। उसके पश्चात् खोजमें कई लाख योनियाँ और मिली हैं। लाखों प्राणिवर्ग सृष्टिसे लुप्त हो गये; अभी पता नहीं, कितने सूक्ष्म प्राणी, समुद्री जीव, जङ्गलों एवं बर्फ़ीले स्थानों तथा भूमिके प्राणी अज्ञात होंगे। अतएव वैज्ञानिकोंको भी हिन्दुओंके प्राणिगणनाकी शङ्कामें अब सन्देश नहीं है। इतने प्राणी क्यों हो गये?

‘सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।’

इस सिद्धान्तके अतिरिक्त इसका कोई उत्तर नहीं। पूर्वजन्मके जैसे कर्म होते हैं, वे अपने परिणामस्वरूप जाति, आयु तथा भोग देते हैं। शास्त्र इन विविध योनियोंका यही कारण बतलाता है। प्रत्येक जीवकी गति, आयु एवं भोग निश्चित है। विभिन्न जातिके प्राणियोंसे नवीन प्राणी उत्पन्न करनेपर इसी कारण उसकी सन्तति-परम्परा नहीं चलती। क्योंकि किसी जीवका प्रारब्ध उस कृत्रिम जातिमें जानेका नहीं होता। कोई जीव उधर आकर्षित नहीं होता।

जिस प्रकार ‘समानप्रसवात्मिका जातिः’ का नियम निश्चिन्त है, वैसे ही जातिकी आयुका भी है। समान आयु एवं भोगको लेकर तो कृत्रिम प्राणी या पौधा बनाया भी जा सकता है; किन्तु विषम आयु एवं भोग लेकर यह भी नहीं किया जा सकता। गधे एवं घोड़ेकी आयु समान है, दोनोंका आहार समान है, अतः उनसे खच्चर हो सकता है। घोड़ी और बैलसे कोई सन्तान नहीं उत्पन्न की जा सकती। ऐसी दशामें पशु एवं पक्षीके मेलसे तो सन्तान हो ही कैसे सकती है। वृक्षोंपर कलम बांधनेवाले जानते हैं कि कलम सदा समानजीवी एकसे रसके पौधोंकी ही परस्पर बाँधी जा सकती है। दूधवाले पौधोंकी कलम बिना दूधवाले पौधोंपर नहीं लगेगी। उसी प्रकार जिस जातिके वृक्षकी आयु बहुत है, उसकी कलम कम वृक्षकी आयुके पेड़पर भी नहीं लग सकती।

किसी प्राणीके भोगमें भी व्याघात करनेपर वह टिकाऊ नहीं होता । जापानियोंने प्रयत्न करके मुर्गोंकी लम्बी पूँछें बना डालीं । विचित्र कबूतर बनाये । लेकिन उनकी सन्तति वैसी नहीं होती । वह साधारण कबूतर-जैसी ही होती । मि० लामार्कने चूहोंकी पूँछ काट-काटकर चाहा कि बिना पूँछके चूहे उत्पन्न हों ; किन्तु ऐसा हो नहीं सका । आजकल कुछ डेरी फार्मोंमें बछड़े और बछड़ियोंके सींग जड़से निकाल दिये जाते हैं, इससे बड़े होनेपर वे बैल या गौ बिना सींगके होते हैं । पर ऐसा नहीं होता कि बिना सींगकी गो-जाति पैदा हो गयी हो । सींग तो निकलते ही हैं, पीछे उन्हें काटा जाता है । किसी जातिका स्वाभाविक स्वरूप नष्ट करना शक्य नहीं है ।

जीवोंकी जातियाँ, उनकी आयु, उनके भोग निश्चित हैं । उनमें कृत्रिम विशेषता लानेपर वह विशेषता आगे नहीं चलती । कृत्रिम प्राणियोंकी सन्ततिपरम्परा नहीं चलती । यह सब सिद्ध करता है कि सृष्टिके आदिसे ही सभी जीववर्ग अपने मूल रूपमें ही हैं । यह दूसरी बात है कि डार्विन जिना खर्वाकार टेरोडेल्फिगोके मनुष्योंको पहचान न सका, वे पशु नहीं मनुष्य हैं और डार्विनके मतसे उसके पूर्वज वनमानुष पशु हैं । जातिका यह भेद उनके समान प्रश्वसे स्पष्ट हो जाता है और आकृतियोंमें इतना ही अन्तर परिस्थिति कर पाती है । वह जाति, आयु एवं भोग नहीं बदल सकती । सृष्टिके आदिमें सब प्राणी किसी चेतन सत्तासे उत्पन्न हुए । उस चेतन सत्तामें ही उनके बीज थे जो परिस्थितियोंकी भिन्नताके कारण उससे अभिव्यक्त हुए । प्रत्यक्ष निरीक्षणसे यही सिद्ध हुआ ।

हिन्दू-शास्त्रोंका सृष्टिक्रम यही है । सृष्टि अनादि है, सृष्टिकर्ताकी चेतनसत्ता है । प्रलयके समय समस्त जीव (जीवन-बीज) सृष्टिकर्तामें लीन हो जाते हैं । सृष्टिके समय विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंमें स्रष्टाके शरीरसे ही जीवोंका प्रादुर्भाव होता है । स्रष्टाके कुछ मानसिक पुत्रोंसे भी मानसिक सृष्टि होती है । जब यह सृष्टि प्रकट हो जाती है, तब सन्तान-परम्परासे अपनी अभिवृद्धि करती है । यही हिन्दू-शास्त्रोंका सृष्टि-सिद्धान्त है ।

डार्विनको वनमानुष देखकर भ्रम हुआ । उसके देशमें उसके समाजका सचमुच ज्ञान-विकास हुआ था । अतएव भ्रमको एक सहारा मिला । दूसरे बहुतसे विद्वान् उसकी प्रबल कल्पनासे भ्रान्त हो गये । यूरोपमें अब वैज्ञानिक इस भ्रमसे प्रायः छुट्टी पा चुके हैं । पर भारतमें अब भी उसी भ्रमपूर्ण

सिद्धान्तका पोषण, प्रचार एवं शिक्षण होता है, यह खेदकी बात है। विद्वान् सम्मुखके सत्यको न देखकर कल्पनाके पीछे दौड़ रहे हैं, यह चिराग-तले अँधेरा ही है। आदिमानव पूर्ण सभ्य था या असभ्य ? इसके उत्तरमें आजके विद्वान् कह देते हैं कि मनुष्य पहले जङ्गली था। सभ्यताका विकास हुआ है। वे देखते नहीं कि विकास किसी वस्तुका निर्माण होनेके पश्चात् नहीं होता। सब वस्तुएँ पहले शुद्ध बनती हैं। धीरे-धीरे फिर विकृत होती, सड़ती हैं। प्रकृतिमें जो भी पदार्थ प्रकट होता है, वह आदिमें शुद्ध, पूर्ण होता है। जलको ही ले लीजिये। वर्षाका जल पृथ्वीपर आनेसे पूर्व पूर्ण शुद्ध होता है। धीरे-धीरे वह सड़ता है। यही दशा मनुष्यके बनाये पदार्थोंकी है। आप अच्छी या बुरी जो वस्तु बना देंगे, यदि उसे सुधारने-सम्हालनेमें न लगे रहें तो वह धीरे-धीरे स्वतः विगड़ती जायगी। वासी भोजन, काममें न आनेवाला मशीनें आदि क्या यह नहीं बतलाती कि प्रकृतिका स्वभाव ही विकृत करनेका है। जब सब कहीं विकृति हो रही है, सब कहीं ह्रास हो रहा है तो मनुष्योंमें ही कैसे विकास होगा। मनुष्यकी बुद्धि भी तो प्राकृतिक ही है। नियम सब कहीं एकसे होते हैं, यह ध्यान रखना चाहिए।

सब पदार्थ विकृत हो रहे हैं। सबमें ह्रास हो रहा है। मनुष्यकी आकृति और शरीर-बलमें ह्रास हो रहा है, यह इतना स्पष्ट है कि विकासवादी भी इसे स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें, केवल मनुष्यकी बुद्धिका विकास हो रहा है, यह हास्यास्पद बात है। हम देखते हैं कि विकास करना बुद्धिका धर्म नहीं है। हम जो कुछ सीखते हैं, दूसरोंसे सीखते हैं। यदि हम अपने सीखे ज्ञानको स्मरण रखनेका प्रयत्न न करते रहें तो वह भूलता जाता है। बुद्धिका स्वाभाविक धर्म विस्मरण है, अतः विकास वहाँ सम्भव नहीं।

सृष्टिमें यदु नियम सर्वत्र एक-सा दिखलायी पड़ता है कि पदार्थ प्रारम्भमें पूर्ण, शुद्ध प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे उनमें विकार आता है। विकारके सीमासे अधिक होनेपर पदार्थका स्थूल रूप नष्ट हो जाता है और फिर उनके सूक्ष्म रूपसे नवीन शुद्ध स्थूल रूप प्रकट होता है। जल शुद्ध होता है जब वर्षा होती है। धीरे-धीरे सड़ता जाता है और अन्तमें सूखकर वाष्प हो जाता है। फिर वाष्पसे बादल बनकर वर्षा होती है। बच्चा उत्पन्न होता है रोगहीन। धीरे-धीरे वृद्धावस्था तक शरीर विकृत होता है। अन्तमें मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म। सभी पदार्थोंमें यही क्रम चलता रहता है। हिन्दू-शास्त्र पूरी सृष्टिके सम्बन्धमें भी यही क्रम बतलाते हैं। सृष्टि

प्रारम्भमें सत्ययुग था । मनुष्यके शरीर स्वस्थ, बलवान्, सुन्दर थे । मन निर्दोष था । सङ्कल्पमें पदार्थोंको प्रकट करनेको शक्ति थी । धीरे-धीरे ह्रास हुआ । त्रेता और उसके पश्चात् द्वापरयुग आया । अब कलियुग चल रहा है । इस युगके अन्तमें प्राणि-सृष्टिका क्षय होकर पुनः सत्ययुग आ जायगा ।

पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत् भी हिन्दू-शास्त्रके विकृतिवादको अब सन्देहहीन होकर स्वीकार करता है । विश्वमें जो नेत्रोंके सम्मुख प्रत्यक्ष ह्रासका क्रम चल रहा है, उसे कोई भी विचारशील कैसे अस्वीकार कर देगा ? इस ह्रासकी सीमाके पश्चात् क्या होगा ? यह विषय सम्मुखके पदार्थोंका क्या होता है, पूर्ण ह्रास देखनेसे जाना जा सकता है और तभी ज्ञात होता है कि चतुर्युगके ह्रास-क्रमके पश्चात् पुनः वही आदियुग । इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषियोंका आवर्तवाद सर्वथा पूर्ण एवं निश्चिन्त है ।

आवर्तवाद

सृष्टि कैसे हुई ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसने मानव-मस्तिष्कको सम्पूर्णतः उलझाया है । पाश्चात्य देशोंने इसपर जिस ढंगसे विचार किया है, वह और भी उलझनमें डालने-वाला है । वहाँ भूगर्भशास्त्र तथा पृथ्वीमें मिले जीवोंके ढाँचोंको देखकर डार्विनने विकासवादकी प्रतिष्ठा की और यह मत अत्यधिक प्रख्यात हुआ । अब यूरोप तथा अमेरिकामें विकासवादका बहुत अधिक खण्डन हो चुका है और सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक उसमें विश्वास नहीं करते । इतना होनेपर भी पाश्चात्य देशोंमें जनसाधारणका विश्वास विकासवादपर ही है और भारतका नवपठित समाज तो उसकी धारामें वह चला है । मनोविज्ञान, इतिहास, भूगोल, ज्योतिःशास्त्र प्रभृति समस्त विषयोंपर विकासवादका भ्रामक प्रभाव पड़ा है और धर्मके लिए तो उसमें स्थान ही नहीं है । वह तो मानवभयके एक विकसित स्वरूपकी मान्यता बन जाता है इस सिद्धान्तमें ।

विकासवादकी मान्यताएँ अद्भुत हैं । डार्विन तथा उनके अनुयायियोंका कहना है कि प्रारम्भमें पृथ्वी एक गैस (प्रज्वलित वायु) या

अग्निका गोला थी। धीरे-धीरे वह कड़ी हुई और ठंडी हुई। फलतः उसका ऊपरी भाग ऊँचा-नीचा और कड़ा हो गया। उसपर वायु एवं जलका प्रादुर्भाव हुआ। पहले पृथ्वीका ऊपरी भाग परतहीन ठोस चट्टानोंके रूपमें था। ताप एवं वायुके प्रभावसे ये चट्टानें क्रमशः टूटीं और धीरे-धीरे मिट्टी बनीं।

जीवनके सम्बन्धमें उन लोगोंका कहना है कि चाहे जैसे भी हो, जीवनतत्त्वका प्रथम आविर्भाव उद्भिजके रूपमें हुआ और वह हुआ जलमें। अर्थात् पहले एक प्रकारकी सूक्ष्म काई बनी और उसीसे जलवायुके प्रभावसे समस्त जलीय एवं पृथ्वीके तृण, वीरुध, लता, गुल्म एवं वृक्षोंका क्रमशः विकास हुआ।

इसी मूल जीव-बीजसे जलमें ही एक दूसरी शाखा चल पड़ी। यह शाखा चेतन थी। आरम्भमें अमीबाकी भाँतिके सूक्ष्म जलजन्तु हुए। धीरे-धीरे जलकीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वाराह, रीछ, बन्दर, वनमानुष आदिके क्रमसे विकसित होता हुआ मनुष्य बना है। उस आदि जीवाणुसे मनुष्यतक पहुँचनेके लिये मध्यमें सैकड़ों जीव हैं और कई सहस्रवर्षमें मनुष्य इस रूपमें आया है।

उस मूल जीवाणुसे मनुष्य तककी शृङ्खलाके बहुतसे ढाँचे डूँढ़ निकाले गये हैं, जैसे मनुष्य और बन्दरके मध्यमें वनमानुष। जहाँ यह शृङ्खला नहीं मिली है, मान लिया गया है कि मध्यके ढाँचोंके जीव नष्ट हो गये और उनके कंकाल भी उपलब्ध नहीं। इस प्रकार यह विकासवादका स्वप्न-भवन खड़ा हुआ है।

यह विकास या परिवर्तन क्यों हुआ? विकासवादके आचार्योंका कहना है कि इच्छा और आवश्यकताके कारण। भोजनके लिए प्रयत्न और प्राकृतिक सघर्षों एवं शत्रुओंसे रक्षाके लिए जीवोंको अनेक परिवर्तनोंमें होकर निकलना पड़ा। उनमें जो अपनेको प्रकृतिके अनुकूल बनानेमें सफल हो सके, वे तो बचे रहे और जो उन सघर्षोंमें अपनेको परिवर्तित न कर सके, वे मिट गये। इस प्रकार शरीरमें परिवर्तन क्रमशः हुआ।

उदाहरण वे देते हैं कि जैसे पानीमें लकड़ियाँ तैरा करती हैं। उनके सड़नेपर उनमें कीड़े पड़ते हैं। उन्हें भक्षणार्थ जो मछलियाँ उनपर उछल-

कर पहुँचने लगीं, वे क्रमशः मेंढक बन गयीं। इसी प्रकार जो मेंढक वृक्षोंके तनोंपर रेंगते कीड़ोंको पकड़ने लगे, वे धीरे-धीरे गिलहरी बन गये।

आश्चर्य तो यह है कि डाविनकी इस वृक्षों-जैसी कल्पनाने एक ओरसे पाश्चात्य विद्वानोंको भ्रान्त कर डाला और भारतके भी बड़े-बड़े मस्तिष्क नेत्र बंद करके उसीके पीछे दौड़ रहे हैं। इस भ्रान्तिका कारण है मिलती-जुलती आकृतियोंकी परम्परा। बंदर, वनमानुष, मनुष्य और इस आकृति-परम्पराने मनुष्यको सुझाया कि मनुष्य बंदरसे विकसित हुआ है, बंदरकी सन्तान है। धर्मको पृथक् न रख दिया गया होता तो मनोविज्ञान बता देता कि मनका स्वभाव शृङ्खलात्मक गतिका है। वह एक बातसे दूसरी तक किसी साम्यके द्वारा ही पहुँचता है। स्रष्टाके मनकी यही गति सृष्टिमें आकृतियोंके शृङ्खलात्मक साम्यका कारण है। वे एक दूसरेसे विकसित नहीं हुई हैं।

इस विकासवादके विरुद्ध पाश्चात्य देशोंमें ही बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने बहुत प्रबल प्रमाण दिये हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि विकासवाद आवश्यकताजन्य इच्छाको आकृति-परिवर्तनका कारण मानता है। इसी मूल-धारपर वह खड़ा है। साथ ही वह भूल जाता है कि शरीरके अनेक भागों पर इच्छाका कोई भी नियन्त्रण नहीं है। अतः इच्छाके द्वारा उनमें परिवर्तन सम्भव ही नहीं।

आकृति-परिवर्तनका आधार अस्थि है। जब तक हड्डियोंमें परिवर्तन न हो, आकृतिमें परिवर्तन नहीं होगा। अस्थिपर इच्छाका कोई नियन्त्रण नहीं। यदि कोई अङ्ग टूट जाय और उसकी हड्डी बाहर निकल जाय तो उस समय देखा गया है कि हड्डीको छूने, काटने आदिका कोई दुःख नहीं होता। इसी प्रकार दाँत, बड़े नख, रोम, केशपर इच्छाका कोई नियन्त्रण नहीं। दाँतोंमें छिद्र करके लोग स्वर्ण लगवा लेते हैं। नख तथा केश काटे जाते हैं। कोई कष्ट नहीं होता। इच्छा करके आप अस्थि, नख, रोम, केश, दन्तको हिला तक नहीं सकते। जिसपर इच्छाका नियन्त्रण ही नहीं, उसमें इच्छाके द्वारा परिवर्तन कैसे संभव है।

हम देख चुके कि इच्छा अस्थिमें परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः आकृतिमें भी परिवर्तन करनेमें वह असमर्थ है। अब रही दीर्घकालीन आवश्यकता और अभ्यास। आवश्यकताका अनुभव मनको होता है। मनमें

ही उसे पूर्ण करनेकी इच्छा होती है। अतः आवश्यकताको इच्छासे भिन्न इस सम्बन्धमें नहीं गिना जा सकता।

अभ्यासकी बात तो प्रत्यक्षके ही विरुद्ध है। जब तकका इतिहास प्राप्त है, एक भी बंदर वनमानुष नहीं बना है। पता नहीं, कितने युगोंसे मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैंडके हिमप्रान्तमें वसा हुआ है। उसकी आवश्यकता और अभ्यास अब तक भी उसके शरीरपर रीछ-जैसे रोम न दे सकी। उसके रोम भी हमारे ही आप-जैसे हैं। शीतसे रक्षाका प्रबन्ध उसे बुद्धिके द्वारा ही सोचना पड़ा।

अफ्रीकाके अत्यन्त उष्ण प्रान्तमें रोमहीन भैंसा और दीर्घरोमा रीछ दोनों होते हैं। दूर क्यों जायँ, अपने यहाँ देशभरमें भैंसे हैं। गायके शरीरपर तो कठोर चर्म एवं रोम हैं; किन्तु भैंसका चर्म पतला और छोटे रोमों का है। बेचारी सर्दीमें भी कष्ट पाती है और ग्रीष्ममें तो दुर्वशा ही होती है उसकी। इतनेपर भी आदि युगसे अब तक आवश्यकता और इच्छा उसके शरीरपर बड़े रोम न दे सकी। इस प्रकार सहस्रों उदाहरण हैं, जो सिद्ध करते हैं कि जो जीव जिस प्रकारके हैं, उनमें कोई परिवर्तन इच्छा, आवश्यकता और अभ्याससे नहीं होता। अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितिमें उनकी जातियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब भी परिवर्तन नहीं होता।

सबसे विचित्र बात यह है कि उपलब्ध कंकालों एवं आकृतियोंके बलपर विकासवादका वर्णन करने वाले भी स्वीकार करते हैं कि कई सहस्रवर्ष पूर्व जो जीव जिस रूपमें थे, उनमेंसे या तो कुछ जातियाँ नष्ट हो गयीं या जो हैं, वे ज्यों-की-त्यों हैं। उनमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ। वे इसका कोई कारण नहीं बता पाते कि अब मछली क्यों मेंढक नहीं बनती मेंढक क्यों गिलहरी नहीं बनता। क्यों एक भी बंदर सहस्रों वर्षोंमें वनमानुष और वनमानुष मनुष्य नहीं बनता।

यहाँ तक तो जीवके विकासकी दशा हुई। हम पहली बात भी सोच लें कि क्या वास्तवमें पहले पृथ्वी अग्निका पिण्ड थी और धीरे-धीरे ठंडी हुई है। न्यूटनका एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि 'गतिके लिए शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। गतिको निरुद्ध करनेके लिए शक्तिकी आवश्यकता है।' इसी प्रकारका दूसरा सिद्धान्त है कि 'वस्तु (पदार्थ) स्वयं परिणामी नहीं। वह दूसरे प्रभावसे परिणामी होता है।' अर्थात् जो वस्तु जैसी है, यदि

उसपर दूसरा कोई प्रभाव न पड़े तो वह ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। वायु-हीन बोतलोंमें शीतल जल या गर्म चाय बहुत देरतक ज्यों-की-त्यों रहती है, यद्यपि बोतलपर बाहरी वायुका प्रभाव पड़ता रहता है और इसीसे भीतर की वस्तु प्रभावित हो जाती है। अब आरम्भमें जब पृथ्वी वायुहीन गगनमें आगका गोला थी, तो वह शीतल ही क्यों हुई ? किस बाह्य प्रभावने उसे शीतल किया ? इसका उत्तर विकासवादके पास कुछ भी नहीं है।

सबसे बड़ी धाँधली करनी पड़ती है विकासवादको मनुष्यके सम्बन्धमें। क्योंकि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो आकृतिमें वनमानुषसे भले मिलता हो किन्तु दूसरी सब बातोंमें सृष्टिके समस्त प्राणियोंसे विलक्षण है। इन विलक्षणताओंको उसने क्यों और कैसे प्राप्त किया, यह बतलाना आधुनिक वैज्ञानिकके लिए सम्भव ही नहीं है।

विकासवादी मानते हैं कि मनुष्यकी भाषा, आचरण तथा सभ्यताका क्रमशः विकास हुआ है; किन्तु मनुष्य स्वयं इस सिद्धान्तका साकार विरोध है। मानवशिशु बिना सिखाये कुछ भी सीखनेमें असमर्थ है। यदि मनुष्य पशुयोनियोंसे विकसित होकर आया है तो जलमें तैरने तथा वृक्षपर चढ़नेके उसके संस्कार क्यों हो गये ? बिना सिखाये तो शेरके आनेपर वह भक्ष्य हो जाता है किन्तु वृक्षपर चढ़ नहीं पाता। जलमें डूबनेकी दुर्घटनाएँ होती ही रहती हैं। एक भी ऐसा कर्म नहीं है, जो पशुशावकको जन्मसे ही अपनी जातिके अनुरूप न आता हो और एक भी कर्म नहीं है, जो मानवशिशु सीखकर आता हो। वह अपनी माताका स्तन तक ढूँढ़ नहीं सकता। सबसे उच्चतम विकास, जैसा कि मानवके सम्बन्धमें विकासवाद कहता है, इस प्रकार ज्ञानशून्य, दुर्बल क्यों है ?

मनुष्यकी जैसी यह विशेषता है कि जन्मसे वह कुछ नहीं सीखकर आता, वैसे ही यह भी विशेषता है कि वह सङ्गसे सिखानेपर सब कुछ सीख सकता है। वह घाससे कच्चे मांस-तकपर रह सकता है। वह वृक्षपर, पृथ्वीपर, भेड़ियोंद्वारा पालित होनेपर बिलमें और जलमें भी रह सकता है। इस प्रकार उसका वर्गीकरण नितान्त असम्भव हो जाता है।

ब्रह्माकी सृष्टिका यह जीव मानव और भी विशेषताएँ रखता है। सभी विश्वके जीव उत्पन्न होनेपर जैसे रोम लेकर आते हैं, अन्त तक उनके रोम उसी प्रकारके रहते हैं। किन्तु मनुष्यके रोम तथा केश उत्पन्न होनेपर

पीताभ, फिर काले, फिर श्वेत, और अन्तमें भूरे हो जाते हैं। उसके रोम एवं केश चार रङ्ग बदलते हैं।

हमें जान लेना चाहिए कि केशोंके रङ्ग-परिवर्तनसे मनुष्यकी कोई आवश्यकता सम्बन्धित नहीं है और कोई भी मनुष्य नहीं चाहता कि उसके केश श्वेत हो जायें। दाँतोंका गिरना तो मनुष्यकी आवश्यकता एवं इच्छा दोनोंके विपरीत है। मानवकेशोंका रङ्ग क्यों बदलता है यह बताना उतना कठिन नहीं, जितना विकासवादके लिए यह समस्या है कि वनमानुष जब इस रूपमें आया तो यह विशेषता उसे प्राप्त किस प्रकार हो गयी और किसलिए।

विकासवादके अनुगत मनोवैज्ञानिक मानवकी सद्भावनामें विश्वास नहीं करते। वे मानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, क्रूर, कामी अर्थात् पशु है। सामाजिक आवश्यकताओंसे विवश होकर वह अपने स्वभावपर नियन्त्रण रखता है। उसकी अतृप्त वासनाएँ, जो समाजके कारण चरितार्थ नहीं हो पातीं, उसके अन्तर्मनमें चली जाती हैं और बराबर प्रकट होनेका प्रयत्न करती हैं। लज्जा, दण्ड, भय एवं अयश तथा हानिकी आशङ्कासे बुद्धि उन्हें रोके रहती है। इस मतमें धर्म एवं ईश्वरके लिए स्थान है ही नहीं। यह मत मानता है कि भय जो विद्युत्पात, भूकम्प आदिके कारण आदि जंगली मानवमें हुआ, उसीने अज्ञातशक्तिका रूप धारण किया। वही अज्ञातशक्ति 'ईश्वर' हुई और उसे तुष्ट करनेका 'प्रयत्न' धर्म।

एक वाक्यमें कहें तो कह सकते हैं कि विकासवाद कहता है कि प्रकृतिका स्वभाव उन्नति करनेका है। आदिमें जड़से ही जीवनकी उत्पत्ति हुई और वही पशु-पक्षी आदि योनियोंमें विकसित होते-होते मनुष्य हो गया है। धर्म एवं ईश्वर मानवके अज्ञान तथा भयसे माने गये हैं। मानव-स्वभाव मूलतः पशु जैसा है। धीरे-धीरे मनुष्यमें सभ्यता आयी है। मनुष्य भौतिक एवं नैतिक जगत्में उन्नति कर रहा है।

इस मतका मनोवैज्ञानिक नहीं बता पाता कि हम स्वप्नमें भी क्यों श्रेष्ठ दान-पूजादि कर्म करते हैं? क्योंकि स्वप्नमें अन्तर्मनपर बुद्धिका नियन्त्रण नहीं होता। उस समय अन्तर्मनमें निहित वासनाओंको प्रकट होनेका पूर्णतः अवकाश प्राप्त होता है। यदि मनुष्य मूलतः पशु-प्रकृतिका है और उसकी पाशविक वासनाएँ बुद्धिद्वारा दबायी रहती हुई हैं तथा

सतत प्रकट होनेकी चेष्टामें रहती हैं तो स्वप्नमें तो सभी मनुष्योंको केवल उन पाशविक वासनाओंके ही दृश्य देखने चाहिए। वासना एवं भोगको ही प्रधान माननेवाले ये आधुनिक विद्वान् अपने ही रूपमें विश्वको देखते हैं। वे समझ ही नहीं पाते कि मनुष्य ऐसा भी हो सकता है, जो स्वप्नमें भी सदा धर्मरत रहे, भगवद्दर्शन करे, स्वप्नमें भी कभी वासनाके जालमें न पड़े।

सृष्टि कैसे हुई ? विकासवादको छोड़ देनेपर पुनः यह प्रश्न आ जाता है। श्रुतिने एक वाक्यमें उत्तर दे दिया है—‘यथा पूर्वमकल्पयत्।’ अर्थात् यह सृष्टि-परम्परा अनादि है। सृष्टि और प्रलयका क्रम चलता ही रहता है। प्रत्येक बार पूर्वकल्पके अनुसार सृष्टि होती है और फिर उसी क्रमसे प्रलय भी। यह आवर्तवाद ही हमारे आर्य शास्त्रको स्वीकृत है।

डार्विन साहब और उनके अनुयायी दूरकी कौड़ी लानेमें इतने मग्न हुए कि सम्मुखके प्रत्यक्ष सत्यको वे देख ही न सके। वे यह तो मानते हैं कि प्रकृतिमें सब कहीं एक ही नियम कार्य करता है; किंतु उस नियमको वे दूर चले गये ढूँढ़ने। उन्होंने देखा नहीं कि जलवृष्टि होती है। जलका स्वरूप पूर्ण शुद्ध है। धीरे-धीरे वह शुद्ध जल सड़ता है दूसरे पदार्थोंके संयोगसे। जब अत्यन्त विकृति आती है और बाह्यद्रव्य अत्यधिक मिलने लगते हैं तो एक सीमापर आकर वह सूख जाता है। वाष्प बनकर पुनः वृष्टि होती है। जल पुनः शुद्ध हो जाता है। यही आतर्वक्रम प्रकृतिमें सब कहीं है। प्राणियोंमें, समाजमें, पदार्थमें और जातियोंमें सब कहीं यही नियम चलता है। शिशु उत्पन्न होता है—शुद्ध, निर्मल, असंपृक्त। धीरे-धीरे रोग और विकार आते हैं। वृद्धावस्था तक पहुँचकर वह मरता है और पुनः जन्म ग्रहण करता है। यही दशा सबकी है।

समस्त धार्मिक अनुष्ठान मनको शुद्ध एवं सात्त्विक बनानेके लिए हैं और उनकी सार्थकता इसीलिए है कि मन स्वरूपतः शुद्ध सात्त्विक है। उसकी उत्पत्ति सात्त्विक अहंकारसे हुई है। यदि मन मूलतः पाशविक हो, जैसा कि पाश्चात्य विकासवादी कहते हैं, तो उसकी शुद्धि कैसे सम्भव होगी। जल इसीलिए शुद्ध हो सकता है, क्योंकि स्वरूपतः वह शुद्ध है। विकार उसमें बाहरसे आये हैं। मन शुद्ध होता है। महापुरुषोंके मनमें स्वप्नमें भी वासनाएँ नहीं आतीं। यही बात यह कहनेके लिए पर्याप्त है कि मन स्वरूपतः वासनात्मक नहीं है। उसका वास्तविक स्वरूप शुद्ध है और इसीलिए वह शुद्ध किया जा सकता है।

सब जानते हैं कि जहाँतक इतिहास प्राप्त है, एक भी नयी जीव-जातिका निर्माण नहीं हो सका है। मनुष्य कलमी पौधे लगाता है; पर वे पौधे अपने बीजसे वृक्ष उत्पन्न करनेमें असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार घोड़ी और गधेके संयोगसे मनुष्य खच्चर उत्पन्न करता है; किंतु खच्चरके सन्तति नहीं होती। यदि किसी प्रकार खच्चरी गर्भ धारण कर ले तो उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? विकासवादके समर्थकोंको एक भी नव-विकसित जीव क्यों नहीं मिलता?

खच्चरके समान कृत्रिम जातियों एवं कलमी वृक्षोंकी सन्तति-परम्पराके न चलनेका हिन्दू-संस्कृतिके पास बड़ा पुष्ट कारण है। हमारे शास्त्र मानते हैं कि जीव अपने कर्मके अनुसार ही गर्भमें जाता है। अतएव जीवके उन कर्मोंके जिनका उपभोग पृथ्वीपर सम्भव है निश्चित श्रेणी-भेद हैं और उनके लिए उतनी ही योनियाँ हैं। कर्मानुसार जीव इन योनियोंमें आकर्षित होकर जन्म धारण करता है। खच्चरको तो आप घोड़ीसे प्राप्त करते हैं; किंतु स्वयं खच्चर कोई प्राकृतिक योनि नहीं है। फल यह होता है कि किसी जीवका कर्म खच्चर-योनिमें आकर्षित नहीं होता। फलतः इस प्रकारकी कृत्रिम योनियाँ सन्तति-परम्परा चलानेमें असमर्थ हैं।

जहाँ नवीन जीवकी सृष्टि न होना यह सिद्ध करता है कि जीव कर्मानुसार योनियोंमें ही जाता है, वहीं वह यह भी सिद्ध करता है कि ये योनियाँ प्रारम्भसे निश्चित हैं और इनमें परस्पर विकासका कोई क्रम नहीं है। ये अनादि हैं। स्पेंसरने बताया है कि अब तक तीन लाख बीस हजार वनस्पतियोंके भेद और बीस लाख प्राणियोंकी जातियाँ प्राप्त हुई हैं। भारतमें कुल चौरासी लक्ष योनियाँ मानी गयीं हैं और इसे यहाँका एक साधारण ग्रामीण तक मानता और जानता है।

विकासवादने इसलिए मनुष्यको भ्रान्त किया कि वैज्ञानिकोंकी बुद्धि यह न समझ पायी कि सृष्टिके आदिमें एक साथ इतने प्राणी कैसे उत्पन्न हो गये होंगे, यद्यपि वे देखते हैं कि वर्षाके प्रारम्भमें सहस्रों कीट एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी प्रयोगशालामें यह सिद्ध हो चुका है कि केंचुवे मिट्टीसे बाहर दिनमें बनते हैं। पहले दिन पृथ्वी ऊँची होती है। दूसरे दिन गोल होती है। तीसरे दिन कठिन होती है। चौथे दिन रङ्ग

बदलती है। पाँचवें दिन चमक आती है। छठे दिन भूमिसे पृथक् होती है। सातवें दिन वृद्धि होती है। आठवें दिन रङ्ग स्पष्ट होता है। नवें दिन और बढ़ती है। दसवें दिन चैतन्य होता है। ग्यारहवें दिन गति आती है और बारहवें दिन चलने लगता है कैचुवा। इसी प्रकार यदि मेंढकको गर्मीमें मारकर सुखाकर चूर्ण कर लिया जाय और कपड़ेमें छानकर शीशीमें भर रक्वा जाय, वर्षाके समय बरसते जलमें चूर्ण छोड़नेसे तत्काल उससे छोटे-छोटे मेंढक बनकर कूदने लगेंगे। जैसे यह सब सम्भव है, वैसे ही सृष्टिके आदिमें चौरासी लक्ष जीवोंकी एक साथ उत्पत्ति भी सम्भव होती है।

मनुष्य क्यों इतना निरीह है ? क्यों सर्वश्रेष्ठ मानव-शिशु इस प्रकारका होता है कि बिना सिखाये वह कुछ भी सीख नहीं पाता ? साथ ही मानवमें ऐसी शक्ति कैसे है कि वह सब प्रकारके आहार, वातावरण एवं जीवनके अनुरूप अपनेको बना लेता है यदि उसे ठीक प्रकारसे उसकी शिक्षा मिले ? विकासवाद इसका उत्तर दे नहीं सकेगा।

विकासवाद यहाँ बहुत बड़ी भूल करता है, जब वह कहता है कि मानवकी सभ्यता, मान्यता, भाषा आदि सब धीरे-धीरे विकसित हुई। वह भूल जाता है कि मानव दूसरे पशुओंके समान जन्मसे कुछ सीखकर नहीं आया करता। वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता, यदि उसे सिखाया न जावे। भेड़ियेकी माँदमें पले बच्चे जो पाये गये हैं, वे केवल भेड़ियेके समान आचरण करते देखे गये हैं। वे उतना ही सीख सके जितना भेड़ियेकी माँदाके साथ रहकर वे सीख सकते थे और उसने सिखाया। स्वयं वे न तो कुछ सोच सके और न सीख ही। अतः यदि मानवमूलमें जंगली, भाषाहीन, बर्बर पशु था तो उसने भाषा तथा व्यवहार सीखा किससे ? कहाँसे उसे प्रेरणा मिली ? यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं कुछ बिना प्रेरणाके सीख लेना मानव-प्रकृतिके सर्वथा विरुद्ध है।

बहुत सीधी बात है। शास्त्र कहते हैं कि विश्वकी समस्त योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मयोनि है। अतः दूसरी योनियोंके जीव अपने कर्मका फल भोगने आते हैं। अपने भोगके अनुरूप वे ज्ञान साथ ले आते हैं। मनुष्यको कर्म करना है। अतः वह पूर्णतः कोरा आता है। किसी प्रकारके ज्ञान एवं स्वभावका बन्धन उसके साथ लगाया नहीं गया। साथ ही उसे शक्ति दी गयी कि वह प्रत्येक प्रकारके ज्ञान एवं स्वभावको

ग्रहण कर सके। इतर प्राणियोंसे मनुष्यकी सर्वथा विलक्षणता इसीलिए है कि वह सबसे पृथक् कर्मयोनिता प्राणी है। वह कर्म करने और संस्कार-संचय करने आया है।

मनुष्य जब बिना सिखाये कुछ भी नहीं सीख सकता तो उसे सभ्यता, संस्कृति, धर्मादिका ज्ञान कहाँसे हुआ और कब हुआ? हम सनातनधर्मी मानते हैं कि स्वयं स्रष्टाने मनुष्यको वैदिक ज्ञान प्रदान किया और वह सम्पूर्ण ज्ञान है, जो सृष्टिके आदिमें मानवको मिला। आज भी मानवके पास उतना ही ज्ञान है। उसमें से कुछ भूला ही है, बढ़ा नहीं। इस विषयका विस्तृत विवेचन दूसरे निबन्धमें किया जा सकता है। यहाँ तो यह बताना अभिप्रेत है कि सृष्टिके सम्बन्धमें आर्य संस्कृतिकी व्यवस्था किस प्रकार की है।

सृष्टि हुई—यह शब्द ही भ्रामक है। वस्तुतः सृष्टि होती नहीं, नवीन नहीं बनायी जाती। वह अभिव्यक्त होती है। अर्थात् जो लुप्त हो गयी थी, सूक्ष्मरूपमें भगवान्‌के अन्तरमें लीन थी, प्रकट होती है। श्रीगीताजीमें भगवान्‌ने सिद्धान्त किया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

जो नहीं है, वह हुआ नहीं करता। जो है, उसका नाश नहीं होता। जो जीव-योनियाँ नहीं थीं, वे विकाससे हो नहीं सकती। जो ज्ञान नहीं था, वह फिर नहीं होगा। सब अनादि है। केवल वह कभी व्यक्त हो जाता है और कभी अव्यक्त। जैसे जल कभी बाष्प बन जाता है और कभी बाष्प जल।

पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी नहीं हुई और न क्रमशः ठंडी हो रही है। प्रकृतिसे महत्त्व, उससे अहङ्कार, अहङ्कारके तामस भेदसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल तथा जलसे पृथ्वी बनी। पृथ्वी और जल तथा वायुका कारण अग्नि नहीं है, अग्नि स्वयं जलसे उत्पन्न हुआ। पृथ्वी तो जलमें घनीभूत हुई। प्रारम्भमें वह जलमग्न थी। वह जलसे बाहर आयी और उसपर सृष्टि हुई। आदि सृष्टि मानसिक थी। स्रष्टाके द्वारा ही सम्पूर्ण उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज प्रकट हुए और मनुष्य भी। सम्पूर्ण योनियाँ एक साथ ही प्रकट हुईं। वे केवल व्यक्त हो गयीं।

आज भी यह प्रत्यक्ष है कि जब साधनसे मन शुद्ध हो जाता है तो हृदयमें ही सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित होता है। कबीर, तुकाराम आदि अपठित संत इसके उदाहरण हैं। जैसे जब जल बरसता है, शुद्ध रहता है और धीरे-धीरे विकृत होता है, वैसे ही आदिमें मानवमन पूर्णतः शुद्ध था। मनका स्वरूप स्वभावतः निर्मल था। आदिमानव परम-सात्त्विक, सदाचारी, धर्मात्मा, सुसभ्य और शान्त था। क्योंकि मन शुद्ध था, मानवकी रुचि धर्म, तप, ज्ञानमें थी। उसके निर्मल हृदयमें भगवदीय ज्ञान प्रकाशित होता था। अतः वह सम्पूर्ण ज्ञानसम्पन्न था। इसीसे उस युगको सत्ययुग कहा जाता है।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, मनुष्यका ज्ञान लुप्त होता गया। जैसे जल क्रमशः विकृत होता है, वैसे ही प्रकृति भी विकारी है। मानव बराबर बर्बर, असभ्य, बुद्धिहीन होता जा रहा है। इस प्रकार आजकी सभ्यता नीचे जा रही है। जब यह अपनी सीमापर पहुँच जायगी, तब नष्ट हो जायगी। प्रतिक्रियात्मक विस्फोट विनाश कर देगा और तब पुनः वह पूर्ण आदियुग प्रारम्भ होगा। इस प्रकार सत्ययुगसे गिरते हुए कलियुग तक गिरकर फिर प्रतिक्रियात्मक ध्वंसके पश्चात् वही क्रम प्रारम्भ होता है। सृष्टिके सम्बन्धमें यह 'आवर्तवाद' ही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

हिंदू-संस्कृति और धर्म

हिन्दू सदासे धर्मप्राण समाज है। हिन्दू-समाजका संगठन उस प्रकारको अर्थको आधार मानकर नहीं हुआ है, जैसे पाश्चात्य समाजका अर्थपर अवलम्बित है, अपने प्रत्येक कार्यमें अर्थको प्रमुखता देता है, वैसे ही हिन्दू-समाज धर्मपर अवलम्बित है। जीवनके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य यहां धर्मके आधारपर व्यवस्थित होते हैं। 'धारयतीति धर्मः।' जो समाजका, व्यक्तिका धारण करे, वह धर्म है। * यह धर्मकी पहली परिभाषा है।

* 'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।

(महाभारत)

धर्मकी उपेक्षासे ही वर्तमान मनुष्य-समाजका पतन हुआ है। घूसखोरी, अनाचार, धूर्तता, चोरी, ठगी, हत्याएँ, विश्वासघात—ये सब कुकृत्य धर्मकी उपेक्षासे ही मनुष्यमें आये हैं और आते जा रहे हैं। विश्वमें विनाशकी ओर जानेकी प्रवृत्ति धर्मत्यागसे ही आयी है।

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'

'धर्मका जो नाश करेगा, धर्म उसका विनाश कर देगा और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।' यह प्राचीनतम सिद्धान्त जीवनमें प्रत्यक्ष है। आज बड़े गर्वसे कहा जाता है कि 'प्रगतिवाद मनुष्यको जिस प्रकार पूँजीपतियोंकी आर्थिक दासतासे मुक्त करना चाहता है, वैसे ही आसमानी शासक ईश्वरकी दासता और धर्मके बन्धनोंसे भी।' बड़ा अच्छा है—मनुष्यको दासताओंसे मुक्त होना ही चाहिए, पर फिर मनुष्य समाजकी ही दासता क्यों करे? समष्टिके स्वामी सर्वेश्वरकी दासतासे मुक्त होकर वह देश, जाति, राष्ट्रकी कल्पित दासतामें क्यों लगे? फिर वह परोपकार, संयम, त्याग, श्रम—यह सब करे ही क्यों?

आज 'दासता मुक्ति' यह शब्द बड़ा लुभावना लगता है, पर इसका अर्थ कितने लोग जानते हैं, यह कहना कठिन है। ईश्वर या धर्मने कभी आपसे कहा कि आप उनकी दासता करें।

जैसे अग्निका धर्म उष्णत्व है—उष्णता न हो तो अग्निकी सत्ता ही नहीं रह जायगी—ऐसे ही धर्म न हो तो हिंदूसमाजकी सत्ता ही नहीं रहेगी। धर्मपर ही यह संस्कृति अवलम्बित है। पाश्चात्य आलोचक जब अपनी ही भाँति हमारे समाजको भी अर्थपर अवलम्बित मान लेते हैं, तो उनके विश्लेषण भ्रमपूर्ण होने ही हैं। पाश्चात्य प्रणालीको आदर्श मानकर किया गया विश्लेषण अनर्गल कल्पनाओंमें मनुष्यको डालेगा ही।

धर्म ही मनुष्यको धारण करता है, यह बात आजके सुपठित भले न समझ सकें, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष है कि कभी उन्होंने आपको रोका कि आप अमुक कार्य न करें ? उन्हें स्वीकार करके उनका अनुगमन करनेके लिए क्या आप सदासे स्वतन्त्र नहीं हैं ? प्रश्न तो यह है कि 'मुक्ति' चाहिए किसलिए ? बच्चेको माताकी गोदसे मुक्ति चाहिए लाल-लाल दीखते अङ्गारोंसे खेलनेके लिए, पागलको मुक्ति चाहिए शस्त्रसे आघात करनेके लिए और मनको संयमसे मुक्ति चाहिए क्रूरता, लोलुपता, कामुकताको प्रश्न देनेके लिए ऐसी ही मुक्ति अभीष्ट है ?

प्राचीन समाजने कहा—'धर्मके अनुसार चलो। परमेश्वरके सम्मुख नम्र रहो, यह दासता कल्याणमय है। मनकी दासतासे मुक्ति पाओ। यही सच्ची मुक्ति है।' आधुनिक समाज कहता है—'धर्म और ईश्वरकी दासतासे मुक्ति पाओ। यह दुर्बलता है ! नियमबन्धन व्यर्थ हैं। मनकी दासता स्वीकार करो। मन जैसा कहे, करो।' दासता, तो एककी स्वीकार करनी ही है। धर्मके बन्धन सुख, शान्ति, सन्तोष देंगे, क्योंकि चञ्चलता, लोलुपता संघर्षको वहाँ स्थान नहीं। मन-इन्द्रियोंकी दासता देगी शोक, चिन्ता, अशान्ति और संघर्ष, क्योंकि मन कभी तृप्त होता नहीं। विश्वमें सब मनमानी कर नहीं सकते। मनकी सब इच्छाएं पूरी नहीं हो सकती और जब सबको मनचाही करनी है तो सबल दुर्बलोंका उत्पीड़न करेंगे ही। मनुष्यको यही विचार करना है कि वह कौन-सी दासता स्वीकार करेगा, धर्मकी मज्जलमय अधीनता या मनकी पैशाचिक दासता ?

'धर्मकी उपेक्षासे विनाश होता है, यह बात पारलौकिक दृष्टिसे आप मानें या न मानें, लौकिक दृष्टिसे ही यह प्रत्यक्ष है। रोगी, दुर्बल, दुखी और अशान्त मानव क्या मृतप्राय नहीं है ? क्या रोग, दुर्बलता, दुःख, अशान्ति—ये असंयमके ही परिणाम नहीं हैं ? जहाँ भी, जितने अंशमें कोई व्यक्ति या समाज धर्मके किसी नियमकी उपेक्षा करता है, उतने अंशमें उसकी हानि

होती है। उदाहरणके लिए एक व्यक्तिने चोरी या बलात् धन प्राप्त किया। देखनेमें वह धनी और सुखी हो गया, परन्तु उसकी मानसिक शान्ति भङ्ग हो गयी। वह मनकी दासतामें बद्ध हो गया। अब वह असंयमके मार्गपर जायगा और रोग, शोक आदि उसे सतायेंगे। जो जातियां या समूह अपने यहाँ हिंसादि तत्त्वोंको उत्तेजित करके, दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके पुष्ट होती है, हिंसक तत्त्व स्वयं उनके विनाशक बन जाते हैं।

धर्मकी उपेक्षासे विनाशको समझ लेनेपर धर्मकी रक्षासे अपनी रक्षा होती है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता। अपनी रक्षाका क्या अर्थ? मनुष्यका शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही। संसारके पदार्थ भी नष्ट होंगे। अपनी रक्षाका सच्चा अर्थ तो है मानसिक शान्ति, पवित्रता और दृढ़ताकी रक्षा। वैसे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि धर्मकी रक्षासे, संयमसे स्वास्थ्य, बल आदिकी रक्षा होती है, किन्तु ये गौण बातें हैं। इनमें अपवाद भी हो सकते हैं। दुष्ट व्यक्ति धार्मिककी सम्पत्तिको अपहरण कर सकते हैं और उसे आघात पहुँचा सकते हैं। इतनेपर भी जिसका मानसिक बल स्थिर है, वही रक्षित है। क्योंकि विनाशके जो कारण हैं—लोभ-कामादि, उनसे वह सुरक्षित है। बलसे सुरक्षाका यह अर्थ नहीं कि आप घरसे बाहर न निकलें, सुरक्षा ठीक तब जब भीगनेपर भी रुग्ण न हों। इसी प्रकार जो मानसिक दृढ़ता प्राप्त कर चुका है, वही सुरक्षित है। उसकी सुख-शान्ति अभङ्ग है। यह सुरक्षा धर्मकी रक्षासे ही प्राप्त होती है।

आज विश्वमें राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्म आदि विभिन्न धर्मोंका उद्घोष किया जाता है, परन्तु धर्म दस-बीस या सौ दो सौ नहीं हो सकते। अग्निका धर्म एक है—उष्णता, जलका धर्म है—रस, ऐसे ही मनुष्यका भी एक ही धर्म है। यह दूसरी बात है कि अग्निकी उष्णता जैसे गति, शक्ति और प्रकाशके रूपमें प्रकट होती है तथा उसकी आकृति तथा प्रभावमें देश, काल, पात्रके अनुसार विभिन्नता होती है, वैसे ही देश, काल, पात्रके अनुसार धर्मके भी स्वरूपमें भेद होता है। धर्मका मुख्य रूप क्या है? यह प्रश्न तब सहज ही उठता है। शास्त्रोंका कहना है कि प्राणिमात्रका प्रयत्न दुःखहीन शाश्वत सुख पानेके लिए है, अतएव दुःखहीन शाश्वत सुख पानेका भ्रान्तिहीन प्रयत्न ही वास्तविक धर्म है। वह है अन्तर्मुखता। जो प्रयत्न अन्तर्मुखताकी प्रेरणा दे, वह धर्म और जो बहिर्मुख करे, वह अधर्म—यह सार्वभौम सार्वकालिक धर्मकी परिभाषा है।

बहिर्मुखता मनुष्य और समाजको असंयमकी ओर, विनाशकी ओर ले जाती है और अन्तर्मुखता संयम तथा शान्तिकी ओर। मन भी एक भौतिक तत्व है, यह सभी जानते हैं। जलको आप जितना छानेंगे, शुद्ध करने और ढक रखनेका प्रयत्न करेंगे, उतना ही वह स्वच्छ रहेगा। उसे खुला छोड़ देंगे तो विकृत हो जायगा और फिर हानिकारक होगा। समस्त पदार्थोंका यही नियम है। मन भी पदार्थ ही तो है। उसे खुला छोड़ेंगे तो विकृत होगा, हानि करेगा। ढककर रखेंगे, संयमित रखेंगे तो सुख-शान्ति देगा।

यदि अन्तर्मुखताका प्रयत्न ही धर्म है तो उससे व्यक्ति और समाजका धारण कैसे होगा? हिंदू-समाजके इतने कर्म-विस्तारका भी क्या अर्थ? अन्तर्मुखताका प्रयत्न और धारणा-शक्ति—ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। शरीर जड़ है। व्यक्तिमें जो चेतनता है, वह अन्तस्तलसे आती है। यह सभी जानते हैं कि जिस काममें जितनी एकाग्रता होती है, वह कार्य उतना ही भली प्रकार सम्पन्न होता है। शक्तिका स्रोत भीतर है। जो जितना ही अन्तर्मुख होगा, जितना ही एकाग्र हो सकेगा, वह उतनी ही शक्ति प्राप्त करेगा। इसी शक्तिपर उसका तथा समाजका जीवन निर्भर है। जिस समाजमें जितने अधिक अन्तर्मुख वृत्तिके पुरुष होंगे, वह समाज उनकी एकाग्रतामें प्राप्त सत्यसे उतना ही लाभान्वित होगा। उसे उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। वह उतना ही अधिक टिकाऊ बनेगा।

जीवनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसारमें भिन्न-भिन्न देशोंको भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं। मनुष्योंके पृथक्-पृथक् स्वभाव हैं। एक ही मनुष्यको जन्मसे मृत्यु तक अनेक अवस्थाओंको पार करना पड़ता है। देश काल, अवस्था, पात्र आदिके भेदसे आचार-शास्त्रका निर्माण होता है। जीवनके क्षेत्रमें एक ही प्रकारसे अन्तर्मुखताका प्रयत्न और मानसिक शक्ति की सुरक्षा शक्य नहीं। पूजाके आसनपर जिस प्रकारका प्रयत्न शक्य है वैसा ही प्रयत्न भोजनके आसनपर शक्य नहीं। कार्यक्षेत्रमें प्रयत्नोंके अनेक रूप हो जाते हैं। हिंदू-शास्त्रका समस्त आचार-विचार इसी भेदसे युक्त है। प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें अन्तर्मुखताका प्रयत्न बना रहे, मानसिक पवित्रता सुरक्षित रहे—इसके लिये इतने कर्मविस्तार हैं।

मनुष्य एक प्राणी है, अतः उसके धर्म अनेक नहीं हो सकते। विश्वमें दो या दस-पाँच धर्म हैं, यह एक भ्रान्ति ही है। विश्वके किसी धर्ममें ऐसा

कोई मौलिक अन्तर नहीं, जिसके कारण उसे पृथक् धर्म कहा जा सके । अनादि सनातन धर्म ही मानव-धर्म है, यह बात अनादि कालसे इतिहासके छः या सात सहस्र वर्ष पूर्व तक विश्वमान्य थी । विश्वके शेष धर्म इन छः-सात सहस्र वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं हैं । देश, काल, पात्रके अनुसार महापुरुषोंने धर्मके किसी विशेष अङ्गको कहीं प्रचलित किया और वही धर्म कहा जाने लगा । मानव-प्रकृति विश्वके पदार्थोंके समान ही विकारी है । मनुष्य बराबर आदर्शसे च्युत होता है और फिर आदर्शोंके नामपर अपने दम्भका प्रसार करता है । जब दम्भके द्वारा आदर्श आच्छन्न हो जाते हैं तो महापुरुष समाजको धर्मपर ले जानेके लिए दम्भका संशोधन करते हैं । ये संशोधन ही नूतन धर्म या सम्प्रदाय बन जाते हैं ।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि सार्वभौम धर्म हैं । किसी आचार्यने किसीपर बल दिया और किसीने किसी दूसरेपर । समाजकी तात्कालिक विकृतिको दूर करनेके लिए जिस साधनपर बल देना आवश्यक था, उन्होंने उसीको प्रमुखता दी । किसीने यह नहीं कहा कि वह नूतन धर्म चला रहे हैं । शाश्वत धर्मका उद्घाटन—पुनः स्थापनकी घोषणा ही सब करते हैं । नवीन धर्म हो भी कैसे सकता है, जब कि मनुष्य प्राचीन प्राणी है । अग्निमें क्या कोई नवीन धर्म उत्पन्न कर सकता है ? जो मनुष्यका स्रष्टा है, उसने उसे आदि कालसे ही उसका धर्म दिया है । जलका धर्म स्वादुपन जब विकृत हो जाता है, तब जलको शुद्ध करना पड़ता है । महापुरुषोंने मानवकी विकृतिको दूर करनेके प्रयत्न बार-बार किये हैं । इन सब प्रयत्नोंके परिणाम जिस स्वरूपको प्रकट करते हैं, वही वास्तविक धर्म है । इसीसे उसे सनातन धर्म कहते हैं । समस्त धर्म उसके किसी-न-किसी अंशसे ही पुष्ट होते हैं । उससे भिन्न कोई धर्म नहीं और न होना सम्भव है ।

शास्त्रविहित कर्म ही धर्म

धर्मका स्वरूप व्यक्तिकी पात्रता, समय, स्थान, कार्यके अनुसार निश्चित होता है । जो कार्य एकके लिए विहित धर्म है, वही दूसरेके लिए अधर्म हो सकता है । जैसे शूद्रके लिए वेद-पाठ अधर्म है और ब्राह्मणके लिए वेद-त्याग । लौकिक दृष्टिसे जैसे एक औषधि रोगीके लिए उपयोगी है और स्वस्थके लिए हानिकार । जल्लादके लिए निश्चित अपराधीको फाँसी देना उचित कर्म है और दूसरा यही कर्म करे तो प्राणदण्डका भागी होगा ।

एक व्यक्तिने अपराध किया, नियमतः उसे बेतोंका दण्ड मिलना है, पर यदि आप बेत मारेंगे तो अपराधी होंगे। बेत मारना जिसका काम है, वही मारेगा और दण्डका निर्णय न्यायालय करेगा। इस प्रकार धर्ममें स्वधर्म और परधर्मका भेद होता है।

कौन-सा कर्म कब किसके लिए धर्म है, यह जाननेका साधन शास्त्र है। अतएव धर्मकी दूसरी परिभाषा है 'चोदनालक्षणो धर्मः।' शास्त्रप्रेरित कर्म ही धर्म है। प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति, प्रत्येक पदार्थ अपने नियमों-पर चलकर ही रह सकता है। जो धर्मको नहीं मानते, वे भी समाजके लिए नियम तो बनाना ही चाहते हैं। ये प्रेरणात्मक नियम न हों तो समाजका धारण ही कैसे होगा। अतः धर्म—धारणा-शक्ति तो प्रेरणात्मक शक्ति ही है। प्रेरणा-नियम ही करणीय-अकरणीयका निर्णय कर सकते हैं।

'कुछ धर्म सार्वभौम धर्म हैं। उन्हींको नित्य धर्म कहना चाहिए।' इस प्रकार कुछ लोग अहिंसा, सत्यादिको ही धर्म कहना चाहते हैं। इसमें शास्त्रकी आवश्यकता उन्हें नहीं प्रतीत होती; परन्तु ऐसे भी अवसर आते हैं, जब दो धर्मोंमें-से एकको चुनना अनिवार्य हो जाता है। जैसे एक हिंसक किसी निरपराध दुर्बलका पीछा कर रहा है; दुर्बल कहीं छिप गया है। आप उसे जानते हैं और यदि आप कुछ नहीं बोलते तो भी उसके मारे जानेका भय है।' रक्षा करने—जैसा बल आपमें है नहीं। ऐसी स्थितिमें दया या सत्यमें-से एकको चुनना होगा।

कुछ धर्म सामान्य और कुछ विशेष होते हैं। जैसे दान सामान्य धर्म है, परन्तु यदि कोई रोगी ऐसे पदार्थ आकर माँगे, जो उसे हानि करेंगे तो उस समय विशेष धर्म है उसे वह पदार्थ न देना। इसी प्रकार आततायीको क्षमा करना अहिंसा नहीं, कायरता है। वहाँ सामान्य धर्म अहिंसामें विशेष धर्म आ जाता है—आततायीको दण्ड देना।

जब भी मनुष्य अपनेको या दूसरेको पापमें लगाता है, वहिर्मुख करता है, वह अधर्म करता है। जो पापमें लगा है, पतनके पथपर है, उसे कठोरतासे भी रोक देना धर्म ही होता है। जब कोई अन्यायी दुर्बल, बालक, विप्र, गौ या नारीके साथ अत्याचार करता हो, उसे क्षमाके नामपर चुपचाप देखनेवाला अधर्म करेगा। उसे अपना प्राण देकर और आवश्यकता हो तो अन्यायीका प्राण लेकर भी दुष्कृत्यको रोकना चाहिए। इसमें अन्यायीका भी आत्मिक कल्याण निहित है।

जीवनमें ऐसे अवसर आते हैं, जब स्वधर्मके सामान्य नियमोंका पालन अशक्य हो जाता है। क्षुधार्त प्राणीसे हम आशा नहीं कर सकते कि वह प्राप्त कदन्नका त्याग करके सात्विक भोजनकी प्रतीक्षा करेगा। ऐसे आपत्तिकालके लिए विशेष धर्म होते हैं। सामान्य नियमोंमें एक सीमा तक अपवाद स्वीकार करना पड़ता है। इन अपवादोंको आपद्धर्म कहते हैं।

स्वधर्म, परधर्म

धर्म प्रेरणा-लक्षण है। मनुष्य सामान्य पशु नहीं है। पशु तो अपने आहार-व्यवहारके नियम जन्मसे सीखे आता है। क्या भोजन करना चाहिए, क्या नहीं—यह पशुको बतलाना नहीं पड़ता। बन्दरको पेड़पर चढ़ना या जलमें तैरना कोई सिखलाने नहीं जाता। पाचन-क्रियामें गड़बड़ होनेपर गायको उपवासका आदेश नहीं देना पड़ता। सन्तानोत्पादनका काल कब है, इसके लिए कुत्ते-बिल्लीको पोथे नहीं पढ़ने पड़ते। गधे—जैसे मूर्ख कहे जानेवाले पशु भी तम्बाकू नहीं चरेंगे। परन्तु मनुष्य तो बिना सिखाये कोई बात सीखता ही नहीं। उसे अपने हानि-नाभका स्वतः कोई विचार नहीं। बच्चेको अभ्यास करानेपर वह अफीमची हो जायगा या नशेसे घृणा करने-वाला। ऐसी अवोध मनुष्य-जाति यदि आदिसे ही ईश्वरीय आदेशरूप शास्त्र न पाती तो नष्ट हो गयी होती। यह तर्क व्यर्थ है कि मनुष्य हानि उठाते-उठाते सीखता है। लड़के यदि मादक द्रव्य सेवन करने लगते हैं, तो दूसरोंके बतानेसे ही उन्हें हानिका ज्ञान होता है। स्वयं वे हानि नहीं समझ पाते। अतएव मनुष्यके लिए तो सम्यक् आदेश चाहिए। उसके पास पशुओंकी भाँति कोई सहज स्वभाव या धर्म नहीं है। उसका धर्म प्रेरणात्मक ही होगा। वह दूसरोंसे ही आदेश प्राप्त करेगा।

हिन्दू-समाजने चार वर्ण और चार आश्रमोंमें अपनी व्यवस्था की है। यदि सूक्ष्म विचार करें तो मनुष्यका प्रत्येक समाज चार वर्णोंमें विभाजित है। अन्तर यही है कि इतर देशोंमें वर्ण स्थित नहीं हैं, वर्णसङ्कर होता रहता है, पर यह सब मानते हैं कि योग्य शिक्षा-सुविधा पानेपर सैनिक कुलका व्यक्ति जितना दक्ष सैनिक हो सकता है, वैसा सैनिक दूसरा नहीं हो सकता। यही बात दूसरे व्यवसायोंके सम्बन्धमें भी है। वर्ण-व्यवस्था उन्नततम समाजकी व्यवस्था है, आजके उदार विचारक यह स्वीकार करने लगे हैं। यही बात आश्रम-व्यवस्था की है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-

जीवनकी उपयोगिता सर्वविदित है और यदि मनुष्य परलोककी सत्यतामें विश्वास करता है तो उसे वानप्रस्थ और संन्यासकी महत्ता भी समझनेमें कठिनाई न होगी ।

वर्णोंके भीतर भी जातियाँ हैं । व्यापार और सेवाके कार्योंमें अनेक भेद होनेसे वैश्य एवं शूद्रवर्णोंमें बहुत-सी जातियाँ हैं । इन जातियोंकी महत्ता भी वर्णोंके समान ही है । प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम और प्रत्येक जातिके कर्म शास्त्रोंमें निश्चित हैं । किस अवसरपर क्या करना चाहिए, यह भी वहाँ आदेश है । इन आदेशोंका पालन करना ही धर्म है ।

स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अपने धर्ममें दोष भी जान पड़े तो अपने लिये वही लाभप्रद है । दूसरेका धर्म भयप्रद है । यदि नापित यज्ञ कराने लगे तो स्वर, मात्रा एवं विधिका दोष करके वह अपना और यजमानका भी अवल्याण करेगा । इसी प्रकार ब्राह्मण बालक बनाने लगे तो वह किसीको छुरेके घाव करके पिटेगा । यदि मान भी लें कि दीर्घकालीन अभ्याससे दोनों पटु हो सकते हैं, तो लाभ ? समाजको तो शिक्षक और भङ्गी दोनोंकी आवश्यकता है । भङ्गीका बालक जिस सरलता, शीघ्रता और सफलतासे पिताके कार्य सीख सकता है, उसी सरलतासे शिक्षकके काम कैसे सीखेगा ? श्रम, रुचि और समय—इन सबकी उपेक्षा करके वह अपना और समाजका कौन-सा कल्याण करेगा ?

हिन्दू-धर्म सांसारिक सफलताको महत्त्व ही नहीं देता । हम अपने वर्णाश्रम-धर्मका इसलिए पालन नहीं करते कि उससे हमें सांसारिक सुख और सम्मान प्राप्त होगा । यहाँ तो कार्यमात्र अन्तर्मुखताका प्रयत्न है—धर्म है । प्रत्येक कार्य आत्मोन्नतिके लिए किया जाता है और साधनके क्षेत्रमें अधिकार-निर्णय व प्रथम कार्य है । अधिकारके विपरीत साधनमें केवल श्रम ही नहीं होता, हानिकी भी सम्भावना रहती है । साधन-क्षेत्रमें अधिकार-निर्णय गुरु या शास्त्र ही करते हैं । जिस संस्कृतिमें कार्यमात्र साधन हैं, वहाँ जिसके लिए जो कार्य निश्चित हैं, उनका पालन अनिवार्य होना ही चाहिए । स्वधर्म-पालनसे कल्याण और उसको त्यागकर दूसरेके धर्मका ग्रहण करनेसे हानि निश्चय ही वहाँ एक वैज्ञानिक सत्य है । यह तो युगका प्रभाव है कि आज सारी जातियों और वर्णोंको एक किया जा रहा है ।

एक ओर कहा जाता है कि कार्य कोई छोटा-बड़ा नहीं है । किसी कार्यको करनेसे कोई हीन या श्रेष्ठ नहीं होता । दूसरी ओर वर्गविशेषको उसके कार्यसे पृथक् होनेको प्रेरित किया जाता है । जो जातियाँ अपने काम सुचारुरूपसे कर रही हैं, उन्हें दूसरी जातियोंके कर्म अपनानेको कहा जा रहा है । यदि शूद्र-जातियाँ सेवा-कार्य छोड़ देंगी, तो भी वे कार्य तो किसीको करने ही पड़ेंगे । चमार जूतेका व्यवसाय छोड़कर क्लकीके लिए भटके और ब्राह्मण शून्कैवटरी खोलें, इसमें किसीका भी क्या हित है—यह बुद्धिमें आने-जैसी बात नहीं है । समाजकी व्यवस्था तो तभी रहती है, जब सब जातियाँ अपने-अपने स्थानपर व्यवस्थित रहें । इस व्यवस्थाके भङ्ग होनेपर अशान्ति और संघर्ष होता है । यदि समाजमें अशान्ति होगी तो व्यक्ति कैसे शान्तिसे रह पायेगा ?

सामान्य धर्म, विशेष धर्म

जितनी अव्यवस्था स्वधर्म और परमधर्मके एकीकरणसे है, उतनी ही सामान्य धर्म और विशेष धर्मके एकीकरणसे भी । यह सब जानते हैं कि हिंसा अधर्म है, परन्तु प्लेग फैलनेके समय चूहोंको मारना पड़ता है । यह हिंसा एक विशेष धर्म होगी । इससे भी सरलतासे समझा जा सकता है चिकित्सकका विशेष धर्म, जब वह किसी रोगीके विकृत घावमें स्वस्थ व्यक्तिके शरीरका भाग काटकर लगा देता है । अब यदि इन विशेष धर्मोंकी सामान्य धर्म मान लिया जाय और चूहे नित्य ही मारे जायें या प्रत्येक घावपर स्वस्थ व्यक्तिके अङ्ग ही काटकर चिकित्सक लगाये तो यह पागल-पन ही होगा ।

आजके अन्वेषक शास्त्रोंके सामान्य धर्मसे तो नेत्र बन्द कर लेते हैं और विशेष धर्मोंको उस समयका सामान्य धर्म मानकर पृथ्वी-आकाश एक करने-जैसी कल्पनाएँ उपस्थित करते हैं । यज्ञोंके 'आलभन' कृत्यको पशु-हिंसा और मांस-भक्षणकी प्रथाएँ बताया जाता है, जब कि 'आलभन' का अर्थ केवल प्रोक्षण ही है । इसी प्रकार कुछ राजकन्याओंके विवाहोंको लेकर प्राचीन विवाहकी मर्यादा निश्चित की जाती है और कहा जाता है कि 'उस समय बड़ी अवस्थामें कन्याका विवाह होता था । स्वयंवर, आहरण आदि प्रथाएँ थीं । जातिबन्धन नहीं था ।' यह सब कल्पना यह मानकर की जाती है कि राजा भी सामान्य पुरुष है उसे भी एक साधारण

नागरिक-जैसा ही रहना चाहिए। पर ऐसी बात नहीं है। देशका हित, सम्मान आदि सब शासनके जिस प्रधान पुरुषपर अवलम्बित हैं, उसको सामान्य नागरिककी अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधाएं देना आवश्यक हो जाता है।

समाजमें राजाके अतिरिक्त भी विशेष पुरुष होते हैं। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनसे विशेष अवसर आते हैं। ऐसे व्यक्तियों या अवसरोंके लिए विशेष धर्म होते हैं। ये विशेष धर्म उस व्यक्ति या अवसर तक ही सीमित रहते हैं। प्राचीन परम्पराका अन्वेषण करते समय यदि विशेष धर्मका ध्यान छोड़ दिया जायगा तो समस्त आधार भ्रममें पड़ जायगा। स्मृतियों और शास्त्रोंमें सामान्य धर्मके साथ विशेष धर्मोंका भी वर्णन है। विशेष धर्म अनिश्चित नहीं है। धर्मका निर्णय घटनाएं नहीं, नियम करते हैं। अतः घटनाओंको नियमोंसे मिलाकर ही उनका औचित्य देखना ठीक पद्धति है।

आपद्धर्म

यों तो आपत्ति भी एक विशेष स्थिति है और उस समय विवशता-वश सामान्य धर्ममें जो अपवाद स्वीकार किया जाता है, वह भी एक प्रकारका विशेष धर्म ही है, परन्तु विशेष धर्म और आपद्धर्ममें एक मौलिक भेद भी है। जिस विशेष व्यक्ति या विशेष अवसरके लिए जो विशेष धर्म शास्त्र-विहित है, उस समय उसीका पालन धर्म है। उस विशेष धर्मका पालन न करके सामान्य धर्मका पालन उस व्यक्तिके लिए या उस अवसर पर अधर्म होगा। आपद्धर्ममें ऐसी कोई बात नहीं है। आपत्तिकालमें सामान्य धर्मपर दृढ़ रहना और आपद्धर्मका आश्रय न लेना महत्ता है, त्याग है। आपद्धर्मका आश्रय आपत्ति-कालमें करनेपर सामान्य धर्ममें जो अपवाद स्वीकार किया गया, उसका दोष नहीं होगा। उदाहरणके लिए रघुवंशकी घटना ले लीजिये। महर्षि वशिष्ठकी नन्दिनी गौकी सिंहने वनमें आक्रान्त कर लिया। महाराज दिलीपने, जो उस गौकी रक्षामें थे, गौको चानेके लिए त्रोंणसे बाण निकालना चाहा, परन्तु हाथ त्रोंणमें चिपक गया। महाराज विवश हो गये। अब यदि महाराज गुरुके पास लौट आते तो गौ-रक्षा न करनेके पापके भागी नहीं थे, परन्तु महाराजने अपना शरीर देकर गौ-रक्षा करनी चाही, यह उनकी महत्ता थी।

आपद्धर्म केवल आपत्ति-काल तकके लिए होता है और वह भी उतने अंशमें, जितने अंशमें आपत्ति हो। मरणासन्न रोगीको वैद्यने लहमुन दे दिया तो अच्छे होनेपर भी लहमुन उसका खाद्य नहीं हो गया। उपनिषद्में एक ऋषिकी कथा है। अकालसे पीड़ित होकर दीर्घकालके उपवासके अनन्तर उन्होंने एक शूद्रको उड़द खाते देखा। बहुत मांगने और समझाने पर शूद्रने उनको जूठे उड़द दे दिये। उड़द खानेके बाद शूद्रने जल भी देना चाहा। ऋषिने अस्वीकार किया और बतलाया कि 'मेरे प्राण क्षुधाके कारण जानेवाले थे। मैं इन उड़दोंसे शरीर-रक्षा करके अब धर्माचरणकी इच्छा करता हूँ। ये उड़द मैंने आपत्तिके कारण स्वीकार किये हैं। जल तो जाकर निर्झरोमें पी लूँगा। तुम्हारे स्पर्शसे प्राप्त जल लेनेसे मैं धर्मभ्रष्ट होऊँगा।' आपद्धर्मके सम्बन्धमें यह उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। साथ ही प्राचीन परम्पराओंके अन्वेषकोंको यह भी अपने अन्वेषणमें देख लेना चाहिए कि कहीं वे आपद्धर्मको ही सामान्य धर्म तो नहीं मान बैठे हैं।

धर्मका आधार

धर्म भावरूप और क्रियारूप दो प्रकारकी महत्ता रखता है। मुख्यतः धर्मका उद्देश्य अन्तर्मुख करना है, अतएव उसका आधार भाव ही होता है। भगवान् ने उद्धवजीको उपदेश करते हुए बताया है—

कचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः ।

गुणदोषार्थनियमस्तद्विदामेव

बाधते ॥

(श्रीमद्भागवत ११।२१।१६)

'कहीं गुण (धर्म) भी विशेष अवस्थामें दोष हो जाता है और दोष भी विधान होनेके कारण गुण (विशेष धर्म) हो जाता है। ये गुण और दोषके नियम उन्हींको बाधा देते हैं, जो उनको जानते हैं।' जो नहीं जानते—जैसे बालक, पागल आदि वे दोषके भागी नहीं होते।

यह बात ठीक है कि बहुतसे धर्म वस्तुके आश्रित रहते हैं और वे क्रियामात्रसे फल देते हैं। भगवन्नामोच्चारणादि उत्तम कर्म और गोहिसादि अधर्म ऐसे ही कर्म हैं, परन्तु सामान्यतया भाव इन कर्मोंके फलको भी बढ़ा देता है। विधि एवं फलको जानकर भावपूर्वक किये गये धर्म-कार्य ही पूर्ण

परिणाम प्रकट करते हैं। हिन्दू शास्त्र क्रियाकी अपेक्षा उपयोग और भावको महत्व देता है। बिना इस बातको समझे न तो निष्काम कर्मका रहस्य समझमें आता है और न अनेक शास्त्रीय कृत्योंकी उपयोगिता और पवित्रता ही।

शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।

—क्षात्र-धर्मका यह उपदेश अनेक बार मनुष्यकी समझमें नहीं आया। अनेक बार पूरे समाजके लिए शस्त्रत्यागके प्रयोग हुए। अहिंसाको उसकी सीमासे विस्तृत करनेका प्रयास हुआ। जिन महत्तम पुरुषों और अवतारोंने शस्त्रद्वारा मर्यादा-रक्षा की, उन्हें अपूर्ण तक कहनेकी धृष्टता की गयी, परन्तु प्रत्येक बार ये प्रयोग बुरी तरह असफल हुए। ईसाई-धर्मके अनुयायी परमाणु बम बना और डाल रहे हैं। बौद्ध-धर्मके माननेवाले चीन और जापानकी हिंसाएं छिपी नहीं हैं। अपने प्रभुत्वकालमें जैन शासकोंने जो कुछ किया है, गुजरात-काठियावाड़का इतिहास उसका साक्षी है। महात्मा गान्धीजीकी अहिंसापर हमारी सरकार जिस प्रकार चल रही है या चलना चाहती है, उसके सम्बन्धमें किसीको कुछ बताना नहीं है।

प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक व्यक्ति एक ही रुचि, एक ही प्रवृत्तिका हो जायगा—यह दुराशामात्र है। यदि गुण-साम्य हो जाय तो विश्वमें प्रलय हो जायगी। क्रिया होती ही वैषम्यमें है। जत्र सर्वत्र प्रकृतिमें विषमता है, तब एक ही आधार सबका संचालन नहीं कर सकता। सबको उनकी प्रकृतिके अनुरूप चलानेकी व्यवस्था करनी होगी। जहाँ जो भी धर्म अपनी सीमासे विस्तृत होना चाहेगा, वह या तो उस व्यक्तिके लिए निष्क्रियता (मोक्ष) प्रदान करेगा या विकृत हो जायगा। क्रियाकी व्यवस्था वहाँ नहीं रहेगी।

भोजन और व्यायाम अच्छी वस्तु हैं, पर सीमासे अधिक हो तो? अग्निमें उष्णत्व बढ़ता ही जाय तो क्या होगा? सब पदार्थ उसमें जल जायेंगे या अग्निकी प्रतिक्रियारूप वृष्टि होगी और अग्नि बुझ जायगी। इसी प्रकार जैसे अग्निके धर्ममें प्रतिक्रिया या विनाश है, वैसे ही सभी धर्मोंमें है। एक धर्मको अपनी पराकाष्ठापर एक व्यक्ति पहुँचा दे तो उसका कर्माशय नष्ट हो

जायगा । वह मुक्त हो जायगा । यदि उसे वह विश्वमें सीमातीत करना चाहे तो प्रतिक्रिया होगी । अहिंसा ही विश्वमें व्यापक हो तो क्या होगा ? कदाचित् प्राणिमात्रको भोजन और श्वासका रोध करना पड़ेगा । सबमें हिंसा है । रोगाणुओंको मारना स्वीकार करना और दुष्टोंको दण्ड देना अस्वीकार करना—ये परस्पर विरोधी बातें हैं । ऐसी अहिंसा विकृत होती है । उसकी प्रतिक्रिया होती है ।

मनुष्य-समाज किस प्रकार अन्तर्मुख हो, किस प्रकारके प्रयत्न उसे अन्तर्मुख करेंगे, इस प्रयत्नकी विरोधी वृत्तियाँ कैसे क्षीण होंगी—धर्मका यही लक्ष्य है । जिस प्रकार क्रियामें ये भेद आवश्यक हैं, वैसी ही वान पदार्थोंकी है । अनेक पदार्थ हैं, जो धार्मिक कृत्योंके समय उपयोगमें आते हैं—मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, कस्तूरी, चामर आदि । इनकी पवित्रतामें सन्देह वैसा ही है, जैसे क्षात्र-धर्मको हिंसा बताकर तिरस्कृत करना । आखेटका आज दुरुपयोग हुआ है, यह बात है, लेकिन दुरुपयोग तो आजका समाज सबका करता है । आखेट क्षत्रियोंके लिए आवश्यक कर्म है । सबसे प्रधान बात है उपयोग । आजका समाज भी मानता है कि यदि किसीकी सामान्य हानिसे, थोड़े कष्टसे दूसरोंका अत्यधिक लाभ हो तो वह हानि या कष्ट क्षम्य है । शास्त्र कहते हैं कि एक अन्तर्मुख, पूर्ण पुरुष पूरे विश्वको सात्विकताकी प्रेरणा और शक्ति देता है । ऐसे दिव्य पुरुषत्वका निर्माण जिस प्रकारसे हो सके, उसमें छोटी-छोटी हानियोंकी गणना नहीं की जा सकती । ध्यान, मानसिक एकाग्रता किस पदार्थके प्रभावसे कितनी प्राप्त होती है—यह जानना आजके यन्त्रोंकी शक्तिके बाहरकी बात है, परन्तु जिन ऋषियोंने अन्तर्मुखताको ही प्रधान लक्ष्य माना, उनके सम्मुख यह रहस्य नहीं था । उन्होंने उस पदार्थको उन अवसरोंपर पवित्र बताया, जो पदार्थ जिन अवसरोंपर मनको एकाग्र करनेकी प्रेरणा देते हैं । ऐसे पदार्थ यदि उचित हिंसासे प्राप्त होते हैं तो वे अपवित्र नहीं हो सकते । क्षत्रिय नरेशोंका आखेट औचित्यकी सीमाको पार न करे, इसके लिए भी अत्यन्त कठोर आदेश शास्त्रोंमें हैं ।

धर्मका प्राप्य

यतो भ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

जिससे लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति हो, वह धर्म है । यह धर्मकी तीसरी परिभाषा है । तीनों परिभाषाएँ अभिन्न हैं । जो

धारण करे—केवल इस लोकमें ही नहीं, परलोकमें भी,—जो दोनों लोकोंमें उन्नति करे, वह धर्म है और शास्त्रद्वारा ही वह जाना जाता है । यही तीनों परिभाषाओंका तात्पर्य है ।

धर्मसे ही लोक और समाजका धारण होता है । अनुशासनहीन समाज या व्यक्ति पतनके गर्तमें गिरेगा ही । अतएव धर्मसे ही अभ्युदय होता है, यह बात व्याख्याकी आवश्यकता नहीं रखती । हमारे सत्कर्म ही प्रारब्ध बनते हैं और वही दूसरे जन्मके ऐश्वर्य, वैभव, सुखके कारण हैं—यह आस्तिकजन मानते हैं । जो पुनर्जन्म नहीं मानते, वे भी मानते हैं कि समाजके कल्याणके लिए सत्य, दया, त्याग, परोपकारादि धर्म आवश्यक हैं । जिस समाजमें ये न होंगे, वह समाज निश्चय कलहपूर्ण रहेगा और नष्ट होगा । उसका अभ्युदय सम्भव नहीं ।

निःश्रेयसके सम्बन्धमें धर्मको कारण माननेसे पूर्व निःश्रेयसका स्वरूप समझ लेना चाहिए । निःश्रेयसका अर्थ है आत्यन्तिक कल्याण—ऐसी स्थितिकी प्राप्ति जिसमें दुःख, शोकादि अकल्याणके भाव कहीं आये ही नहीं । पदार्थोंके द्वारा क्या यह स्थिति सम्भव है ? विश्वके भोगोंमें तो क्षय, अनपेक्षितकी प्राप्ति और विकार रहेंगे ही । ये न भी हों तो विषयोंसे सन्तोष कहाँ होता है । असन्तोष, चञ्चलता, अशान्ति वहाँ लगे ही रहेंगे । आत्यन्तिक कल्याण है आवश्यकतापर विजय प्राप्त कर लेनेमें—ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेनेमें, जहाँ कभी कोई आवश्यकता ही न हो ।

आवश्यकता शरीरको होती है और सुख-दुःख मनको होता है । यदि शरीरको पृथक् करके देखें तो किसीको कोई आवश्यकता नहीं । सुषुप्तिमें भिक्षुक और सम्राट् एक-सी स्थितिमें रहते हैं । अतः शरीरसे छुटकारा मिल जाय तो आवश्यकता न होगी, परन्तु स्वप्न-जैसा छुटकारा नहीं । स्वप्नमें भी सुख-दुःख होते हैं । यह इसलिए कि स्वप्नमें देहकी आवश्यकताकी प्रतीति रहती है । देहकी आवश्यकताकी प्रतीति भी न रहे, तब निःश्रेयस-सिद्धि हो । इसीको मोक्ष कहते हैं ।

देहकी प्राप्ति क्यों होती है ! इच्छाओंसे, कर्मसे । इन इच्छाओंका उपशम, कर्मका असंसर्ग ही देहकी प्राप्तिसे बचा सकता है । धर्मकी गति अन्तर्मुख है । बाह्य प्रवृत्तिके निरोध, इच्छाओंकी समाप्तिके लिए ही धर्म-विधान है । अतः निःश्रेयसकी सिद्धि धर्मके द्वारा होती है । धर्मके आचरणसे

भोगवृत्तिका नाश होता है, हृदयकी शुद्धि होती है। इस क्रमसे कर्मोंमें असङ्गताकी प्राप्ति होती है। जहाँ कर्मोंमें असङ्गताकी सिद्धि हुई, मोक्ष स्वतः सिद्ध है।

कर्मोंमें असङ्गताका अर्थ कर्म-त्याग समझना एक भ्रम है। धर्म ऐसे कर्मोंका विधान करता है, जिनका त्याग पाप माना गया है। अतएव कर्तव्यकर्मकी त्याग तो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं होना चाहिये। कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक किसी इच्छासे किये जाते हैं और दूसरे स्वतः होते हैं या कर्तव्यबुद्धिसे किये जाते हैं। श्वास, रक्तकी गति आदि कर्म स्वतः होते हैं। भोजन और मलोत्सर्ग ऐसे कर्म हैं, जो शरीर रहने तक करने ही होंगे। इसी प्रकार अपने वर्ण, आश्रम, जाति, कुल, अवस्थादिके अनुसार जो कर्म हमारे लिए नियत हैं, वे कर्तव्य हैं। उन्हें त्यागना नहीं चाहिए।

किसी उद्देश्यसे कर्म करना बन्धनका कारण नहीं है। उद्देश्यके बिना तो जो कर्म होगा, वह अव्यवस्थित होगा, परन्तु उद्देश्यमें आसक्ति, वह पूर्ण ही हो—यह आग्रह, उसकी पूर्णतामें अपने कर्तव्यका अहङ्कार—ये बाधक हैं। उद्देश्य कोई वासना—अधर्मप्रवृत्ति सकामवृत्ति नहीं होना चाहिए। उसे कर्तव्य मानकर करना और परिणामके सम्बन्धमें तटस्थ रहना, यही निष्कामता है।

धर्म हमें कर्तव्यकी प्रेरणा देता है, साथ ही फलकी ओरसे तटस्थ रहनेका आदेश भी। फलोंके विस्तृत वर्णन तो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिए शास्त्रोंमें हैं। शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि फलविस्तारका तात्पर्य धर्ममें प्रवृत्ति कराना है। धर्मका लक्ष्य तो अन्तर्मुखता है, त्याग है और इस प्रकार नैष्कर्म्यके द्वारा मोक्ष उसका प्राप्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि जिस कर्म या नियमका लक्ष्य अन्तर्मुखता न होकर बहिर्मुखता है, वह विषय-प्रवृत्तिको बढ़ाकर संघर्ष, अशान्ति और असन्तोषके द्वारा विनाशका पथ प्रशस्त करेगा। वह धर्म नहीं, उसमें धारण-शक्ति नहीं। वह अधर्म है। वह नष्ट करनेवाला है।

धर्मत्याग

आज बड़े गर्वसे धर्मसे मानव-जातिको मुक्त करनेकी बात कही जाती है। आजके महापण्डित यह कहकर उल्लसित होते हैं—‘मैं इस रोगसे

छूट चुका हूँ।' परन्तु इसका परिणाम क्या होगा, वे कभी सोचते ही नहीं। अग्नि अपने धर्मका त्याग करके भस्म बन जाती है। मनुष्य अपना धर्म त्याग देगा तो पशु हो जायगा। पशु होकर भी उसका निस्तार नहीं। पशु तो अपने धर्मका पालन करते ही हैं। मनुष्यने धर्मत्याग जहाँ भी किया है, वहाँ वह पिशाचसे भी घृणित हो गया है। धर्मसे दूर होकर मानव-जाति विनाशकी ओर जा रही है।

धर्मत्यागका अर्थ है— उच्छृङ्खलताकी स्वकृति और यह विनाशक ही होती है। शास्त्रीय कृत्योंका धर्म हमारी तुच्छ बुद्धिमें नहीं आता, इसलिए हम उन्हें व्यर्थ या दम्भ कहकर छोड़ दें—यह वैसी ही बात है, जैसे कोई बालक दियासलाईके मसालेकी दाहकता न समझे और दियासलाई दाहक है—इस बातको दम्भ कहे। अवश्य ही दियासलाईका मसाला बिना घिसे उसका हाथ जलानेमें असमर्थ है। इसी प्रकार शास्त्रीय आदेश अपने परिणामको तभी प्रकट कर सकते हैं, जब उनको निर्दिष्ट विधिसे सम्यक् पूर्ण किया जाय। केवल तर्क करना अज्ञानका ही परिचायक है। जो लोग कुछ प्रयत्न करते भी हैं, वे प्रयत्नकी साङ्गतापर ध्यान नहीं देते। दियासलाई यदि नम होगी, कम वेगसे घिसी जायगी, तो अग्नि नहीं प्रकट होगी—यह वे भूल जाते हैं। शास्त्रपर आक्षेप करके वे अपनी ही हानि करते हैं।

धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तनका प्रश्न धर्मत्यागसे भिन्न है। प्रत्येक धर्म यदि वह सचमुच धर्म है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है तो वह स्वतः पूर्ण है। क्योंकि पूर्णता व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या नियममें नहीं। वह तो अन्तस्तलमें है और जो भी वहाँ पहुँचेगा, उससे एक हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने आचार, रुचिके अनुसार वहाँ जानेका अधिकार रखता है। धर्म-परिवर्तनका प्रश्न जहाँ धर्मके लिए—आध्यात्मिकताके लिए उठता है, वहाँ निष्ठा एवं विचारके अभावके अतिरिक्त अन्य कोई कारण सम्भव ही नहीं है। किसी भी धर्मके आदिप्रवर्तकोंने दूसरे धर्मोंको हीन या अपूर्ण नहीं बतलाया है। कोई भी धर्म जो प्रवर्तित हुआ है, वस्तुतः सम्प्रदाय ही है और जहाँ उसका प्रवर्तन हुआ है, उस देश, काल तथा आचारके अनुकूल वह श्रेयस्कर है। सार्वभौम अनादि धर्म, जो ज्ञान और वाणीके साथ ही मनुष्यको प्राप्त हुआ, प्रवर्तित धर्म नहीं हो सकता। वह तो मनुष्योंको सृष्टिके साथ ही मिला।

वह ईश्वरीय धर्म ही सनातन धर्म है। देश-कालादिके अनुसार उसके किसी अंशको प्रमुखता देकर महापुरुषोंने दूसरे धर्मोंका प्रवर्तन किया। ऐसे प्रवर्तित धर्मोंको दूसरे देशों एवं अन्यधर्मावलम्बियोंपर बलात् लादना अहङ्कारकी प्रेरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आज धर्म भी राजनीतिका एक साधन हो गया है। धर्मके नामपर जितनी सभाएं, संगठन या आन्दोलन होते हैं, वे अपना राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र ही विस्तृत करना चाहते हैं। धर्म भी दूसरे साधनोंके समान अर्थका साधन हो गया है। धर्म-परिवर्तन अपनी जन-संख्याकी वृद्धि और उससे आर्थिक लाभके लिए किया या कराया जाता है। इस प्रकारके प्रयत्न अवश्य ही जब एक पक्षसे आघातरूप होते हैं तो दूसरा पक्ष आत्मरक्षाके लिए उनका आश्रय लेता है, कुछ भी हो, ये संघर्ष वस्तुतः धर्मके क्षेत्रसे बाहर हैं। धर्म—जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है, उसीको बाह्य भोगोंका साधन बनाना, अहङ्कारका विनाश जहाँ अभीष्ट है, वहाँ ऐसा अहङ्कार कि अपने अतिरिक्त शेष धर्मानुयायियोंको पशु कहना—इससे बड़ा दम्भ और छल क्या होगा ? यह वंचना अपना और समाजका भी विनाश कर रही है। धर्मका नाम लिया जाता है, उसकी दुहाई दी जाती है—उसका गला घोटकर, उसके शवपर पैर रखकर, और तब भी मनुष्यकी मान्यता है कि वह धार्मिक है। उसका उत्थान होगा।

सनातनधर्ममें धर्म-परिवर्तनके लिए कोई स्थान नहीं—कोई नियम नहीं, यह स्वीकार करना होगा। जो सार्वभौम धर्म है, जहाँ दूसरे धर्म उसके एक अंशसे ही उत्पन्न हुए हैं, जिस अनादि धर्मका प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, उसमें धर्म-परिवर्तन कैसा ? कोई दूसरा धर्म हो तो परिवर्तन किया जाय। शास्त्रोंमें शुद्धि ढूँढ़नेवाले यह भूल जाते हैं कि चार सहस्र वर्ष पूर्व दूसरा कोई धर्म ही नहीं था। अपने समाज और आचारसे प्रमादवश च्युत हुए लोगोंकी शुद्धिका ही वहाँ विधान है। यह धर्म-परिवर्तन—शुद्धिका प्रश्न उठा ही व उनके सम्मुख, जिन्हें नवीन धर्म चलाना था। आजके संघर्ष सनातनधर्मके लिए आपत्तिरूप हैं और आपद्धर्मका शास्त्रोंमें विस्तारसे निर्देश है। आपद्धर्मके नियमानुसार शास्त्रोंसे उनका अनुगमन करते हुए आत्मरक्षणका प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिए, और उसको किये बिना

इस समय समाजकी रक्षा कठिन ही है। परन्तु शास्त्रोंका ही विपरीत अर्थ करना—यह 'कल्याणप्रद' नहीं है। धर्मको दूसरोंकी देखा-देखी अर्थका साधन हिंदू भी बना दें, यह तो हानिप्रद ही होगा।

‘धर्मो रक्षति रक्षितः ।’

सभा-संगठन-प्रचार

‘संधे शक्तिः कलौ युगे ।’ आज जिस प्रकार हिंदू-धर्मपर चारों ओरसे आघात हो रहे हैं; उनको देखते हुए यह स्पष्ट है कि संगठनके अतिरिक्त आत्मरक्षणका दूसरा प्रधान साधन नहीं है। समस्त मतभेदोंको भूलकर, संगठित होकर ही इस समय अपने आचार, समाजकी रक्षाकी जा सकती है। इसके लिए भरपूर प्रयत्न करना हिंदू-समाजके प्रत्येक सदस्यका कर्तव्य होना चाहिए।

हमें इस समय समस्त मतभेदोंको भूलकर संगठित होना चाहिए, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह संगठन आपत्तिकालिक है, आपद्धर्म है। जबतक ऐसी बात ठीक नहीं समझ ली जाती, तब तक संगठन पूर्ण नहीं होंगे। लोग अपने-अपने संगठनोंको स्थायित्व और महत्व देने लगते हैं। इससे अहङ्कार पोषित होता है। शक्ति संगठित होनेके स्थानमें छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस समय तो हमें शक्तिको एकत्र करना है।

हिंदू-धर्म सभा, संगठन, मंचोंपर दिये गये विशाल भाषण तथा दूसरे प्रचार-साधनोंका धर्म नहीं है। संस्थाएँ स्थापित करना और प्रचारके लिए संगठन बनाकर क्षेत्र प्राप्त करना—ये पाश्चात्य सभ्यताके शास्त्र हैं। ‘कण्टकेनैव कण्टकम्’ के न्यायसे हम इस आपत्तिके समय इनका आपद्धर्मके रूपमें उपयोग तो कर सकते हैं और करना ही चाहिए, परन्तु यदि हमें अपने धर्मको अविच्छिन्न रखना है तो इनके स्थायित्वका मोह छोड़ना होगा। ये हिंदू-धर्मकी मूलप्रवृत्तिके विपरीत हैं।

हिंदू-धर्म ऐकान्तिक धर्म है। अन्तर्मुखताका साधन समूहमें नहीं हो सकता। जहाँ बाहरसे अपनेको भीतर करना है, वहीं बाहरकी प्रवृत्तिको बढ़ाना कोई सामन्जस्य नहीं रखता। सैनिकोंमें, पाठशालाओंमें सामूहिक प्रार्थना समझमें आनेकी बात है। जहाँ समूह है, वहाँ समूहके साथ

एकाग्रताका प्रयत्न भी चल सकता है, परन्तु प्रयत्नका आदर्श तो समूह और शरीरको भूल ही जाना वहाँ भी है। वहाँ समूह नहीं है, वहाँ समूह बनाकर प्रार्थनाकी जाय—इसका अर्थ केवल यही है कि या तो मन इतनी निम्न स्थितिमें है कि वह बाह्य प्रेरणाके बिना एकाग्र नहीं होगा, या फिर प्रार्थना ही प्रार्थनाके लिए नहीं है, वह भी एक राजनैतिक साधन है—प्रचार करने, संगठन करनेका। समस्त पाश्चात्य समाज अर्थको ही मुख्य मानता है, अतएव उसके प्रार्थनादि भी संगठनके ही साधन हैं। वहाँ प्रत्येक कार्यमें सैनिक वृत्ति, आर्थिक लाभकी मुख्यता रहती है, पर हिंदू-संस्कृति ठीक इसके विपरीत बाह्य भोगोंसे निवृत्तिकी प्रेरणा देनेवाली है। वहाँ प्रार्थना भी सामूहिक हो, यह एक उपहासास्पद बात है।

प्राचीन समयमें सर्वज्ञ महर्षि ही समाजके संचालक थे। शास्त्र ही नियम थे। प्रत्येक कार्य शास्त्रपर अवलम्बित थे। जनमतके बदले शास्त्रमत, आप्रमत मान्य था। अतएव किसी कार्यके लिए संस्था-निर्माणकी आवश्यकता नहीं थी। उपदेश अधिकारीको दिये जाते थे, अनधिकारी उनका दुरुपयोग करेंगे—यह बात सर्वमान्य थी। ऐसी दशामें मंचोंसे प्रचारका प्रश्न ही नहीं उठता था। सत्संग, कथा, सत्र—ये होते थे, किन्तु उनकी न तो आजके समान संस्थाएं चलती थीं और न उनका विज्ञापन होता था। किसी संतके पधारनेपर उनके उपदेश जो वे कृपापूर्वक श्रोताके अधिकारके अनुरूप दे देते, वही सत्संग थे। संतोंके, महर्षियोंके समीप उपदेश-ग्रहणार्थ दूर-दूरसे बड़े-बड़े सम्राट् तक जाते और वहाँ सेवा करते, तब कहीं सफल होते। प्राचीन कथाओंका एक रूप भागवत सप्ताह अब भी देशमें देखनेको मिल जाता है। ऐसे ही कथा-प्रसङ्ग या यज्ञ जब दीर्घकाल तक चलते वे सत्र कहे जाते।

आज प्रत्येक संस्थाकी एक-सी दशा है। त्यागी, परोपकारी, उद्योगी एक सा अनेक व्यक्ति संस्था स्थापित करते हैं। आरम्भमें संस्था विशुद्ध रूपमें चलती हैं। जैसे ही वह इस योग्य होती है कि उससे कुछ स्वार्थ सिद्ध हो सके, जनतामें सम्मान प्राप्त हो सके, उसमें पदलोलुप, स्वार्थी व्यक्ति घुस जाते हैं। धीरे-धीरे संस्थापर उन्हींका अधिकार हो जाता है, वे प्रमुख हो जाते हैं। जो सचमुच निःस्वार्थ, परोपकारवृत्तिसे लगे उद्योगी उसमें होते हैं। वे या तो कुछ कर नहीं पाते या पृथक् होनेको बाध्य होते हैं।

लेख लिखना, भाषण देना और अभिनय करना—ये कलाएँ हैं। यह नहीं कि लेखक या वक्ता जिन गम्भीर तथ्योंको प्रकट कर रहा है, उनका अनुभव भी करता हो—जो उपदेश दे रहा है, उसका आचरण भी करता हो। सभाओंमें जब कोई बोलने लगता है तो थोड़े ही वक्ता होते हैं, जो यह नहीं चाहते कि जनता बातको ध्यानसे सुने। जनता ध्यानसे सुने, इसके लिए जनताकी रुचिकी बात कहनी चाहिए। इस प्रकार वास्तविकताकी अपेक्षा कला एवं विद्वत्ताको अधिक महत्व मिलता है। यह भी व्यवसाय बन जाता है और जो इस प्रकारका व्यवसाय ही करते हैं, उनका जीवन अन्तर्मुख कैसे हो सकता है। यही दशा लेखककी भी है, यदि वह अपने लेखोंको व्यापक बनानेके ध्यानसे लिखता है।

धर्म भी प्रचारकी वस्तु है, यह हिंदू-समाजने स्वीकार ही नहीं किया। धर्म तो अधिकारके अनुसार प्राप्त करके आचरण करनेकी वस्तु है। अनधिकारीको उसका उपदेश ही वर्जित है। समाजका प्रत्येक क्षेत्र जहाँ धर्मपर अवलम्बित है, धर्मसे ओतप्रोत है, वहाँ किसी क्षेत्रमें प्रचारके लिए स्थान नहीं बचता। वस्तुतः प्रचार है क्या वस्तु? हम अपने विचारोंसे दूसरोंको प्रभावित करना चाहते हैं। क्यों? इसलिए कि हम अपने विचारोंको श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरोंका उसका आचरण करके कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। अथवा हमें दूसरोंको अनुगामी बनाना है। अपनी यश-इच्छा या किसी दूसरी इच्छाको सार्थक करना है।

ज्ञानका मार्ग है जिज्ञासा। जब तक स्वयं जिज्ञासा न हो, किसीको उपदेश लाभ नहीं करता। उपदेशसे जहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वहीं यह भी भय रहता है कि स्वाभाविक रुचि दबती है और मानसिक धारा अस्त-व्यस्त हो सकती है। हिंदू-संस्कृतिके अनुसार जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही उपदेश देना चाहिए। हम अपने ही विचारों, विश्वासोंका प्रचार करें—यह सचाईसे हम कर सकते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह तो है ही कि हमारा अहङ्कार बढ़ा रहा है। हमने दूसरोंको अज्ञ मान लिया है। अपनेको हम निभ्रान्त मानें, यहाँ तक तो ठीक। परन्तु दूसरोंके विचार उनके लिए ठीक नहीं, यह अहङ्कारकी ही प्रवृत्ति है।

हम जिन धारणाओंको भ्रान्तिहीन मानते हैं, उनका आचरण करके हमने क्या पूर्णता प्राप्त कर ली है? पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व हम प्रचारमें

लगते हैं—इसका अर्थ है कि या तो हम अपनेमें उन धारणाओंपर चलनेकी योग्यता नहीं पाते, या हमारे प्रयासमें पूरी शक्ति नहीं, या वे धारणाएँ वस्तुतः आचरणयोग्य हैं—इसमें हमारा विश्वास नहीं। किसी भी दशामें हम क्या प्रचारके योग्य रहते हैं ? विश्वका अब तकका अनुभव यही है कि पूर्णताको प्राप्त पुरुष समाज या संगठन नहीं बनाते। जो अन्तर्मुख हो चुका, वह बाह्य प्रवृत्तिमें एक सीमा तक ही लगा रह सकता है। अधिकारी, जिज्ञासुको वे प्रेरणा, उपदेश तो देते हैं, किंतु जगत्के व्यवस्थित करनेके सम्बन्धमें उनकी प्रवृत्ति सभा, सोसायटी आदिकी ओर कदाचित् ही होती है।

हिंदू-धर्मके इस आपत्तिकालमें हम भगवान्को पुकारनेके साथ-ही-साथ आपद्धर्मके रूपमें संगठन और प्रचार स्वीकार करें, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं, परन्तु धर्मका लक्ष्य अहङ्कारका शैथिल्य है, उसे बढ़ाना नहीं—यह स्मरण रहनेपर ही ये संगठन सफल होंगे। हिंदू-समाज धर्मपर संगठित समाज है। उसमें बाह्य प्रवृत्तिका निरोध ही श्रेयस्कर माना जाता है। जिज्ञासु ही वहाँ उपदेशका पात्र है। पाश्चात्य प्रभावके प्रबल प्रवाहमें इस समय इन मूल तथ्योंका विस्मरण धर्मके प्रतिकूल ही होगा। हिंदू-धर्मकी अन्तर्मुख प्रवृत्तिकी रक्षा सबसे प्रथम दृष्टिमें रखकर ही शेष प्रस्तार उचित है।

—:✽:—

हिंदू-संस्कृतिमें देवतावाद

हिंदू-संस्कृतिकी सबसे प्रमुख विशेषता है एक ही सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन तत्त्वको मूलतः स्वीकार करके उसीके अनेक रूपोंका स्वीकार और विश्वके समस्त नानात्वमें उसी एकका साक्षात्, दूसरे शब्दोंमें एकत्वमें अनेकत्व और अनेकत्वमें एकत्वका दर्शन। दर्शनशास्त्रका यह सिद्धान्त तो प्रायः सभी दार्शनिकोंकी समझमें आ जाता है; परन्तु उपासनाके क्षेत्रमें जब वही अधिकार-भेदसे आराध्य रूपोंकी विविधताका स्वरूप धारण करता है, तब दार्शनिक चकराते हैं। हिंदुओंको बहुदेवोपासक कहकर तिरस्कृत किया जाता है और ऐसा भाव दिखाया जाता है, जैसे वे एक ईश्वरीय सत्तासे अनभिज्ञ हैं। उस समय यह भूल जाया जाता है कि दृश्यमात्रको भ्रम कहकर 'एक ही सत्य चिन्मय सत्ताकी स्वीकृति' केवल हिंदूशास्त्रकी ही विशेषता है।

सभी मनुष्य एक रुचिके नहीं होते। सबकी प्रवृत्तियाँ एक-सी नहीं होतीं। शिक्षा-शास्त्रके विशेषज्ञ जानते हैं कि सभी बालकोंके समान शिक्षा देनेसे उनकी बौद्धिक शक्तिका विकास रुक जाता है और उनके मस्तिष्क-पर व्यर्थ भार पड़ता है। उनकी रुचि पहचानकर यदि शिक्षा दी जाय तो उसे वे सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं और शीघ्र उन्नति कर लेते हैं। इससे प्रत्येक व्यक्तिका रुचिभेद तथा रुचिके अनुसार ग्राहिका शक्ति प्रकट होती है। अध्यात्म-साधनके पथमें यह रुचि सहायता न करे, इसका कोई कारण नहीं। एकमात्र हिंदूशास्त्रने मनुष्यके इस रुचि-भेदको पहचाना। विश्वके दूसरे सब धर्म सभी मनुष्योंके लिए एक ही साधन बतलाते हैं। उनके यहाँ एक ही मार्ग है। इसका कोई विचार नहीं कि प्रत्येक व्यक्तिकी स्वाभाविक रुचि उसके अनुरूप होगी या नहीं। लेकिन भारतमें (मैं आजकी बात नहीं कहता) ऋषियोंने रुचिका महत्त्व जान लिया था। हिंदूशास्त्रोंने व्यक्तिकी रुचिके अनुसार उपास्यका रूप, साधनादि चुननेका अधिकार दिया। गुरु अपने शिष्यकी रुचि एवं अधिकारके अनुसार उसे साधन बतलाता था। एक ही गुरुके शिष्योंमें योगी, ज्ञानमार्गी, भक्त, वैष्णव, शैव, शाक्त—सब हो सकते थे। भगवान् वेदव्यासने अठारह पुराण लिखे और सबमें विभिन्न निष्ठाओंका पोषण किया।

यह आज मनोवैज्ञानिकोंसे छिपा नहीं है कि मूल मनोवृत्तियाँ तीन ही हैं। वस्तुतः प्रकृतिके तीन गुणोंके ही ये मानस रूप हैं। सत्त्वगुण मनमें जिज्ञासा—ज्ञान वनता है, रजोगुण राग और तमोगुण द्वेष। रागके ही विकृत रूप काम, लोभ, मोह, आसक्ति हैं और राग विशुद्ध रूपमें परिवर्तित होनेपर अनुराग, प्रेम, भक्ति, वात्सल्यादि होता है। इसीका एक रूप कला है। द्वेषके विकृत रूप हिंसा, असूया, ईर्ष्या, क्रोधादि हैं और इसका विशुद्ध रूप वैराग्य, अनासक्ति है। इन तीन मुख्य मानसवृत्तियोंके कारण साधन-पथके तीन विभाग हो जाते हैं—ज्ञानमार्ग, उपासना, योग। मनोवृत्तियोंके पीछे जैसे अनेक भेद होते हैं और सबसे अधिक भेद रागात्मिका वृत्तिके होते हैं, वैसे ही उन्हींके अनुरूप तीनों साधनोंके अनेक भेद होते हैं और सबसे अधिक उपासनाके।

विश्वमें ऐसे मनुष्य हैं, जिनके लिए घर-द्वारका छोड़ना शक्य नहीं—जो विरक्त नहीं हो सकते। ऐसे भी हैं, जो किसीसे स्नेह किये बिना नहीं रह सकते और ऐसे भी हैं, जिन्हें अपने ऐकान्तिक चिन्तनमें किसीका भी सम्पर्क पसंद नहीं। कुछ लोग शारीरिक श्रम किये बिना नहीं रह सकते और कुछके लिए शारीरिक श्रम करना बहुत कष्टकर है। यदि ईश्वरकी उपलब्धि प्रत्येक मनुष्यके लिए आवश्यक है और इसीलिए मनुष्य मनुष्य हुआ है, जैसा कि सभी धर्म कहते हैं, तो उसकी प्राप्ति का मार्ग सबके लिए सुलभ होना चाहिए। कोई मार्ग सुलभ या दुर्लभ नहीं होता। जो जिसकी रुचिके अनुकूल है, वह उसके लिए सुलभ और जो प्रतिकूल है, वह दुर्लभ—कठिन होता है। जब सबकी रुचि समान नहीं है, तब सबके लिए एक ही सुगम मार्ग हो नहीं सकता। रुचिभेदके अनुसार साधन-भेद—यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार बालकोंकी शिक्षामें। जैसे प्रत्येक शिक्षाका अर्थ है ज्ञानप्राप्ति, वैसे ही प्रत्येक साधनका प्राप्य सर्वोच्च भगवदीय सत्ता ही है।

“रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।”

‘रुचिकी विचित्रतासे टेढ़े-सीधे अनेक मार्गोंसे चलनेवाले साधकोंके एकमात्र गन्तव्य आप (महेश्वर) ही हैं, जैसे सभी नदियाँ अपने-अपने मार्गोंसे चलकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं।’ शास्त्रोंमें यह बात बार-बार कही गयी है।

साकार-उपासना

रुचिभेदसे ज्ञानके श्रवण-मनन-चिन्तन, भक्तिके प्रेम (सूफियोंकी भाँति अव्यक्त, अचिन्त्यके प्रति अनुराग) तथा अष्टाङ्गयोगकी आराधना—साधना करके मनुष्य उस एक ही तत्त्वको प्राप्त करता है, यह बात समझ लेनेपर भी साकार-उपासनाकी बात समझनी कठिन है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि साकारकी भावना मनुष्यका स्वभाव है। साकार तत्त्व सत्य है, यह बात तो है ही; परन्तु मनका स्वभाव है कि वह जिससे अनुराग करता है, उसे साक्षात् देखना चाहता है। मनुष्यकी सबसे प्रबल वृत्ति रागात्मिका वृत्ति है। इसीके सबसे अधिक भेद भी होते हैं। रागात्मिका वृत्ति व्यक्त आधार चाहती है। विश्वमें जितने धर्म मूर्तिपूजाके निषेधके लिए बने, सबमें किसी-न-किसी रूपमें वह आयी ही। हम अपने श्रद्धेय पुरुषोंका चित्र रखते हैं, उनके स्मारकोंका आदर करते हैं—यह मनका धर्म है। इसके बिना मनुष्य रह नहीं सकेगा। अनुरागके लिए तो आधार चाहिए।

ईसाई जानते हैं कि ईसामसीहका चित्र केवल प्रतीक है; परन्तु उसके प्रति आदर करना मसीहका आदर करना है, यह माननेमें किसीको आपत्ति नहीं होती। जीवकी कोई आकृति नहीं, परन्तु समस्त शरीरोंमें जीव है। ये आकृतियाँ जीवकी ही हैं; क्योंकि जीवके न रहनेपर आकृति नष्ट हो जाती है। ईश्वरके अंश जीवकी इतनी सब आकृतियाँ हैं तो उसके अंशोंकी सब आकृतियाँ हैं, यह क्यों नहीं? अग्निकी चिनगारियाँ अनेक आकृतियोंकी हैं। व्यापक अग्निकी कोई आकृति नहीं। लेकिन अग्नि पानेके लिए उसे किसी-न-किसी आकृतिमें ही पाना होगा। किसी भी चिनगारीको पा लेनेसे व्यापक अग्निके समस्त गुण, प्रभावकी प्राप्ति हो जायगी।

हम साकार हैं। हमारा हृदय केवल साकार वृत्तियोंका ही ग्रहण करता है। इसीलिए हमारा साधन भी साकार होना चाहिए। ज्योतिका ध्यान, शब्दका ध्यानादि भी आकार ही है। जब एक प्रकारका आकार माननेमें आपत्ति नहीं तो दूसरे प्रकारके आकारको माननेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए। जो सर्वव्यापक है, वह प्रत्येक आकारमें है। यदि हम किसी आकारमें सुविधापूर्वक मनको तल्लीन कर सकते हैं तो हृदयकी एकाग्रतामें

वह प्राप्त हो जायगा । किसीको अग्निका ज्ञान करानेके लिए निराकार अग्निपर उपदेश देनेके बदले उसके सम्मुख एक धधकता कोयला रखना अधिक उपयुक्त है । वह जब अग्निके प्रकाश, तापादिका साक्षात् कर लेगा तब उसके निराकार रूपको भी समझ लेगा । जो ईश्वरको मनकी एकाग्रतामें किसी भी आकारमें साक्षात् कर लेगा, उसे उसके निराकार रूपको समझनेमें बाधा न होगी ।

यहीं एक बात ध्यान रख लेनी चाहिए कि शास्त्र या नियम व्यक्तियोंके दुराग्रह एवं मूर्खताके उत्तरदायी नहीं होते । चाकू बनानेवाला इसका दोषी नहीं है कि उससे अँगुली भी काट ली जाती है । आराध्यके अनेक रूपोंको लेकर जो आक्षेप और वैमनस्य चलता है, उसमें व्यक्तियोंके अज्ञान, अहङ्कार, स्वार्थ ही कारण होते हैं । जो निराकार सत्ता स्वीकार करते हैं, उनमें भी साधन-भेदकी छोटी-छोटी बातोंको लेकर भयङ्कर संघर्ष होते रहते हैं । यह सब सिद्धान्तोंका दोष नहीं । इन संघर्ष और आक्षेपोंमें तो सिद्धान्तोंका अपमान—उपेक्षा ही होती है । शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌के ही सब रूप हैं । उनमें कोई अन्तर नहीं । अब यदि कोई दूसरेके आराध्य रूपपर आक्षेप करता है तो वह अपने आराध्यपर ही आक्षेप करता है । क्योंकि सभी रूप एकके ही हैं, अतएव शास्त्रोंमें प्रत्येकके वर्णनमें उसे सर्व-श्रेष्ठ, सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान् सत्ता बताया गया है ।

मूर्ति-पूजा

‘यथाभिमतध्यानाद्वा’—जो ध्यान अभीष्ट हो, उसे ही करना भी चित्तकी एकाग्रता पूर्ण कर देता है । इस नियमके अनुसार ध्यानके लिए साकार-उपासना स्वीकार भी कर लें तो मूर्तिपूजा क्यों ? इतना बाहरी आडम्बर किसलिए ? बहुत सीधा उत्तर तो यह है कि अनुरागके लिए कोई बाह्य प्रतीक चाहिए । देशके झंडे, महापुरुषोंके स्मारक-चित्र—ये सब मनुष्यके इसी स्वभावको सूचित करते हैं । बिना बाह्य प्रतीकके भाव व्यक्त किस आधारपर हो ? उपासनामें तो भावकी प्रगाढ़तासे मनोलय प्राप्त करना है ।

संसारमें हम देखते हैं कि बिना व्यक्त आधारके न तो अव्यक्तकी प्राप्ति हो सकती और न उसके प्रति भाव व्यक्त किया जा सकता है ।

अव्यक्त अग्नि व्यक्त काष्ठादिसे ही प्राप्त होती है। शब्द भी मनुष्य, पशु, वाद्य, रेडियोके व्यक्त पदार्थोंसे ही मिलते हैं। देशके प्रति भाव भी झंडेके आधारपर ही प्रकट होता है। इससे भी स्पष्ट यह कि हम अपने माता, पिता, गुरुजनकी सेवा करते हैं। हम जानते हैं कि उनका शरीर पार्श्व-भौतिक—जड़ है। जड़ शरीरकी सेवामें हमारा तात्पर्य भी नहीं है; किंतु उनमें जो चेतन है, उसके प्रति भाव व्यक्त करने, उसकी सेवा करने, उससे स्नेह करनेके लिए जड़ शरीरको छोड़ दें तो कुछ है भी नहीं। गुरु, माता, पिताकी भक्ति करनी चाहिए। अब यदि पूछा जाय कि भक्ति किसकी करनी चाहिए, उनके शरीरकी या जीवकी ? इसका उत्तर होगा कि उनमें जो चेतनतत्त्व है, उसकी। शरीरकी भक्ति करनी हो तो मरनेके बाद वह जला न दिया जाय। अब यह कोई बता सकता है कि शरीर और उसकी आकृतिको छोड़कर उसके मनमें और किसीके प्रति भक्तिका कभी उदय हुआ है या हो सकता है ? आपके पास पिताको सन्तुष्ट करनेके लिये उसके शरीरकी सेवाको छोड़कर और उपाय भी क्या है ?

अव्यक्तके प्रति अनुराग, उसकी उपलब्धि, उसकी सेवा—ये सब व्यक्तके ही माध्यमसे की जा सकती हैं। उपासना-भावके मार्गमें इसीलिए व्यक्त मूर्तिकी आवश्यकता है। रुचिके कारण जैसे ध्यान-मूर्तियोंमें विविधता होती है, वैसे ही व्यक्त मूर्तियोंमें भी। किसीको बालक पसंद है, कोई ऐश्वर्यसे प्रभावित होता है, कोई तपस्याकी मूर्तिमें मन लगा पाता है और कोई उग्र रूपमें एकाग्र होता है। एकाग्रता—तन्मयता प्राप्त करना लक्ष्य है। अतएव जिसका मन जिस भावमें शीघ्र एकाग्र होता है, उसके लिए वैसी ही मूर्ति आवश्यक है। क्योंकि मूर्ति भावकी प्रतीक है।

मूर्ति भावके लिए है, भावमयी है—यह भूलना नहीं चाहिए। प्रत्येक उपासक जानता है कि मूर्ति कागजपर बना चित्र है, अथवा पत्थरसे, लकड़ीसे या धातुसे बनी है, ठीक वैसे ही जैसे प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह पिताके जिस शरीरकी सेवा करता है, वह हड्डी, रुधिर, मांसका है, पार्श्वभौतिक है। जैसे पितृ भक्तका सेव्य शरीर नहीं, उसमें व्यापक चेतन है, जैसे झंडेके प्रति सम्मान वस्त्र-खण्डका सम्मान नहीं, उसमें स्थापित भाव-रूप देशका सम्मान है, वैसे ही मूर्तिका आराधक मूर्तिमें भावरूप आराध्यकी आराधना करता है। वह मूर्तिमें केवल भाव देखता है। नहीं तो शिवलिङ्ग या शालग्रामजीमें कोई सौन्दर्य, आकारादि नहीं होता।

उपासनाका अर्थ है भाव-परिपाक और आप अपने आराध्यके लिए पुष्पचयन कर रहे हैं, भोग प्रस्तुत कर रहे हैं—इन सबमें भावोंका परिपाक ही तो होता है। शास्त्र भी ध्यानको महत्त्व देते हैं। ध्यान करनेमें जो समर्थ हैं, वे ध्यान ही करें। मूर्तिपूजाका तात्पर्य भी ध्यानमें अधिकाधिक निमग्न करना ही है। परंतु जो ध्यान नहीं कर सकते, वे व्यक्त क्रियाओंके आधारपर मनको भगवान्से सम्बन्धित रखते हैं। पूजा, उपासनाको छोड़कर दूसरा कोई मार्ग ही सर्वसाधारणके लिए मनको भगवान्में लगाये रखनेका नहीं है। जो निरन्तर ध्यान कर सकते हैं, बिना आधारके अर्हनिश भगवत्स्मरण कर सकते हैं, जिनका चित्त एकाग्र है, वे आदर्श पुरुष हैं। वे महापुरुष हैं। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते, वे जितना थोड़ा-बहुत ध्यान कर सकते हैं, ठीक। लेकिन पूजा उनके मनको शेष समयमें सरलतासे भगवान्से सम्बन्धित रखेगी और वे ध्यानकी उत्तरोत्तर अधिक योग्यता प्राप्त करेंगे।

— — — —

हिन्दू-संस्कृतिके प्रतीक

मनुष्यके लिए सब समय पूरी बात कहना या लिखना शक्य नहीं होता। हमारे लिये जीवनमें बहुतसे भाव इस प्रकार सूचित करने आवश्यक होते हैं, जिन्हें दूसरे देखकर समझ सके। बहुत समय और स्थल ऐसे होते हैं जहाँ अपने और दूसरोंके लिए पहचाननेका चिह्न निश्चित करना पड़ता है। यही चिह्न उस भाव या वस्तुके प्रति कहलाते हैं, जिसके लिए निश्चित किये गये हों। जैसे व्यक्तिका नाम उस व्यक्तिका प्रतीक है। नामके द्वारा उसका सम्मान या अपमान होता है। नामके कारण ही उसका भेद समझा जाता है।

प्राचीन कालमें प्रत्येक योद्धा अपने-अपने पृथक् ध्वज रखता था। महाभारतमें श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, कर्ण, धर्मराज, अर्जुन, भीम, अभिमन्यु आदि सभीके विभिन्न आकृतियोंवाले रथध्वजोंका वर्णन मिलता है। ये ध्वज दूसरे उसको सूचित कर देते थे। प्रत्येक भवनपर उसके कुलका ध्वज होता था। भारतवर्षके निवास ध्वजोंसे सुशोभित होते थे। मन्दिरोंपर

पण्डोंके स्थानोंपर आज भी ध्वज होते हैं । संस्थाओंके ध्वज तथा राष्ट्र-ध्वजका विश्वमें जो सम्मान है, वह सब जानते हैं । प्रत्येक राष्ट्रमें भी जलसेना, वायुसेना आदिके पृथक्-पृथक् ध्वज होते हैं जो उनके भेदको सूचित करते हैं । ध्वज जिसका हो, उसका प्रतीक—प्रतिनिधि होता है और ध्वजका सम्मान या अपमान उसीका होता है ।

व्यक्ति या संस्थाओंके अतिरिक्त भावों, क्रियाओं तथा घटनाओंके सूचक प्रतीक भी आज व्यवहृत होते हैं और ये कबसे व्यवहारमें आ रहे हैं, यह कोई इतिहासकार कह नहीं सकता । इस प्रकारके सभी प्रतीक दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । कुछ नित्य प्रतीक हैं । वे अपने भाव या पदार्थसे नित्य सम्बन्ध रखते हैं । उस भावको दूसरे प्रकारसे सूचित नहीं किया जा सकता । जैसे आकाशका प्रतीक शून्य है । दूसरे प्रतीक कल्पित होते हैं । व्यक्तियोंके नाम, राष्ट्रोंकी ध्वजाएँ तथा दूसरे चिह्न कल्पित होते हैं । जैसे अमेरिकाके राष्ट्रध्वजमें तारकचिह्न हैं । संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें जितने राज्य सम्मिलित हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिए ध्वजमें एक तारकचिह्न है । राज्यका चिह्न तारक हो, यह कल्पित किया गया । ऐसे कल्पित प्रतीक तभी समझे जाते हैं, जब कि उनकी व्याख्या हमें ज्ञात हो ।

पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियोंकी मान्यता है कि 'मनुष्य पहले अपना काम चिह्नों और संकेतोंके द्वारा ही चलाता था । उसके पास भाषा नहीं थी ।' इस सम्बन्धमें भूल यहीं की जाती है कि भाषाकी अपेक्षा संकेत निश्चित करना सरल मान लिया जाता है । हम एक भी मनुष्यको नहीं जानते जो भाषाहीन विचार कर सकता हो । गूँगे व्यक्ति भी दूसरोंसे ही संकेत सीखते हैं । आजतक किसी गूँगेने उन नित्य संकेतोंका उपयोग अपने भावोंको सूचित करनेके लिए नहीं किया, जिन्हें विश्वकी पूरी मानव-जाति एक ही अर्थमें उपयोग करती है । आपने किसी गूँगेको विवादकी शान्तिके लिए श्वेत रङ्गकी ओर संकेत करते कभी देखा है ? जब किसी राष्ट्रको कोई पदक या विशेष चिह्न निश्चित करना पड़ता है, तो उसको निश्चित करनेके लिए विशेषज्ञोंकी बैठकें होती हैं । यह चिह्नोंके विशेषज्ञ जानते हैं कि ऐसा चिह्न निश्चित करना जो भावको ठीक-ठीक सूचित करे और उससे भ्रम न हो, बहुत सरल नहीं है । मनुष्य यदि पहले सुसभ्य और बुद्धिमान् नहीं था तो उसने किस प्रकार ऐसे चिह्न निश्चित कर लिये कि आजके बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी नये चिह्नोंके लिए उन्हींका सहारा लेते

हैं। जैसे मनुष्य कोई नया शब्द मूलतः नहीं बना पाता, वह पुराने शब्दोंका ही पर्याय निश्चित करता है या संयुक्त शब्द बनाता है, वैसे ही कोई नया प्रतीक भी आज हम बना नहीं पाते हैं। हमारे सब कल्पित प्रतीक पुराने नित्य प्रतीकोंके आधारपर ही निश्चित होते हैं।

विश्वकी सम्पूर्ण मानवजाति नित्य प्रतीकोंको एक ही अर्थमें व्यवहार करती है। श्वेत ध्वज सब कहीं शान्तिका सूचक है। जैसे किसी अज्ञान शक्तिने सबको उन प्रतीकोंके अर्थ बतला दिये हों। यह प्रतीकोंके अर्थोंकी एकता यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि मनुष्य-जाति किसी एक ही देशसे विश्वमें फैली है और वह देश वही हो सकता है, जहाँ नित्य प्रतीक अब भी अपने अविकृत रूपमें उपलब्ध हो सकें और जहाँ विश्वके समस्त नित्य प्रतीकोंकी उसी रूपमें मान्यता हो। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रतीक ही विश्वव्यापी हो गये हैं।

कल्पित प्रतीक

अनादिकालसे हम पदार्थोंके नाम निश्चित करते आ रहे हैं और ध्वज आदि प्रतीक चुनते आ रहे हैं। आज प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति अपने ध्वज रखती है। सेनामें, स्वयं-सेवकोंमें, पुलिसमें उनकी पहचानके चिह्न होते हैं। पुरस्कारके लिए विशेष प्रकारके पदक दिये जाते हैं। इसी प्रकार जाति या राष्ट्र अपने विशेष चिह्न मानते हैं, जैसे ईसाई जातिका चिह्न क्रॉस है। प्रत्येक देश अपना एक राष्ट्रीय पुष्प मानता है। इंग्लैंडका राष्ट्रीय पुष्प गुलाब, फ्रान्सका लिली, भारतका कमल है। रूसी भाबू, अमेरिकन साँड़ आदि कहते समय हम जानते हैं कि इन देशोंके ये पशु प्रतीक हैं।

इस प्रकारके सब कल्पित प्रतीक किसी भावको, घटनाको या बहुलताको सूचित करते हैं। जब कोई देश, संस्था या व्यक्ति अपने ध्वज, पदक, चिह्न निश्चित करता है तो उस चिह्नमें वह अपने भाव सूचित करना चाहता है। भावसूचक जो नित्य प्रतीक हैं, उन्हींको वह अपने ढङ्गसे सजाता है। जैसे हमारे देशके तिरंगे राष्ट्रीय ध्वजके रङ्गोंकी व्याख्या है। ये रंग अपनी व्याख्याके अनुसार नित्य प्रतीक हैं। अनेक बार यह प्रतीक-कल्पना गूढ़ रहती है। जैसे तारकचिह्न आशाका नित्य प्रतीक है। अमेरिकाके राष्ट्रीय ध्वजपर प्रत्येक राज्यका प्रतीक तारक है। वे राज्य ही अमेरिकाकी आशा हैं। इस प्रकार वहाँ भाव लिया गया। ईसाई

क्रॉसचिह्न ईसामसीहकी शूलीका स्मारक है। इसी प्रकार रूसको भालू, अमेरिकाको साँड़का सम्बोधन इसलिए दिया गया कि ये पशु वहाँ अधिकतासे होते हैं।

भाषाके विवेचनके समय यह बताया गया है कि किस प्रकार मूल शब्दोंका उच्चारण-भेदसे असावधानीसे रूप बदलता गया है। किस प्रकार शब्दोंके लाक्षणिक अर्थ होते गये हैं, ठीक वही बात प्रतीकोंके सम्बन्धमें है प्रतीकोंकी धारणामें भी बराबर विकृति और लाक्षणिकता आती गयी और फलतः कल्पित प्रतीकोंकी बहुलता हो गयी। उदाहरणके लिए देवताका प्रतीक लीजिये। मनुष्यकी आकृतिके साथ मुखके चारों ओर तेजोमण्डल बना देना देवत्वका प्रतीक है। देवताओंके शरीर तेजस् तत्त्वसे बने हैं, वे पार्थिव नहीं हैं, यह बात वह तेजोमण्डल सूचित करता है। भारतसे बाहर जानेपर मनुष्य जब परिस्थितिवश शिक्षासे दूर होकर असभ्य हो गया तो वह देवशक्तिको ही भूल गया। जब दूसरोंके संसर्गसे उसने देवताओंका वर्णन पाया तो देवताओंके वाहन और देवताओंमें भेद न कर सका। देवताओंकी आकृतियों में वाहनोंके आकार भी मिल गये। साथ ही देवत्वको सूचित करनेके लिए उड़नेके प्रतीक पक्ष आकृतियोंमें लगाये गये। पाश्चात्य देशोंकी परियों और फरिश्तोंकी यही आकृति धारणा है। जैसे उनके शरीर भी स्थूल हैं हमारी भाँति और उन्हें उड़नेके लिए पङ्ख चाहिए।

आज भी प्रतीककी कल्पना करते समय नित्य प्रतीकोंका ध्यान रखना जाता है। हम या तो अपने प्रतीकमें वे गुण मानते हैं या उनकी आशा करते हैं, जो उस प्रतीकमें प्रकट हुए हैं। यह बात दूसरी है कि किसीने अपने बच्चेका नाम महावीर रखा और वह लड़का आगे दुर्बल हो गया। नाम रखनेवालेकी यह इच्छा तो नामके साथ थी ही कि लड़का महावीर हो। इसी प्रकार ईसामसीहके बलिदानका स्मारक अपने ध्वजपर निश्चित करने-वालोंका भाव तो यह था ही कि वह जाति दयालु तथा दूसरोंके लिए आत्म-बलिदान करनेवाली हो। अब वह जाति शक्तिशाली होकर दूसरोंपर अत्याचार करनेवाली हो जाय तो प्रतीक कैसे रोके।

जैसे एक ही शब्द उपयोग-भेदसे अनेक अर्थ रखता है—‘राम-नाम’ का अर्थ प्रणाम भी है और घृणा भी, वैसे ही प्रतीकोंसे भी अपने भाव सूचित होते हैं। जब कोई जाति किसी श्रेष्ठ प्रतीकको अपना चिह्न बनाकर अत्याचार करती है तो वह प्रतीक उसके अत्याचारका द्योतक हो जाता

है। वह अपने नित्य अर्थमें नहीं रह जाता। जैसे हिटलरके अत्याचारसे स्वस्तिक चिह्न नाजीवादके अत्याचारका स्मारक हो गया। अग्निकी लपटोंके समान लाल महावीरी झण्डा जो प्रेम, शौर्य दोनोंका प्रतीक है, वैदिक हिंदुध्वज होकर भी रूसके लाल ध्वजके रूपमें नास्तिकता तथा जड़ साम्यवादका प्रतीक हो गया।

विकार चाहे शब्दमें हो या प्रतीकमें, वह प्रसाद एवं अज्ञानसे होता है। यदि हम जान सकें कि कौन-सा शिशु अपने आगेके जीवनमें कैसा होगा, तो हम उसका नाम उसके गुणके अनुरूप ही रखें। भाषाके प्रसङ्गमें बताया गया है कि हिंदू-जातिमें किस प्रकार नामकरण ज्योतिषके द्वारा बालकका अग्रिम जीवन जानकर ही होता था, इसी प्रकार संस्कृत-भाषाके शब्द अपने नित्य अर्थसे किस प्रकार सम्बन्धित हैं। अव्यक्त नित्य शब्दोंके अनुसार ही संस्कृतकी शब्दयोजना तथा देवमूर्तियोंका वर्णन है, यहाँ तक कि आदिलिपि ब्राह्मीके अक्षरोंके आकार भी अक्षरोंकी ध्वनिके अर्थसूचक तथा ध्वनिकी उस आकृतिके अनुरूप हैं जो उस ध्वनिसे आकाशमें बनती है। हिन्दू-समाजने जब शब्द, नाम एवं अक्षरोंकी आकृतिके सम्बन्धमें कल्पित प्रतीक स्वीकार नहीं किये और उन नित्य प्रतीकोंकी रक्षाके लिए व्याकरण वेदपाठकी विभिन्न प्रणालियाँ निश्चित कीं जिसमें कहीं कभी विकृति न आवे, तो उस समाजको दूसरी कल्पित आकृतियाँ कैसे स्वीकार हो सकती थीं। जैसे वेदपाठमें अनध्यायोंका विस्तार इसलिए है कि मनकी चञ्चलताका कोई अवसर ऐसा न हो, जिसमें पाठमें स्वरादिका दोष हो, वैसे ही चिह्नोंके निर्माणके सम्बन्धमें समय, आकृति प्रत्येक आकृतिके अङ्गोंका माप निर्धारित है।

हिंदू-समाजमें जैसे सर्वज्ञ ऋषियोंने शब्द, उसके अर्थ एवं आकृतिका साक्षात् करके, फिर पदार्थोंके नामकरणमें उन पदार्थों, व्यक्तियोंके स्वरूप, गुण, जीवनका सार निहित किया, वैसे ही उस समय ध्वज तथा दूसरे प्रतीक आजकी भाँति कल्पित नहीं होते थे। हमें एक गुण अभीष्ट है, अतः हम उसे अपना प्रतीक बना लें, ऐसी बात नहीं थी। उस समयके प्रतीक नित्य प्रतीक हैं। किसीका ध्वज उसके पराक्रम, स्वभाव आदिका पूरा सूचक है। आज जैसे प्रतीकोंको जातिके अनाचर, अत्याचारसे अपने वास्तविक अर्थसे भिन्न अर्थमें अपमानित होना पड़ता है, ऐसा हिंदू-समाजमें शक्य नहीं था। प्रतीक वास्तविक प्रतीक (चिह्न-लक्षण) थे। वे केवल आदर्श सूचक या धोखा देनेके लिए कल्पित नहीं थे।

नित्य प्रतीक

नित्य-प्रतीकका अर्थ क्या ? प्रतीक या चिह्न अपने सूचक भाव या पदार्थसे कैसे नित्य-सम्बन्ध रखते हैं ? इन प्रश्नोंके समाधानमें हमें बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। नित्य-प्रतीकोंमें कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो विशेषताके कारण निश्चित होते हैं। किसी जाति, देश या पदार्थकी वह विशेषता, जो दूसरोंमें न हो, उसका प्रतीक हो जाता है। जैसे हाथीका प्रतीक सूँड़। इसी प्रकार जिन देशोंमें कोई विशेष पशु या पदार्थ होते हैं, उन देशोंको उन पदार्थोंसे लक्षित किया जाता है। दूसरे प्रतीक वे हैं जो भाव-जगत्से सम्बन्ध रखते हैं। कौन-सा भाव किस पदार्थसे सम्बन्धित है, यह बात वही जान सकता है, जिसने स्थूलके बन्धनसे मनको पृथक् करके जाग्रत् दशामें ही भावजगत्का साक्षात् कर लिया हो। जो वाजीगर किसी पदार्थको कुछ क्षणके लिए भी प्रतीक कर सकता है, वह बता सकेगा कि उस पदार्थकी भावना करते समय मनकी क्या स्थिति होती है। इस प्रकार जिस पदार्थका जिस भावसे सम्बन्ध है, वे पदार्थ उसी भावके नित्य प्रतीक हैं, क्योंकि मनमें उस पदार्थसे वही भाव स्फुरित होगा।

नित्य-प्रतीकोंका श्रेणी-विभाजन करते समय हमें कई प्रकारके प्रतीक मिलते हैं। १-चिह्न-प्रतीक, जैसे अक्षराकृतियाँ, स्वस्तिक, त्रिभुज, चतुर्भुज, यन्त्र आदि। २-रङ्गोंके प्रतीक, जैसे—श्वेत, लाल आदि रङ्ग भावसूचक हैं। ३-पदार्थ-प्रतीक, जैसे शङ्ख, स्वर्ण, पाषाणादि। ४-प्राणी-प्रतीक—गाय, वृषभ, मयूर, हंस आदि। ५-पुष्प-प्रतीक—कमल आदि। ६-शस्त्र-प्रतीक—चक्र, त्रिशूल, गदादि। ७-वाद्य-प्रतीक—शङ्ख, डमरू, भेरी, वंशी आदि। ८-वृक्ष-प्रतीक—आँवला, पीपल, तुलसी आदि। ९-वेश-प्रतीक—शिखा, यज्ञोपवीत, कण्ठी, माला, गैरिकवस्त्रः दण्ड, तिलक आदि। १०-सङ्केत-प्रतीक—मुद्राएँ।

चिह्न प्रतीक

तन्त्रोंके अनुसार उपासनामें यन्त्रका अत्यन्त महत्त्व है। देवता यन्त्रमूर्ति होते हैं। प्रत्येक उपासनामें उसका वज्र तथा चक्रका चिह्न होता है। इन चिह्नोंमें कुछ अन्तर देवता और उपासनापद्धतिके अनुसार आता है। चिह्नोंके रङ्ग और उनकी आकृतिका परिमाण शास्त्र निर्देश करता है। हम जानते हैं कि आजके यन्त्रोंमें रूप एवं शब्द दोनोंका रेखाङ्कन हो जाता

है। ग्रामोफोन तथा चलचित्रोंमें रेखाएँ ही फिर शब्द या रूप बनकर प्रकट होती हैं। रेडियोपर जब हम चित्र भी भेज सकते हैं तो यह सिद्ध ही हो गया कि अव्यक्त आकाशमें रूप एवं शब्दकी रेखाएँ व्यापक होती हैं। यन्त्रके द्वारा उन्हें व्यक्त किया जा सकता है।

विश्वमें जितनी आकृतियाँ या शब्द हैं, वे सब रेखाओंमें अङ्कित हो सकते हैं और सबकी रेखाएँ अव्यक्त आकाशमें हैं, यह जान लेनेके पश्चात् प्रश्न रहता है उन रेखाओंसे पदार्थोंको प्रभावित करनेका। वैज्ञानिक जानते हैं कि समान यन्त्र परस्पर प्रभाव विनिमय कर लेते हैं। अव्यक्तमें व्यापक शब्द रेडियोके यन्त्रद्वारा ही प्रकट होते हैं। यही नियम यन्त्रोंके सम्बन्धमें भी है। पूजामें प्रयुक्त होनेवाले रेखाचित्र यन्त्र ही कहे जाते हैं। यन्त्रका अर्थ है, अव्यक्त शक्तिको व्यक्त करनेवाला आधार। आप एक यन्त्र बनाते हैं, स्थूल यन्त्र। वह यन्त्र शब्द या विद्युत् प्रकट करता है। ऐसे ही पूजाके यन्त्र देवशक्तिके लिए आधार हैं। वे देवशक्तिको व्यक्त करते हैं, यदि उनका सविधि उपयोग हो। जैसे यज्ञके द्वारा अविधिपूर्वक मशीनके उपयोगसे उसकी तथा दूसरोंकी हानि सम्भव है, वैसे ही यन्त्रका उपयोग भी अनधिकारीके द्वारा अविधिपूर्वक होनेपर अनिष्टकर होता है।

त्रिभुज, चतुर्भुज तथा दूसरी रेखाएँ अपने नित्य प्रभावसे कैसे युक्त हैं, यह बात सामुद्रिकशास्त्र भली प्रकार स्पष्ट करता है। हस्तरेखाओंसे मानवके जीवनका अभिन्न सम्बन्ध है, इसे अब पाश्चात्य ज्योतिषी भी मानने लगे हैं। इसके अतिरिक्त विद्युत्की धाराएँ रेखात्मक होती हैं, यह भी सब जानते हैं। एक रेखा जब दूसरीके समानान्तर जाती है तो एक प्रभाव और एक दूसरेको काटनेपर दूसरा प्रभाव सूचित करती है। इसी प्रकार बिन्दु स्थानका वृत्त पूर्णता और शून्यका तथा वृत्तके मध्यका बिन्दु केन्द्रका सूचक है। इन चिह्नोंका उनके दार्शनिक भावोंसे नित्य सम्बन्ध है।

बिन्दु—बस है, इतना कह सकते हैं। उसमें लम्बाई, चौड़ाई कुछ भी नहीं। ऐसा बिन्दु बनना भले शक्य न हो, किन्तु सत्ताका वही सूचक है। मूल सत्ताका दूसरा कोई निर्देश सम्भव नहीं। बिन्दुका चलना रेखा होता है। उस सत्ताकी गति ही रेखा-आकृतियाँ हैं। इसी प्रकार दूसरे चिह्न भी प्रकृतिके मूल अर्थसे सम्बन्धित हैं। उदाहरणके लिए वज्रको ले लीजिये। इसकी दो आकृति शास्त्र बतलाते हैं। एक तो त्रिभुज और दूसरे गुणकका चिह्न। विद्युत्की दो धाराओं या दो विद्युत्से युक्त तारोंको

इनमें-से किसी आकृतिमें रखकर देख लीजिये कि आकाशसे गिरनेवाले वज्रके समान शब्द और ज्योति प्रकट हो जाती है। तन्त्रमें वज्र चिह्न शक्तिका अभिव्यक्त चिह्न माना जाता है। व्यापक शक्ति इस आकृतिके आधारसे व्यक्त होती है, यह विद्युत्के उदाहरणसे सिद्ध है।

जैसे वज्रका चिह्न है, वैसे ही ग्रहोंके चिह्न भी हैं। प्रत्येक ग्रहका प्रभाव जिन आकारोंसे व्यक्त हो सकता है, वे रेखाचित्र उन ग्रहोंके प्रतीक माने जाते हैं। उन आकृतियोंके द्वारा उन ग्रहोंकी आराधना होती है। वृत्त, अर्द्धचन्द्र, षट्कोण अष्टकोण आदि प्रतीकचिह्न अपनी शक्तियोंके द्योतक हैं।

चिह्न-प्रतीकोंमें हिन्दू-समाजमें 'स्वस्तिक' सर्वप्रधान चिह्न है। जैसे समस्त अक्षर अकारसे उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही समस्त रेखाकृतियाँ स्वस्तिकके ही अन्तर्गत आ जाती हैं। प्रणवकी आकृति नादरहित होनेपर स्वस्तिक ही मानी जाती है। प्रणवके सब अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि प्रणवका प्लुत-नाद सबके कण्ठसे शुद्धरूपमें उच्चरित नहीं हो सकता। नाभिसे उठकर सहस्रार-तक कमलतन्तु-सा अत्रिच्छिन्न नाद तभी उठेगा, जब नाड़ियाँ शुद्ध हों और उनकी रचना पूर्णताको प्राप्त हो। स्त्री-शरीर तथा बहुत-सी पुरुष जातियाँ रक्तभेदसे उस नादको शुद्धरूपमें नहीं बोल सकते। नाम न होनेपर प्रणवका रूप उच्चारणमय न होकर आकृतिमय हो जाता है। यही रूप स्वस्तिक है।

केन्द्रसे चारों ओर प्रगति, चारों ओर रक्षा एवं चारों ओर उन्मुक्तद्वार—यह स्वस्तिकमें स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। स्वस्ति—कल्याणके लिए यही आवश्यक है। स्वस्तिक प्रथम पूज्य श्रीगणेशजीका यन्त्र है। वही उसके देवता हैं। इसका अर्थ है कि स्वस्तिकके द्वारा गणेशजीकी शक्तिका हम लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रधान मङ्गल चिह्नको ही पारसी समाजने उलटा कर लिया और उनके यहाँ वह अपस्तिक कहलाया। इसी प्रकार ईसाइयोंका क्रॉस भी इसीका संक्षिप्त रूप है। प्रणवका यह रूप न लेकर जिन्होंने नादको प्रतीक माना, उनकी परम्परामें काल-क्रमसे वह मुस्लिम धर्म चाँद और तारेके रूपमें आ गया। ये सब विकृतियाँ अपने उद्गमका सङ्केत तो करती ही हैं।

रङ्ग-प्रतीक

सर्वतोभद्र, नवग्रह आदिमें चिन्होंके रङ्ग निश्चित हैं। इसी प्रकार स्वस्तिक भी किस कार्यमें किस रङ्गसे बनाया जाय, यह निर्देश है। रङ्ग

केवल पदार्थोंके भी ही नहीं, भावोंके होते हैं, यह बात आज विवादकी नहीं रही है। क्रोध तथा अनुरागमें शरीरके रङ्गमें ललाई बढ़ जाती है। शोकमें—चिन्तामें पीलापन बढ़ जाता है। इसी प्रकार दूसरे रङ्ग भी भावोंसे सम्बन्धित हैं। जो लोग शरीरसे निकलने वाले सूक्ष्म तेजोमण्डल (औरा) को देख सकते हैं, या वे जो उसके सम्बन्धमें कुछ भी जानते हैं, उन्हें पता है कि प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे कुछ दूर तक एक तेज निकलता रहता है। वह मध्यम अन्धकारमें ध्यानसे देखनेपर देखा जा सकता है। मनुष्य जिस स्वभावका होता है, उसी स्वभावके रङ्ग उस तेजमें होते हैं। उन रङ्गोंसे मनुष्यके विचार और प्रकृतिका वर्णन किया जा सकता है।

सूर्य-किरण चिकित्सा-विज्ञानका कहना है कि सूर्यकी किरणोंके सातों रङ्ग हमारे शरीरमें स्थित हैं। उनमेंसे किसीकी मात्रा कम होनेपर या बढ़नेपर रोग होते हैं। रंगीन शीशेसे सूर्यका प्रकाश रोगीपर डालकर या रंगीन शीशेकी बोतलोंमें भरे जलको धूपमें रखकर उस जलके द्वारा रोगीकी चिकित्सा की जाती है। सभी रोगोंकी चिकित्सा रंगोंके भेदसे जल या धूपके द्वारा ही होती है। यह विज्ञान सिद्ध करता है कि पदार्थोंकी स्थितिका रङ्गोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिन्दू-समाजमें रङ्ग अपने प्रभावके लिए पूजामें तो प्रयुक्त होते ही हैं, उनके प्रभावोंका सर्वत्र लाभ उठाया गया है। साथ ही उन्हें प्रतीकके रूपमें भी व्यक्त किया गया है। थोड़े ही भेदसे लाल रङ्ग उष्णता, अनुराग या क्रोधका सूचक है। वह रजोगुण क्रियाका रङ्ग है। क्रियासे उष्णता और उसका रङ्ग लाल होगा, यह समझना कठिन नहीं है। क्रोधके समय लाल रङ्ग नीललोहित और अनुरागके समय सिन्दूर वर्ण होकर प्रतीक बनता है। इसी प्रकार कुछ अन्तरसे श्वेत रङ्ग सात्त्विकता, प्रतिभा, यश, शान्ति सत्य, धर्म—इनका प्रतीक है। अर्थात् रजोगुणके जो विशुद्ध कार्य हैं, उन्हें लाल रङ्ग और सत्त्वगुणके जो विशुद्ध कार्य हैं, उन्हें श्वेत रङ्ग सूचित करता है। तमोगुणका सूचक काला रङ्ग है। वह अभाव, अन्धकार, मृत्यु आदिका सूचक है जो तमोगुणके स्वरूप हैं।

जो कार्य दो या अधिक गुणोंसे मिलकर होते हैं। उनके रङ्ग भी मिश्रित होते हैं। क्रोध राजस एवं तामसके मिश्रणका भाव है, परन्तु उसमें रजोगुण विशेष है। अतएव उसका रङ्ग कालिमा लिये लाल—

नीललोहित माना गया है। इसी प्रकार दूसरे रङ्ग भी प्रतीककी भाँति साहित्य एवं चित्रकलामें भारतमें प्रयुक्त होते आ रहे हैं। प्रतीककी यह भावना भारतसे ही दूसरों देशोंमें पायी गयी, इसका प्रमाण यही है कि रङ्गोंके प्रतीक माने जानेका दार्शनिक कारण भारतके अतिरिक्त और कहीं जाना नहीं जाता। श्वेत रङ्ग शान्तिका सूचक है, यह जानते और व्यवहारमें लाते तो सब देश हैं, परन्तु क्यों ऐसा है, यह वे बता नहीं सकते।

समष्टिके भावसे हमारे भाव भिन्न नहीं हैं। रजस्के अधिष्ठाता ब्रह्माजीका जो रङ्ग है, वही रङ्ग उनके भावका होगा, जैसे मनुष्यका और उसके भावके रङ्गका होता है। उस भावमें व्यक्त सभी कार्य एवं पदार्थ उसी रङ्गके होंगे। हमारा मन जब उस रङ्गको देखेगा, वह उसके भावस्तरमें जायगा ही। फलतः लाल रङ्गसे हमारे मनमें रजोगुणके ही किसी भाव या पदार्थका उदय होगा। यह प्रतीकका विवेचन भारतने ही पाया है। इसी आधारपर प्रतीककी नित्यता स्थिर हुई है। प्रतीक हमें अपने भावजगत् तक ले जाकर तब पदार्थपर लाता है। जैसे नेत्रकी ज्योति पहले पदार्थपर पड़कर जब लौट आती है, तब पदार्थका दर्शन होता है।

पदार्थ-प्रतीक

जैसे रेखाएँ और रङ्ग भावों तथा क्रियाओंके नित्य प्रतीक होते हैं और केवल अपने मूल-पदार्थका संकेत ही नहीं करते, उनका प्रभाव भी रखते हैं; वैसे ही पदार्थ भी प्रतीक होते हैं। जैसे लाल रङ्ग रजोगुणका प्रतीक है तो वह केवल क्रोधमें शरीरसे व्यक्त हो, इतनी ही बात नहीं है; लाल प्रकाशमें क्रियाशक्तिको उत्तेजना मिलती है। रङ्गके प्रभावोंका अन्वेषण करनेवालोंने विभिन्न रङ्गोंके प्रभावपर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। प्रयोग करनेपर ये प्रभाव ठीक सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार बहुतसे पदार्थ भी अनेक प्रकारके प्रभाव रखते हैं।

हिंदू-समाजमें शङ्ख मङ्गल-प्रतीक है। वह पवित्रताका सूचक है। उसके वाद्यरूपपर फिर विचार करेंगे; यहाँ तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि शङ्खमें जो शक्ति है, वह हममें पवित्रता सञ्चारित करती है। ध्यान रखना चाहिए कि मानसिक लाभ स्थूल शारीरिक लाभसे बहुत मूल्यवान् है। हमें प्रत्येक पदार्थमें शारीरिक लाभ मिले ही, यह आवश्यक नहीं।

परन्तु प्रत्येक पदार्थसे निकलने वाले परमाणु उसके अनुरूप होते हैं और उस पदार्थके सामीप्यसे वे हममें आते हैं। पदार्थ केवल भावका मूर्तरूप है। भावरूप पदार्थ हमारे भावोंको प्रभावित करेगा ही। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हम किसीके सम्बन्धमें कोई विचार करें तो शब्दों या चेष्टाओंसे व्यक्त किये बिना भी उस व्यक्तिपर उन विचारोंका प्रभाव पड़ता है। समष्टिकर्तृके भाव ही पदार्थरूपमें व्यक्त हैं तो उन व्यक्त भावोंके सानिध्यका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ेगा ही। जिस पदार्थका जैसे भाव मूल कारण है, वह पदार्थ हमारे ऊपर वैसा ही प्रभाव डालता है। उस पदार्थको उसी भावका प्रतीक कहा जाता है। शङ्ख हमारे मनमें पवित्रताका सञ्चार करता है, इसीसे उसको पवित्रता, आनन्द एवं मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

किसी पदार्थको किस भावका प्रतीक होना चाहिए, वह क्या प्रभाव डालता है, यह निर्णय विशुद्ध, निरपेक्ष मनके द्वारा ही हो सकता है। जैसे ओषधिका वास्तविक रूप पूर्ण स्वस्थ शरीरमें ही जाना जाता है। अन्यथा मनकी स्थितिके अनुसार प्रभावका ग्रहण होगा। राग-द्वेष या विभिन्न इच्छा-शिक्षाके संस्कारोंसे युक्त मन किसी वस्तुके प्रभावको अपने अनुरूप परिवर्तित कर देता है। अतएव ऐसे मनपर पड़ने वाले प्रभावसे प्रतीकका निश्चय नहीं हो सकता।

शङ्खकी भाँति ही स्वर्ण दृढ़ता, बहुमूल्यता और परीक्षणमें स्थिरताका प्रतीक माना जाता है। जहाँ स्वर्णमें ये गुण हैं, वहीं उससे यह प्रभाव भी पड़ता है। इसीसे स्वर्णधारण पवित्र माना गया है। इसी प्रकार अस्थिको अपवित्रताका प्रतीक बताया गया है। उसके स्पर्शसे अपवित्रता एक सञ्चार होता है।

प्राणी-प्रतीक

गौ, पृथ्वी क्षमाका प्रतीक है। वृषभ धर्मका प्रतीक है। हंस प्रतीक है ज्ञान एवं निर्णयका तथा सर्प बल और प्राणका प्रतीक है। इसमें से या ऐसे प्रतीकोंमें से कुछको समझना तो सरल है, पर कुछको समझना सरल नहीं है। हंसकी शुभ्रता, तीव्र गति, नीर-क्षीर-विवेक धर्मसे परिचित होनेके कारण यह तो समझमें आता है कि हंस ज्ञान एवं यथार्थ निर्णयका प्रतीक

हैं। यह बात भी समझी जा सकती है कि जिसमें जो गुण प्रत्यक्ष है, वह उसी भावका मूर्तरूप है। उसके सान्निध्य या स्मरणसे मनमें उस भावका उदय होगा, वह मनपर अपने गुणका प्रभाव डालेगा; परन्तु गायका पृथ्वीसे या साँड़का धर्मसे सम्बन्ध बहुत विचित्र लगता है।

पृथ्वीके अधिदेवताकी आकृति गोरूप और धर्मकी वृषभरूप है, यह बात तो शास्त्र कहते ही हैं। प्रत्येक पदार्थ एवं दिव्य भाव जगत्से ही स्थूल जगत्में आता है, यह बात भी है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वीमें सम्पूर्ण तीर्थ, दिव्य धाम, देवस्थान हैं और वहीं देवताओंकी आराधना होती है, वैसे ही शास्त्र गौके शरीरमें सारे देवताओंकी स्थिति बतलाते हैं। देवताओंकी स्थितिमें तो दोनों स्थानोंमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। गोवंशपर ही समाजका धारण है, यह बात भी प्रत्यक्ष है। पृथ्वीके समान धारक होनेके साथ गौ क्षमाकी मूर्ति और पालक भी है।

वृषभ धर्मका प्रतीक है। भगवान् शिव-कल्याणका वाहन वृषभ(धर्म) हो करता है। नन्दीका यह प्रतीक भारतमें इतना प्राचीन एवं मान्य रहा है कि हिंदू राजाओंके अतिरिक्त भारतीय देशोंके जो ग्रीक या मुगलकालसे पूर्व मुसलमान शासक हुए हैं, उनके सिक्कोंपर भी बहुधा नन्दीकी मूर्ति अङ्कित मिलती है। नवीन भारतीय टिकटोंके चित्रोंमें भारतसरकारने मोहन-जो-दड़ोंमें प्राप्त एक नन्दीकी मूर्तिका चित्र देना स्वीकार किया है। वह मूर्ति देखनेपर ही धर्मकी पूर्ण एवं सर्वाङ्ग भव्यभावना व्यक्त होती है।

धर्म प्रतिपालक है सौर उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वह विनाश भी कर देता है। धर्ममें दुर्बलताको स्थान नहीं। सौम्य, सुपुष्ट; किन्तु अधर्मके प्रति दुर्धर्ष भी। वृषभ—साँड़में ये सब गुण हैं। सब भाव हैं। वृषोत्सर्ग हिंदूधर्मका एक मुख्य भाग रहा है। वृषभ—साँड़ भारतमें सदा धर्म भावनासे ही छोड़े जाते थे। यही धर्मभावनासे छूटे साँड़ गोवंशका वर्धन करते थे। साँड़ोंको पालकर उनसे व्यवसाय चलाना हिंदू-समाजमें अब तक हेय कर्म है। साँड़—वह तो धर्मका प्रतीक है। उसके लिए कहीं प्रतिबन्ध नहीं। वह खुला घूमता और चरता था। धर्ममें लोभने प्रवेश किया; लोगोंने सस्ते, दूषित बछड़े छोड़ने प्रारम्भ किये। फलतः गायोंकी नस्ल गिर गयी। धर्मकी उपेक्षासे होने वाली हानि समाज भोग रहा है।

वृषभ धर्मका प्रतीक है, यह शास्त्रीय नियम स्मरण आते ही एक भाव उठता है। सम्भव है, हमारी धारणा भ्रान्त हो; परन्तु उसे व्यक्त करनेका लोभ छोड़ा नहीं जा सकता। हमें लगता है कि रट्टी कोटिके साँड़ोंको छोड़ना, समर्थ होकर भी वृषोत्सर्ग न करना, छूटे साँड़ोंको मारना, बाँधना, सताना, उनकी स्वतन्त्रतामें बाधा देना, यह सब अधर्म है। इस अधर्मके प्रभावसे हमारे धर्मपर बहुत अधिक विपत्तियाँ आयी हैं और अनर्थ हुए हैं। यदि यह अधर्म दूर हो जाय, धर्मका प्रतीक वृषभ निर्द्वन्द्व, निर्वाध, स्वच्छन्द, सुपूजित देशमें घूमने लगे, हम उसके द्वारा खाये खेतको हानि न मानकर सौभाग्य समझने लगे तो 'धर्मो रक्षितः' हमारे धर्मपर आयी बहुत-सी आपत्तियाँ दूर हो जायँगी। धर्मके प्रतीककी रक्षासे धर्म स्वतः रक्षित होकर हमारी रक्षा कर लेगा।

पशु-पक्षियोंमें और भी बहुतसे प्रतीक हैं। उनका विस्तृत वर्णन तो शक्य नहीं है; पर वृषभकी भाँति वे भी जिस प्रभाव या शक्तिके प्रतीक हैं वैसा प्रभाव उनमें है और उस देव-शक्तिसे उनका सम्बन्ध है, यह समझ लेना ही पर्याप्त है। उन प्रतीकोंके द्वारा विधिवत् उपासनासे हम उस देवताका प्रसाद प्राप्त कर सकते हैं। उपासना न करनेपर भी उन प्रतीकोंके सान्निध्यसे उस देवताका स्थूल जगत्में जो कार्य है, वह हमें प्रभावित करता है। चाहे वह प्रतीक हंसके समान उन गुणों या शक्तियोंको सहज-रूपमें रखता हो, जिनका प्रतीक है या वृषभके समान उसमें अप्रत्यक्ष प्रभाव हों।

पुष्प-प्रतीक

कमल हिन्दू-समाजका मुख्य प्रतीक पुष्प है। रङ्ग-भेद तथा बन्द होने और खिलनेके क्रमसे उसके कई नाम हैं और वे अनेक भावोंके द्योतक हैं। कमल ऐश्वर्यस्थान तथा सुखका सूचक है। कमलकी शास्त्रोंमें बड़ी महत्ता है। भगवान् ब्रह्मा और श्रीलक्ष्मीजी, दोनों कमलसे उत्पन्न हुए, दोनोंका आसन कमल ही है। भगवती सरस्वती भी श्वेतकमलपर ही विराजमान होती हैं। भगवान्के तथा लक्ष्मीजीके भी एक हाथमें कमल शोभित होता है। लोकोंकी सृष्टि ब्रह्माजीने कमलाकार की है। हमारी पृथ्वीकी आकृति भी कमलके समान बतायी गयी है और साधनाके क्षेत्रमें शरीरमें जो षट्चक्र निर्दिष्ट हैं, वे सब कमलके ही समान हैं।

भारतमें कमल शृङ्गार, शोभा और क्रीड़ाके लिए बराबर प्रयुक्त होता रहा है। साहित्यमें कर, चरण, मुख, नेत्र आदिकी उपमाओंके लिए बार-बार इस पुष्पको स्मरण किया गया है। इसके बिना उपमाकी साङ्गता ही नहीं होती। देवताओंका आसन कमलपर ही होता है, फलतः मूर्तियों, मन्दिरोंमें कमलाकृति सर्वत्र मिलेगी।

कमल अपनी शोभा और शृङ्गारके लिए प्रख्यात है। इस पुष्पमें जो प्रकाशमें खिलना और अन्धकारमें सङ्कुचित होना, यह स्वभाव है, वह भी हमें प्रेरणा देता है—प्रकाशकी ओर जानेकी। आनन्द तो प्रकाशमें ही है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताके नियमसे शरीरके योगचक्र बतला देते हैं कि ब्रह्माण्डके भिन्न-भिन्न लोकोंकी आकृति कमलके समान है, अवश्य ही उनमें दलोंकी संख्या समान नहीं है। विश्वकी जो आकृति है, योगमार्गमें हमें जिन कमलचक्रोंसे सदा काम पड़ता है, उनको छोड़कर हम दूसरे पुष्पको अपना प्रतीक मान लें तो क्या लाभ उठावेंगे ?

तुलसीकाननं यत्र यत्र पद्मवनानि च ।

धेनूनां पूजनं यत्र तत्र सन्निहितो हरिः ॥

यहाँ बतलाया गया है कि कमलवन जहाँ हो, वहाँ भगवान् नित्य सन्निहित रहते हैं। कमलमें लक्ष्मीजीका नित्य निवास माना गया है। श्वेत कमल श्रीसरस्वतीजीका निवास है। कमलका अलक्ष्य प्रभाव जो हमें प्राप्त होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं करनी है ; किन्तु जिसने कमल न देखा हो, उसे हृदय-कमलका ध्यान करनेमें कितनी कठिनता होगी, यह समझा जा सकता है। दिव्य शक्तियाँ तो लोकोंकी अधिष्ठाता शक्तियाँ हैं। लोक ही उनके आसन हैं। जब लोकोंकी आकृति कमलके समान है तो देव-मूर्तियोंके पीठ उस प्रकारके बनेंगे ही। जैसे देव-विग्रह वास्तविक है, दिव्य जगत्में नित्य स्थित है, वैसे ही उनका पीठ भी है। कमल देव-पीठ है। उसमें अन्तर्मुखताकी प्रेरणा है—प्रकाशकी आराधना है। अन्तर्मुख होनेमें वह आधार होता है, अतः वह भारतका मुख्य प्रतीक पुष्प है। आनन्दका प्रतीक है वह इसलिए कि आनन्द प्रकाशमें, अन्तर्मुखतामें है।

भारतीय मन्दिरोंके शिखरोंके दो प्रकार मिलते हैं, एक तो एकके ऊपर एक मण्डल छोटे होते जाते हैं, सप्त लोकोंके क्रमसे और दूसरे बन्द कमलके समान। मस्जिदका शिखर गुम्बद होता है और गिरजाघरका सीधा तिरछे

जाता है, ये दोनों आकृतियाँ कमलाकृतिसे ही व्यक्त हुई हैं। वन्द कमलके आकारको कुछ और गोलाई देनेपर गुम्बद और तिरछे करनेपर गिरजे-जैसा शिखर हो जायगा ; परन्तु मन्दिरका शिखर अपने भीतर अर्थ रखता है। शरीरके भीतर जो चक्र है, उनमें देवताओंका जैसे निवास है और वे चक्र वन्द होते हैं, वैसी ही आकृति मन्दिर-शिखरोंकी होती है।

शस्त्र-प्रतीक

वाण लक्ष्यका सङ्केत करनेवाला प्रतीक है और समूचा संसार उसे इसी रूपमें आज भी काम लेता है। सब जानते हैं कि धनुष-वाण भारतीय शस्त्र है। वाण लक्ष्यका सङ्केत करने वाला है—यह धारणा विश्वमें भारतसे न गयी हो तो उसका दूसरा उद्गम ही नहीं है। इसी प्रकार गदा शक्तिका प्रतीक है और तलवार शस्त्रबलका। इस परमाणु बम और तोपोंके कालमें भी जहाँ शस्त्रबलसे अधिकारकी बात आती है, वहाँ तलवार शब्द ही प्रतीकके रूपमें उपयोगमें आता है। चक्र निरन्तर घूमनेवाली गतिका और त्रिशूल वेधन करनेका सूचक है और आज भी इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त होता है।

वैष्णव-मन्दिरोंके शिखरपर चक्र तथा शैव-मन्दिरोंके शिखरपर त्रिशूल लगानेकी प्राचीन प्रथा है। ये प्रतीक सूचित कर देते हैं कि मन्दिरमें किस प्रकारके श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठा है। इन शास्त्रोंको जिन भावोंका प्रतीक माना जाता है, वे बहुत स्पष्ट हैं। अब तक शस्त्र उन्हीं भावोंके प्रतीक हैं।

वाद्य-प्रतीक

शङ्ख तो मङ्गल प्रतीक है ही। उसकी ध्वनि प्रणवनाद है। सभी कर्मोंका प्रारम्भ हिन्दू-समाज मन्त्रोच्चारणपूर्वक करता है और मन्त्रोंका मूल प्रणव है। अतः प्रणवनाद व्यक्त करनेवाला शङ्ख सभी कार्योंमें मुख्य वाद्य है। मङ्गल-कार्योंमें वह मङ्गलका प्रतीक और युद्धमें विजयका प्रतीक है। इन्हीं उद्देश्योंसे उसका उपयोग होता है। देवाराधनसे लेकर संग्राम-भूमि तक वह सर्वत्र उपयोगमें आता है। जैसे प्रणव पवित्र है, वैसे ही शङ्खनाद तथा शङ्ख भी। श्मशानादिमें उसका उपयोग नहीं होता।

किसी पाश्चात्य डॉक्टरने परीक्षण करके देखा था कि शङ्खनादसे प्लेग, इन्फ्लुएन्जा तथा दूसरे संक्रामक रोगोंके कीटाणु मर जाते हैं। चूहे

गिरते समय एक बार इसका प्रयोग किया गया और फिर बहुत थोड़े चूहे गिरे। दो-तीन दिनमें ही उनका गिरना बन्द हो गया। जो चूहे पीछे गिरे वे प्रयोगसे पूर्व रोगी हो चुके होंगे, ऐसा उस समय अनुमान किया गया। शङ्खनाद जहाँ तक गूँजता है वहाँ तक भूत-प्रेतादि बाधक योनियोंके सूक्ष्म शरीरी प्राणी रह नहीं पाते, वे वहाँसे भाग जाते हैं ऐसा शास्त्रोंका कहना है। शङ्खनादमें एक श्रृंखला होती है। यह श्रृंखला हम देखते हैं कि कुत्तेको उद्विग्न कर देती है। वह शान्त नहीं रह पाता। शब्दको सह न पानेके कारण शङ्खनाद होने तक उसी प्रकार चिल्लाता रहता है। इसी प्रकार वायु-शरीरी प्रेतादिकोंके शरीरके लिए भी शङ्खनादकी श्रृंखला असह्य होती है। इस प्रकार बाधक तत्वोंको दूर करके भी यह नाद मङ्गलको प्रशस्त करता है।

वाद्योंमें भेरी रणका प्रतीक है, वंशीका कोमल नाद अपने सम्मोहनके लिए प्रसिद्ध है ही। वीणा स्वयं वाद्य एवं गायनका प्रतीक है और मृदङ्ग नृत्यका। डमरू उदाम नृत्यका प्रतीक है। इन वाद्योंको ठीक-ठीक बजाया जाय तो ये जिस भावके प्रतीक हैं। वे भाव हृदयमें प्रबलतासे उठते हैं, यह सभी जानते हैं। वाद्योंका शरीर और मनपर व्यापक प्रभाव पड़ता है, यह विवादका विषय नहीं है।

वृक्ष-प्रतीक

तुलसी, अश्वत्थ, वट, आँवला, अशोक, विल्व आदि कुछ वृक्ष हिंदू-समाजमें नित्य या विभिन्न अवसरोंपर पूजित होते हैं। इनको विभिन्न देवताओंका प्रतीक माना जाता है। अनेक देवताओंकी प्रसन्नता इनके माध्यमसे प्राप्त होती है। यों तो सभी पदार्थोंके अधिष्ठाता देवता माननेसे हिंदू-समाजमें पूजा सबकी होती है; किंतु प्रतीक वृक्ष अपनी विशेषता रखते हैं। पीपल या तुलसीकी पूजा सामान्य वृक्षकी पूजासे भिन्न है। आजके आलोचक इन प्रथाओंको जब समझ नहीं पाते तो असभ्य युगके अवशेष संस्कार कहकर इनका उपहास करते हैं।

तुलसी, पीपल, आँवला, निम्बादिके भौतिक-शारीरिक लाभ बहुत हैं और आयुर्वेदशास्त्रमें उनका विस्तार है। उनके बहुतसे उपयोग सर्व-साधारण जानते भी हैं। यह सब होकर भी प्रत्येक आध्यात्मिक प्रतीकसे भौतिक लाभ ढूँढ़नेकी वृत्ति श्रेष्ठ नहीं है। दूर्वा और कुशके जो उपयोग

पूजादिमें पावन प्रतीकके रूपमें हैं। पञ्चपल्लव, पञ्च समिधाएँ, शमी, आक आदिके जो उपयोग पूजामें वर्णित हैं, सबके लिए शारीरिक लाभकी कल्पना करनेकी प्रवृत्ति ही अच्छी नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता जिस प्रकार शरीरको ही सब कुछ मानकर विचार करती है; हिंदू-संस्कृतिकी विचारधारा वैसी नहीं है। हमारे यहाँ शारीरिक लाभ तुच्छ वस्तु है। शरीरको सुखाकर, निर्वल करके ही तपस्या होती है और तपका जो महत्त्व शास्त्रोंमें है, वह सर्वविदित है। इसी प्रकार पूजा, उपासना आदिके धार्मिक प्रतीकोंका मुख्य प्रभाव मनसे सम्बन्ध रखता है। इसी दृष्टिसे ऋषियोंने पदार्थोंका तारतम्य निश्चित किया है।

तुलसीका वीरुध मलेरिया-नाशके लिए उपयोगी है, यह सिद्ध होनेपर भी उससे इसी कार्यके लिए अधिक उपयोगी दूसरी औषधि अप्राप्य नहीं है, यह मानना पड़ेगा। यही बात सभी आध्यात्मिक प्रतीकोंके सम्बन्धमें तब कही जा सकती है, जब हम उसके भौतिक लाभका प्रतिपादन करके उसका महत्त्व सिद्ध करना चाहते हैं। वैसे जो व्यक्ति केवल भौतिक लाभ-तक ही विचार कर सकते हैं, उनके लिए भौतिक लाभका वर्णन भी ठीक ही है; क्योंकि जो भौतिक लाभके लिए तुलसीकी सेवा करेगा, उन्हें अपने गृहमें लगावेगा, वह उनके आध्यात्मिक लाभको भी कुछ-न-कुछ पावेगा ही। यों पूरा मानसिक लाभ तो श्रद्धाकी अपेक्षा करता है। इतना होनेपर भी तुलसीका वास्तविक महत्त्व लाभकारी ओषधि होनेमें नहीं है। उनका महत्त्व तो पावनकारी प्रभावमें है। वट, पीपल, कुश, दूर्वादिके सम्बन्धमें भी यही बात है।

अन्नोका सात्त्विक, राजस, तामस भेद जिस प्रकार मनके प्रभावकी दृष्टिसे निर्धारित है, वैसे ही वृक्षादि प्रतीकोंकी बात है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे प्याज और लहसुन बहुत लाभकारी है। अनेक अवस्थाओंमें इनकी दुर्गन्ध भी दूर हो जाती है। इनमें हिंसादि दोष भी नहीं; किंतु ये तामसिक पदार्थ माने गये हैं। इनका सेवन शास्त्रवर्जित है। यह प्रभाव स्थूल विवेचनसे नहीं जाना जा सकता। अवश्य ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इसी प्रकार तुलसी आदिके दिव्य प्रभाव भी श्रद्धापूर्वक उनके सेवनसे अनुभवमें आते हैं। उनका स्थूल विवेचन शक्य नहीं है।

भाव-जगत्के स्थूल जगत्में मूर्त होने तथा प्रत्येक क्रिया एवं पदार्थके अधिष्ठाता देवता तथा उन दिव्य शक्तियोंका उन पदार्थोंसे सम्बन्धित होनेकी

वात हिंदूशास्त्रोंमें स्पष्ट है। कौन-सा पदार्थ, कौन-सी क्रिया, किस दिव्य शक्तिसे सम्बन्धित है, वह सम्बन्ध कैसा है, यह हम चाहे न जान सकें ; परन्तु सर्वज्ञ ऋषियोंके वर्णनोंपर हमें श्रद्धा करनी चाहिए। लोकमें हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। कोई गुलाबके पुष्प और अमरुद पसन्द करता है और कोई कमल और आम। इसी प्रकार पशु, पक्षी, स्थानादिके सम्बन्धमें भी सबकी रुचिमें भेद होता है। देवता भी चेतन हैं। अतः रुचि-भेद उनमें भी स्वाभाविक है। किस देवताकी कैसी रुचि है, कौन किस वस्तु या स्थानसे विशेष प्रेम रखता है, यह शास्त्रोंने निर्देश किया है। हम उन प्रतीकोंसे देवताको प्रसन्न करते हैं।

बहुतसे लोग मिचकि बिना भोजन नहीं कर पाते, ऐसे ही तुलसीदल पड़े बिना भगवान्‌को नैवेद्य नहीं रुचता। भगवती लक्ष्मीकी तृप्ति बिल्वकी समिधाओंमें दी गयी आहुतिसे अधिक होती है। पीपल देवताओंको इतना प्रिय है कि सब उसके विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हैं। जैसे गौके शरीरमें। इसी प्रकार अनेक देवशक्तियोंका अनेक तरुओंमें निवास है। कुश और दुर्वामें मनको शान्त करनेकी शक्ति है, कुछ उसी प्रकारकी प्रभाव-शक्ति जैसी किसी महापुरुषके समीप चुपचाप बैठनेसे प्रतीत होती है। इस प्रकार सभी प्रतीक अपना आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं।

वेश-प्रतीक

शिखा, यज्ञोपवीत, मेखला, तिलक, माला, गैरिकादि वस्त्र, दण्ड—ये वेश प्रतीक हैं। आजकलके सुशिक्षित इन सब चिह्नोंका परिहास करने लगे हैं। आज समाजमें ये हीनताके द्योतक हो गये हैं। एक सज्जनसे पूछा गया—‘आपने चोटी क्यों कटवा दी?’ उत्तर मिला—‘टोपीसे बाहर निकल जाती थी।’ इस अपराधपर चोटीको सफाचट होनेका दण्ड देनेकी भावना जहाँ व्याप्त हो गयी हो, वहाँ यह कैसे समझा जा सकेगा कि चोटीके बदले मस्तक कटवा देनेवाले धर्मशूरोमें चोटीके प्रति कितना भाव था। समाजमें गौरवके लिए प्राण देनेकी प्रवृत्ति सदा रही है। जब धर्मके लिए प्राण देना गौरवकी बात थी, तो धर्मपर चाहे जितने सङ्कट आये हों, वह सुरक्षित था ; परन्तु आज तो धर्मके चिह्न रखना भी अपमानका कारण होता है। अपमान, तिरस्कार सहकर कोई काम करना सहज नहीं। धर्मपर वास्तविक सङ्कट तो पाश्चात्य विचार-धाराके रूपमें इस समय आया है। इस समय

जो विवेकको स्थिर रख सके, वही धर्मात्मा है। धन्य है ! धर्मके इन प्रतीकों-पर पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा विचार करके चलना ठीक होगा ; क्योंकि आजके तर्कयुगमें इनकी उपयोगिता जान लेना बहुत आवश्यक हो गया है।

शिखा—हिंदू-समाजकी आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार मुण्डन-संस्कारके साथ ही शिखा रख दी जानी चाहिए। वैसे ब्रह्मचारी और वानप्रस्थोंके लिए तो जटा रखनेका आदेश है और संन्यासी या तो जटा रखे या पूरा सिर मुँड़ा दे, ऐसा आदेश है। उसके लिए शिखा-न्यास हो चुका है। शिखा गृहस्थोंमें ही रखी जाती है। उनमें भी जो चाहें, पूरे सिरके बाल रखें, इसमें बाधा नहीं है। पूरे मस्तकमें बाल रखने वाले गृहस्थ और जटा रखने वाले ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थ भी शिखा-न्यास करते तथा शिखाका ग्रन्थि-बन्धन करते हैं। जो शिखा रखते हैं, उनको गोखुरके आकारकी शिखा रखनी चाहिए, ऐसा आदेश शास्त्रका है।

शिखा रखनेका अधिकार चारों वर्णोंको है। इसका अर्थ है कि हिंदू-शास्त्र मनुष्यमात्रको शिखा रखनेका अधिकारी मानते हैं। अवश्य ही यह आवश्यकता पुरुषोंके लिए ही है। पुराणोंके अनुसार महाराज सगरने जिन हूण, किरातादिकोंको पराजित किया, उनको धर्मच्युत करनेके लिए उनकी शिखाएँ या तो मुँड़वा दीं या उनकी ठीक स्थानकी शिखा मूड़कर सिरमें अन्यत्र दो या तीन शिखाएँ रखवा दीं। प्राचीन कालमें किसीका पूरा सिर घुटवा देना प्राणदण्डके बराबरका दण्ड माना जाता था। पूरे सिरके घुटवानेमें शिखा घुटवाना ही मुख्य है, क्योंकि शेष मस्तक घुटवानेकी तो समाजमें प्रथा थी ही। इससे सूचित होता है कि शिखाका सम्बन्ध धर्मसे है और धर्मच्युति तो धर्मप्राण हिंदूके लिए प्राणदण्डके समान दण्ड है ही।

सन्ध्या नित्य-कर्म है। सन्ध्याके त्यागसे व्यक्ति धर्मच्युत हो जाता है, यह शास्त्रोंने बार-बार आदेश दिया है। सन्ध्यामें शिखाबन्धन आवश्यक है। इसी प्रकार सभी संस्कारोंमें न्यास होते हैं। अङ्गन्यासमें एक न्यास शिखामें होता है। दूसरे अङ्ग तो शरीरमें रहेंगे ; परन्तु यदि शिखा मुड़वा दी जाय तो शिखान्यास कैसे होगा ? न्यासकी अपूर्णतासे संस्कार अपूर्ण रहता है। संस्कारहीन व्यक्ति धर्मच्युत है, इसमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

विश्वमें मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो आकाशकी ओर सीधे मस्तक करके चलता है। केवल मनुष्यके बालोंके रङ्ग जीवनमें बदलते हैं।

शेष सभी प्राणियोंके बाल एक ही रङ्गके जीवनपर्यन्त रहते हैं। पशुओं और मनुष्यमें अन्तर क्या है ? 'धर्मो हि एकोऽधिको विशेषः।' केवल धर्मकी भावना। बुद्धि तो बहुतसे पशुओंमें भी बहुत है। धर्म-धारणकी शक्ति, मनुष्यको जो सिखलाया जाय, उसे सीखनेकी उसमें शक्ति है। वह ईश्वरीय ज्ञानको धारण करने वाला है। इस विशेषताके साथ मनुष्यके बालोंमें जो विशेषता आयी, वह बालोंका सम्बन्ध इस विशेषतासे सूचित करती है। शिखाका स्थान सिरका केन्द्रभाग है। वहाँके बाल दिव्यजगत्के आध्यात्मिक प्रभावको ग्रहण करते हैं। शिखा-ग्रन्थि उस प्रभावको व्यवस्थितरूपमें प्राप्त करनेके लिए है। मनुष्यमात्र इस प्रभावसे लाभ उठावें, इसीसे उसमें सबका अधिकार माना गया है। जो पूर्णज्ञानकी परिपक्वावस्थामें पहुँच गये हैं, वे लोग यदि शिखा रक्खें तो फिर उस माध्यमसे उनका प्रभाव बाहर जायगा; क्योंकि पात्रके पूर्ण होनेपर द्वार बन्द न हो तो उसके पदार्थके गिरनेका भय होता है। इसीसे संन्यासियोंके लिए शिखा-न्यासकी विधि है। स्त्रियाँ भाव-प्रधान होती हैं। अतः उन्हें भावके द्वारा ही आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिए। ज्ञानात्मक प्रभाव बौद्धिक विकारका उनके लिए कारण हो सकता है। उनके लिए शिखा, न्यासादि किसी कर्मकी आवश्यकता मानी नहीं गयी।

जो अनधिकारी हैं, व्यसनी हैं वे ज्ञानका दुरुपयोग करते हैं। वे धर्मको दम्भ बना लेते हैं। उनकी बुद्धिमें जितना तत्त्वज्ञान विकसित होगा, वे उसका उतना ही दुरुपयोग करेंगे। इसीलिए ऐसे उच्छृङ्खल लोगोंकी शिक्षा मुण्डित कर दी जाती थी और वे आगे शिखा न रक्खें, यह आदेश दे दिया जाता था। उनको ज्ञानका अधिक दुरुपयोग करने देना अभीष्ट नहीं था। धर्मकी धारिका शक्तिको प्राप्त करके वे उसका दुरुपयोग ही करते।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग समाजमें दम्भ एवं बुद्धिका दुरुपयोग करें, समाजको चाहिए कि उन्हें शिखाहीन कर दे। शेष समस्त मनुष्योंको शिखा रखना चाहिए। शिखाका त्याग जहाँ भ्रम हुआ है, विचार-पूर्वक नहीं हुआ है।

यज्ञोपवीत—यज्ञोपवीत पहले वर्णभेदसे ऊन, रेशम और सूतके होते थे। ब्रह्मचारी मूँजका यज्ञोपवीत धारण करते थे। यज्ञोपवीतका अधिकार द्विजातियोंको ही है। उपनयन-संस्कारसे यज्ञोपवीत प्राप्त होता है। यह इस बातका चिह्न होता कि व्यक्ति द्विजाति है। उसे वेदोंके श्रवण एवं पठनका

अधिकार है। अनधिकारीके वेद श्रवण करनेसे सुननेवालेकी ही हानि होती है। यदि वह पढ़नेका प्रयत्न करे तो उसकी हानि होगी और पाठ विकृत होगा। अनधिकारीको देखते ही ज्ञान होनेके लिए यज्ञोपवीत उत्तम प्रतीक था।

यज्ञोपवीतसे कोई शारीरिक लाभ ढूँढ़ना व्यर्थ है। ऐसा होता तो उसमें मनुष्यमात्रका अधिकार होता। यज्ञोपवीत स्मारक प्रतीक है। वह नित्य स्मरण दिलाता है कि वेदकी त्रयी पद्धति कर्म, ज्ञान एवं उपासनाके द्वारा देव, पितृ तथा ऋषि-ऋणसे उद्भूत होना है। इन ऋणोंसे छूटनेपर संन्यासी यज्ञोपवीतका त्याग कर देता है। जिन वर्णोंको वेदत्रयी तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें प्रविष्ट होकर चलना है, उन्हींके लिए यज्ञोपवीत है। चतुर्थवर्णका तो एक ही आश्रम है गृहस्थ, एक ही धर्म है—सेवा। उसपर जो ऋण है, वह एकाकार है। सेवासे ही वह दूर हो जाता है। उसे इस स्मारक-प्रतीककी आवश्यकता नहीं है।

शरीरके अनेक अङ्गोंमें अनेक देवताओंके स्थान हैं। व्यष्टिमें भी समष्टिकी पूरी सत्ता संक्षिप्तरूपसे है। यज्ञोपवीत अनेक कर्मोंमें सव्य, अनेकमें अपसव्य तथा कुछमें कण्ठीकी भाँति करके वे कर्म किये जाते हैं। जैसे पूजनके यन्त्र देवशक्तिको व्यक्त करनेके पीठ होनेसे देवविग्रह माने जाते हैं, वैसे ही यज्ञोपवीत भी तीन व्याहृतियों वाली गायत्रीका स्वरूप है। वह गायत्री पीठ है। यज्ञोपवीतके साथ गायत्रीका अधिकार प्राप्त होता है, उसका नित्य जप अनिवार्य होता है और यज्ञोपवीतके न्यासके साथ गायत्रीका न्यास हो जाता है। यज्ञोपवीतके तार गायत्रीकी व्याहृतियोंके पीठ हैं। मेधासे जैसे गायत्रीका सम्बन्ध है, वैसे ही गायत्रीका भी है। यज्ञोपवीतको अपसव्य या कण्ठी वहीँ करना पड़ता है, जहाँ किसी ऐसी शक्तिको तुष्ट करनेकी बात है, जो गायत्रीकी पवित्रतासे दूर रहनेवाली है। यज्ञोपवीतके द्वारा गायत्रीकी शब्द-शक्ति एवं दिव्य-शक्ति हमें प्रभावित करती है, इसीसे उसका यह व्यक्त पीठ उसीके समान पवित्र माना जाता है। यन्त्रों एवं मूर्तिपीठोंकी भाँति इसकी पवित्रता, रक्षा, धारणविधि आदिकी भी निश्चित मर्यादाएँ हैं। यन्त्रोंके समान ही इसके निर्माणकी विधि एवं माप है। गायत्री व्यापक तत्त्वका मन्त्र है और यज्ञोपवीतकी ब्रह्मग्रन्थि इसे ही सूचित करती है। उसमें ग्रन्थित्रय, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि वही हैं जो साधनामें जीवको भेदन करनी पड़ती है। तन्त्रशास्त्रमें इन ग्रन्थियोंके भेदन एवं स्वरूपका विशद वर्णन है।

व्याहृतित्रयीसे ग्रन्थिभेद पूर्ण होनेपर चतुर्थीश्रय तथा तुरीय स्थितिमें यज्ञोपवीत एवं व्याहृतिका न्यास होकर प्रणवमात्र अवशिष्ट रहता है । संन्यासीका मन्त्र प्रणव ही है ।

मेखला—मूँजका प्रभाव भी मनपर कुशके समान ही पड़ता है । मूँजकी मेखला ब्रह्मचागी धारण करता है । गृहस्थ कटिसूत्र सूत या रेशमका धारण करते हैं । अब कटिसूत्रकी प्रथा उठती जा रही है । कटिसूत्र संयमका सहायक है । मेखला और उसकी कटिके पृष्ठकी ग्रन्थि व्यक्तिको चित (पीठके बल) सोनेमें बाधा देती है । इससे ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायता मिलती है । स्वप्नदोषका भय नहीं रहता । कटिसूत्र इतनी प्रबल सहायता तो नहीं देता, परन्तु वह कटिकी स्नायुओंको प्रभावित, संगत किये रहता है । इसी शारीरिक लाभके कारण कटिसूत्रके मानवमात्र अधिकारी माने गये हैं । सभीको इसे धारण करना ही चाहिए ।

तिलक—तिलकके मुख्यभेद दो हैं—ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा त्रिपुण्ड्र । ऊर्ध्वपुण्ड्र वैष्णव लगाते हैं और त्रिपुण्ड्र शैव । विन्दु शक्तिका तिलक है और इसे दोनों ही किसी-न-किसी रूपमें लगाते हैं । चन्दन, भस्म आदि पदार्थके भेदसे, रेखाओंके स्थान, परिमाण, स्वरूप, रङ्ग आदिके भेदसे तिलकके बहुत भेद होते हैं । तिलक लगानेकी परिपाटी हिन्दू समाजमें अनादि कालसे है । तिलक निष्ठा, शोभा, शृङ्गार एवं विभूतिका प्रतीक है ।

आकृति, पदार्थ रङ्गादिके भेदके कारण तथा उनके प्रभावपर सम्प्रदायोंके तिलक-माहात्म्य एवं स्वरूप-वर्णनमें विभिन्न ग्रन्थोंमें बहुत कुछ कहा गया है । यहाँ उसका विस्तार शक्य नहीं । तिलक लगानेका मुख्य स्थान ललाट है ; परन्तु और भी ग्यारह स्थान तिलक करनेके हैं । बारह स्थानोंपर तिलक किया जाता है । पदार्थोंके प्रभाव, रङ्गके प्रभाव तथा शरीरके स्थानोंकी विशेषताका ध्यान रखें तो तिलकका प्रभाव समझमें आ सकता है । अपनी निष्ठा एवं साधनके अनुकूल प्रभावकी प्राप्तिके लिए तिलकके पदार्थ, आकृति आदिमें भेदका विधान होता है ।

माला—मालाके पदार्थ बहुत माने गये हैं—रुद्राक्ष, तुलसी, पद्मकाष्ठ, स्फटिक, कमलगट्टा, शङ्ख, सूत, स्वर्णादि । मालाका उपयोग जपके लिए, कण्ठादिमें धारणके लिए और शृङ्गारके लिए होता है । शृङ्गारके सम्बन्धमें कुछ कहना नहीं है । निष्ठाके भेदसे, साधन-प्रकार एवं उद्देश्य-भेदसे शास्त्रोंने

विभिन्न वस्तुओंकी मालाका विधान किया है। तिलकके समान मालाके धारणके भी अङ्ग हैं। मालाके पवित्र पदार्थोंका प्रभाव उसे धारण करने वालेपर पड़ेगा ही। मालाकी मणियोंकी संख्या, माला गूँथनेकी विधि आदि सब प्रभावको दृष्टिमें रखकर निर्धारित हैं।

गैरिक वस्त्र—ऐसा कहीं कोई विधान देखनेमें नहीं आया कि गृहस्थ गैरिक वस्त्र न पहिनें ; किन्तु यह विधान अवश्य है कि संन्यासी बल्कल, मंजिष्ठमें रंगे वस्त्र या गेरूमें रंगे वस्त्र ही पहिनें। गैरिक रङ्ग वैराग्यका सूचक है। उसका प्रभाव मनपर उदासीनताजनक होता है। इस रङ्गमें जो रासायनिक गुण हैं, वे व्यक्तिकी चञ्चलता एवं असंयमको बहुत कुछ रोकते हैं—प्रभावित करते हैं। इसीसे यह रङ्ग त्यागका प्रतीक माना गया।

दण्ड—‘दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्’ सलिलङ्ग संन्यास लेनेका अधिकार केवल ब्राह्मणको है। अतएव ब्राह्मण ही दण्ड ग्रहण करके संन्यासी होता है। क्षत्रिय तथा वैश्य अलिङ्ग संन्यासी हो सकते हैं। भगवान् ने बताया है कि मन, वाणी तथा शरीरसे उत्पीड़ित होनेपर भी किसीको दण्ड न देना ही दण्ड ग्रहण है। दण्ड इस बातका प्रतीक है कि ‘मैं किसी प्रकार किसीको दण्ड न दूँगा। मैंने दण्ड देनेकी वृत्ति मुट्ठीमें ले ली है।’ जैसे रेडक्रॉसका चिह्न निरपेक्ष चिकित्साका परिचालक है। इसी प्रकार सचमुच जिसने दण्ड ग्रहण कर लिया है, वह तो भगवत्स्वरूप है ही ; अन्यथा तो वही श्रीभगवान् भागवतमें कहते हैं ‘वेणुभिर्न भवेद् यतिः।’ बाँसका दण्ड लेनेसे कोई यति नहीं हो जाता।

ब्रह्मचारी पलाशदण्ड धारण करते हैं। उनका दण्ड संन्यासीके दण्डसे भिन्न प्रतीक है। ब्रह्मचारीका दण्ड तो व्रतस्थका परिचायक है ; पर संन्यासीका दण्ड तो समस्त दण्ड एवं कर्मके न्यासका प्रतीक है। इसीसे संन्यासीके लिये तीर्थमें केवल दण्डको स्नान कराने तथा प्रतिमाका दण्डसे स्पर्श करनेकी विधि है।

संकेत प्रतीक

हिन्दू समाजमें मुद्राओंका बहुत अधिक महत्व है। वेदपाठमें तो शरीर ही वीणा मान लिया जाता है। मुद्राएँ शरीरको इस प्रकार प्रभावित करती रहती हैं, जिससे मन्त्रोंका स्वर शुद्ध उच्चरित हो। इसी प्रकार योगकी मुद्राएँ भी शरीरपर विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए ही निश्चित

हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मुद्राएँ संकेत हैं। इन्हीं मुद्राओंको संकेत प्रतीक कहा जाता है। नृत्य, गान, चित्र एवं मूर्तिकलामें इन मुद्राओंके द्वारा भावोंकी अभिव्यक्ति होती है।

इन संकेत प्रतीकों या मुद्राओंके द्वारा जिन भावोंकी अभिव्यक्ति होती है, वे भाव इन मुद्राओंसे नित्य सम्बन्धित हैं। जैसे संस्कृतके शब्द या ब्राह्मी लिपिकी अक्षराकृतियाँ और रङ्गोंके प्रतीक अपने भावोंके नित्य प्रतीक हैं, वैसे ही ये मुद्राएँ हैं। इसके द्वारा जो भाव व्यक्त होते हैं, वे बिना व्याख्याके भी सहज विचारसे समझे जा सकते हैं। मौन मुद्रा, तर्जन मुद्रा, ज्ञान मुद्रा आदिके स्वरूपपर विचार करते ही उनका भाव स्पष्ट हो जाता है। दोनों ओष्ठोंको बन्द करके उनपर एक अंगुली रख देनेसे चुप रहनेकी मौन मुद्रा हो जाती है। तर्जनी तथा अङ्गुष्ठको मिलाकर शून्य बनाते हुए शेष तीनों अंगुलियोंको सीधी कर देना ज्ञान मुद्रा है। शून्य-पूर्ण और उससे त्रिगुणात्मिका प्रकृति, इनका संकेत ही तो ज्ञान है। इसी प्रकार दूसरी मुद्राएँ भी अपने भावोंसे नित्य सम्बन्धित हैं।

प्रतीक—इस शब्दका अर्थ है प्रतिमा। प्रतिमा ऐसी होनी चाहिए जो मुख्य वस्तुको पूर्णतः सूचित करे। भारतका प्रतीक—भारतकी प्रतिमा या मानचित्र वही उपयुक्त होगा जो भारतके स्वरूप, गुण, आदर्शादिको सूचित कर सके। इस दृष्टिसे कल्पित प्रतीक किसी कामके नहीं रह जाते। नित्य प्रतीक ही किसीके प्रतीक हो सकते हैं। हिन्दू-शास्त्र एवं समाजने जीवनके प्रत्येक अंशमें नित्य प्रतीकोंका आयोजन किया, उन्हें श्रमज्ञा और अपनाया। विश्वमें प्रतीक-भावनाका विस्तार हिन्दुओंसे ही हुआ। आज चाहे कुछ जातियाँ अपनेको मूर्ति-पूजाकी विरोधी बतलावें, पर प्रतीककी मान्यताके बिना उनका काम भी नहीं चलता। प्रतीककी धारणा विश्वमें हिन्दू-धारणासे ही ग्रहण की गयी है और अब विकृत होते-होते यह कल्पित गूढ़ प्रतीकों तक जा पहुँची है। यह प्रतीककी गूढ़ता यहाँ तक बढ़ गयी कि कलाके क्षेत्रमें वस्तु गौण होकर प्रतीक ही प्रधान हो गये। प्रतीकवाद (छायावाद) इस प्रकारसे पार्श्वात्य होकर भी भारतीय प्रतीकवादकी प्रतिच्छाया ही है।

हिन्दू संस्कृति और समाजके आचार

एक संस्कृति, जिसकी परम्परा अनादि है, सदा एकसे आहार-व्यवहार रख सके—ऐसा सम्भव नहीं है। अभी विगत शताब्दियोंमें मुसलमानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें हमारे आचारपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे हमारे यहाँके वेष-भूषा, भोजन, गृहनिर्माण, वस्त्रादि सजा तथा रीति-रिवाजोंमें भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे प्रभाव चाहे पहले इस रूपमें न पड़े हों, परन्तु कुछ तो पड़े ही होंगे। इतनेपर भी प्रत्येक संस्कृति अपना एक मौलिक मापदण्ड अवश्य रखती है अपने आचारके लिए और जैसे ही काल-क्रमसे क्षीण हुई उसकी शक्ति लौटती है, वह पुनः अपने आदर्शकी ओर जानेका प्रयत्न करती है। इस स्थितिमें बाह्य प्रभाव निरस्त हो जाते हैं। अवश्य ही यह बात उन समाजोंके लिए नहीं है, जो अविकसित हैं और जिन्हें दूसरोंसे कुछ सीखना है।

‘हिन्दू-संस्कृति’ एक पूर्ण संस्कृति है। हमारे समाजके लिए प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक व्यक्तिके लिए उसके कर्तव्य शास्त्रोंने निश्चित कर दिये हैं। ‘आचारः प्रथमो धर्मः।’ आचारकी रक्षा प्रथम धर्म प्रतिपादित हुई है। समाज जब तक दुर्बल है—अपने विकारोंसे आक्रान्त है या विवश है, वह भले बाह्य प्रभावों और आचारोंको ग्रहण किये रहे; किंतु जैसे ही बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टिसे समाज स्वतन्त्र होगा—समर्थ होगा, उसे स्पष्ट दिखायी देगा कि शास्त्राचारके पालनमें ही उसकी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति है। शास्त्रीय आदेश जीवनकी प्रत्येक स्थिति एवं दशाको नियन्त्रित करते हैं। जीवनमें ऐसा कोई भाग नहीं, जहाँ शास्त्राचारसे भिन्न प्रभाव स्थिर रह सके। हिन्दू-समाज ही नहीं—सम्पूर्ण मानव-समाज—पूरा विश्व अपनी विकृत मनोवृत्तिसे त्राण पा ले तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्यका कल्याण हिन्दू-समाजके आचारके पालनसे ही हो सकता है। यह इसलिए भी सत्य है कि आदिकालमें सम्पूर्ण मानव-जाति हिन्दू ही थी। आदि-संस्कृति ही पूर्ण एवं निर्दोष थी, यह तो अब सिद्ध हो चुका है।

हिन्दू ?

यहीं 'हिन्दू' शब्दपर भी विचार कर लेना है। कहा जाता है कि हिन्दुओंके यहाँ उनके समाजमें राष्ट्रकी और जातिकी भावना नहीं थी। न तो उन्होंने पूरे राष्ट्रका कोई नाम रक्खा और न जातिका। 'हिन्दू' शब्द तो अर्वाचीन है। एकांशमें ये बातें सत्य हैं। किसीके नामकरणकी आवश्यकता दूसरेकी अपेक्षासे होती है। अनेक पशुओंके ढेरमें गाय, बकरी, घोड़ा—ये भेद किये जाते हैं। अनेक रंगोंकी गायोंमें रंङ्गसे भेद होता है और अनेक गायें एक रंङ्गकी हों तो उनका नामकरण करना पड़ता है। जहाँ केवल गायें हैं, वहाँ उनको 'गाय' यह नाम देना व्यर्थ होता है। आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है और दूसरे सब धर्म कुल तीन सहस्त्र वर्षोंके भीतर ही उत्पन्न हुए हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जब विश्वमें एक ही धर्म था, तब धर्मकी दृष्टिसे उसका नामकरण क्यों आवश्यक होता ? उस समय जिन शास्त्रोंने नामकरण किया, उन्होंने क्या सम्पूर्ण समाजको मनुष्य नहीं कहा ? क्या यह 'मनुष्य' नाम उसी प्रकार मनुकी सन्तति, अनुयायीका सूचक नहीं, जिस प्रकारके नाम ईसाई और मुसलमान हैं ? उस समय मनुष्यको विश्वके शेष प्राणियोंसे ही भिन्न नाम देना था। मनुष्य-समाजमें धर्मगत भेद नहीं था। आचारगत भेदके कारण आर्य, दस्यु, म्लेच्छ, यवन प्रभृति नाम पड़े ही थे। जातिगत भेद और व्यवसायगत भेदके कारण भी ये नाम पड़े।

'हिन्दू' यह—नाम जैसे कि आजकल कहा जाता है कि विदेशियोंने हमारी जातिको दिया, यह बात ठीक न होनेपर भी मान लें तो हानि क्या है। यह नाम हमारी जातिको मुसलमानोंने दिया—यह भ्रम जिन्हें हो, वे पारसी-धर्मग्रन्थ देखें। वहाँ 'पूर्वी हिन्दू' और 'पश्चिमी हिन्दू' शब्द स्पष्ट आये हैं। साथ ही यह भी कि यदि हिन्दू-शब्दका कोई निन्दित अर्थ होता तो पारसी-धर्म ग्रन्थ अपनेको पश्चिमी हिन्दू न कहते। पीछेके ईरानी कोषागारोंने 'हिन्दू' शब्दका अर्थ डाकू, दास, सेवक, पहरेदार दिया है और इसीसे हमारे यहाँके लोग चौकते हैं; परन्तु शत्रुताके कारण एक जातिका नाम दूसरी जातिमें घृणासूचक हो जाता है—यह तो 'देव' और 'असुर' शब्द ही बतलाते हैं। 'देव' शब्द संस्कृतमें जिस सात्त्विकता, तेजका सूचक है, पारसी ग्रन्थोंमें 'असुर' शब्द उसी अर्थमें आता है। हमारे यहाँ 'असुर' जिस अर्थमें है, फारसी-अंग्रेजीमें 'देव' शब्द उसी अर्थमें है।

पारसी-धर्मके ग्रन्थोंमें तथा ईरानके प्राचीन साहित्यमें भारतीय एवं पारसीक दोनों जातियोंको हिन्दू कहा गया है। रही विदेशियोंद्वारा नाम-

। करणकी बात सो सदा दूसरे ही नाम लेकर पुकारते हैं। आज अमेरिकामें भारतसे हिन्दू जाय या ईसाई, सब हिन्दू ही कहे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व जिस देश और जातिको जर्मनी तथा जर्मन कहता है, वे स्वयं अपनेको डोइटश और देशको डोइटशलैण्ड कहते हैं। अंग्रेजोंको हम फिरंगी तो कहते ही हैं। प्रत्येक विदेशी जाति दूसरेको स्वेच्छानुसार नाम देती है और इसका उसे अधिकार है। यह सब होकर भी 'हिन्दू' नाम स्वयं हमने अपनी जातिका रक्खा है, यह दूसरेका दिया हुआ नाम नहीं है।

वेदोंमें 'नेता सिन्धूनां' तथा 'पतिः सिन्धूनां' ये मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि हमारे देशका नाम 'सिन्धु' है और यही जातिका नाम भी है। सिन्धु नदीके उत्तरी भागमें सिन्धु और सरस्वतीके मध्यमें ब्रह्मावर्त ही मानव-जातिकी प्रारम्भिक निवास-भूमि है। उसी सिन्धुके कारण देशको सिन्धु कहा गया। वेदोंमें ही 'स' का परिवर्तन 'ह' हो जाता है। श्रुतियोंमें 'शिरा' और 'हिरा' दोनों नाम नाडियोंके लिए आये हैं। अतएव सिन्धुका 'हिन्दु' आदिकालमें ही हो गया। पारसी धर्मने वैदिक पद्धतिका एक अन्श ले लिया; क्योंकि यह धर्म वैदिक धर्मसे ही पृथक् हुआ है। वेदोंमें 'स' का 'ह' कार रूपमें प्रयोग है; यह पद्धति विकृत हुई और पारसी भाषामें सप्ताह भी हप्ताह हो गया; पर 'सिन्धु' को 'हिन्दु' उन्होंने किया है, यह मानना ठीक नहीं है। यह परिवर्तन स्वयं संस्कृतिके नियमानुसार हुआ है। आज हिदीमें ग्यारह, बारह, तेरह आदि क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदशके रूप हैं और सबमें 'स' का रूप 'ह' हो गया है। प्राकृत भाषामें भी 'स' का उच्चारण 'ह' बहुत स्थलोंपर हो जाता है।

इस तरह जैसे 'हिन्दू' नाम अपनी जातिको हमने स्वयं दिया और इसलिए दिया कि आचारसे च्युत जातियोंसे मूल जातिका पार्थक्य किया जा सके, उसी प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें भारतसे ही क्षत्रिय जाति जाकर बसी, उस समय पूरी पृथ्वी ही एक राष्ट्र थी, समस्त देशोंके लोग अपने आचारका आदर्श कहींसे ग्रहण करते थे, विश्वमें एक ही संस्कृति थी और भारतीय सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती होते थे, इस प्रकार जाति-धर्म-आचार तथा शासनकी दृष्टिसे राष्ट्र-भेदकी कल्पना शक्य नहीं थी, फिर भी भारत पुण्यभूमि है—यह भावना अनादिकालसे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है। इस पुण्य भूमिकी एकता, स्वरूप आदिके सम्बन्धमें तनिक भी संशयको अवकाश नहीं है।

आचारका आदर्श

हमने अपनी जातिका नाम 'सिन्धु' के आधारपर 'हिन्दू' रक्खा क्यों? संस्कृतमें तो कोई शब्द निरर्थक नहीं होता और न कोई परिवर्तन व्यर्थ किया जाता। 'हीनं दूषयतीति हिन्दुः' यह मेरु तन्त्रकी परिभाषा है। झूठ बोलनेवाला, शास्त्रीय कर्मोंसे द्वेष करनेवाला, उपस्थान (संध्यादि कर्म) न करनेवाला, निरुत्तर (अपने असत् तर्कपर हठ करनेवाला) और आमन्त्रित करने आये व्यक्तिका अपमान करनेवाला—ये पाँच प्रकारके लोग 'हीन' कहे गये हैं। जो इन्हें अपने समाजसे निकाल दे, वह हिन्दू कहलाता था। यह हमारे समाजका आदर्श था। इस शब्दकी दूसरी व्याख्या है—हिन्-हिंसा दुनोति—हिंसाका नाश करनेवाला—अहिंसक। यही शब्द यूनानीमें 'ह' का लोप होनेसे 'इन्दु' बन गया और उससे 'इण्डिया' अंग्रेजीमें बना। जातिके नाममें ही हमारे समाजका आदर्श निहित है और नामकरणकी हमारी सनातन प्रणाली भी यही है।

हिन्दू-समाजका समस्त आचार इस आदर्शको सम्मुख रखकर चलता है कि प्राणियोंको कष्ट न हो। मनुष्य अन्तर्मुख बने। बहिर्मुख प्रवृत्ति असंतोष एवं संघर्ष उत्पन्न करती है। उससे प्राणियोंको कष्ट होता है और जीवनमें दुःखोंकी ही वृद्धि होती है। शान्तिका मार्ग है अन्तर्मुख होना। दूसरोंके लिए अधिक त्याग और अपने लिये कम-से-कम संचय तथा उपभोग—हिन्दू आचारका यह मुख्य आदर्श है। विश्वमें सुख एवं शान्तिकी स्थापना इससे सुलभ मार्ग कुछ हो नहीं सकता।

जीवन इतना ही नहीं है। वह अनादि और अनन्त है। यह लौकिक जीवन उस जीवनका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इतनेपर भी मनुष्यका जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है। यह कर्मयोनि है। इसी योनिके कर्म शेष समस्त जीवनोंमें भोगने हैं। यह उपार्जनका स्थान है। सत् या असत् जैसे भी कर्म किया जायगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। सम्पूर्ण जीवोंमें केवल शरीर-भेद है। हम आगे किसी भी जीवके यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि कौन हमारा पूर्वजन्मका सम्बन्धी है और आगे कौन बनेगा। इस प्रकार प्राणिमात्रसे आत्मीयता तथा सत्कर्मकी प्रेरणाको जितना व्यापक, सुदृढ़, पूर्ण आधार हिन्दू-संस्कृति देती है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। इसी आधारपर हिन्दू-समाज प्रतिष्ठित है।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभागं यथा यथा ।

तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥

(मनु० ८ । २८५)

‘जो व्यक्ति वनस्पतियोंको जिस-जिस प्रकारके कष्ट दे, राजा उसकी इस हिंसाका दण्ड उसे उसी-उसी प्रकारसे दे ।’ यह आज्ञा स्पष्ट घोषित करती है कि जीव-हिंसा तो दूर रही, वृक्षादि काटना भी अपराध माना जाता था और उसका बड़ा कठोर दण्ड मिलता था । मनुस्मृतिमें ईधनके लिए गीले पेड़को काटना और अपवित्र भोजन एक कोटिके पाप माने गये हैं । ब्राह्मण भी यदि आवश्यकतावश विवश होकर किसी फल या पुष्प देने वाले वृक्ष या लताको काटे-छाँटे तो उसे एक सौ ऋचाओंका जप करके इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहिए, ऐसा निर्देश है ।

इसमें किसीको कहीं शङ्का नहीं है कि हिंदू-संस्कृति और प्राण है । धर्माचारसे ही लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है, यह शास्त्रोंका स्पष्ट घोष है । अतएव समस्त हिन्दू आचार धर्मको प्रधान मानकर चलता है । मनुष्यके सामाजिक जीवनमें अर्थ और काम ही प्रधान हैं । वर्तमान शब्दोंमें मनुष्यकी समस्या रोटि और संतानोत्पादन है । हिंदू-समाजने इन दोनों आवश्यकताओंको स्वीकार तो किया, किन्तु गौण रूपसे । ये मुख्य आवश्यकताएँ नहीं हैं । मनुष्यका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष । वह इस कर्मक्षेत्रमें इसलिए आया है कि यहाँ उद्योग करके जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाय । भोजन तथा संतानोत्पादन तो कीड़े भी करते हैं । मनुष्य भी इसीमें लगा रहा तो उसमें विशेषता क्या हुई । मोक्षको प्रधान उद्देश्य माननेपर धर्म प्रधान हो गया । धर्मके द्वारा ही अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और तभी ज्ञानोदय होकर मोक्ष होगा । अतएव समाजके व्यवहारमें धर्म प्रधान बना । धर्मसे अविरोधी (धर्मसम्मत) ‘अर्थ’ तथा ‘काम’ का सेवन तो हिंदू-समाजमें विहित है ; किन्तु धर्मके लिए जीवन तकका त्याग करनेको प्रस्तुत रहना चाहिए । धर्मके तनिक भी विरुद्ध पड़नेवाले अर्थ या काम सर्वथा त्याज्य हैं ; फिर वे चाहे जितने भी महान् क्यों न हों ।

प्रत्येक समाज अपने रहन-सहन अपने आदर्शके अनुकूल ही स्थिर करता है । व्यक्तिको अपना जीवन अपने आदर्शके अनुसार बनाना ही पड़ेगा, यदि वह आदर्शको पाना चाहता है । हिंदू-समाजका आदर्श मोक्ष है—

अन्तर्मुखता है। अतएव उसका आचार सर्वथा धर्मसे नियन्त्रित है उसमें तनिक भी प्रमाद या उच्छृङ्खलताके लिये स्थान नहीं। उसमें प्रत्येक कृत्यका मूल्य धर्म-अन्तर्मुखतासे निर्धारित होता है। संग्रहकी अपेक्षा त्याग वहाँ आदर पाता है। बिना इस बातको हृदयङ्गम किये हिंदुओंके आचार, रीति-रस्म आदिका महत्त्व तथा उनकी सार्थकता समझमें आ नहीं सकती।

युगानुरूप आचार

हिंदू-आचारका आधार धर्म है और धर्म नित्य है, अतएव हमारे आचारशास्त्र भी नित्य हैं। आज कहा जाता है कि धर्म समयके अनुसार परिवर्तित होता रहता है, आचार परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं। वस्तुतः धर्म तो कभी बदलता ही नहीं। अग्निका धर्म उष्णता है, वह सर्वदा उष्ण रहेगी। आचारका आदर्श भी बदलता नहीं है। परिस्थितिके अनुसार जितना परिवर्तन आचारमें आवश्यक है, उन परिवर्तनोंका भी शास्त्रोंमें विधान है। प्रकृतिमें परिवर्तन अनियमित रूपसे नहीं होते। परिवर्तनके भी नियम हैं। अतः परिस्थिति भी सहसा नहीं बदलती। वह भी नियमानुसार ही उपस्थित होनी है। इन नियमोंको जानकर प्रत्येक युगके लिए शास्त्रोंने आचारमें, साधनमें कुछ भेद बतलाये हैं। ये परिवर्तन शास्त्रीय सीमामें ही होते हैं। शास्त्रको छोड़कर जो परिवर्तन समाजमें हो गये हैं, वे परिवर्तन नहीं, विकार हैं। उनके द्वारा समाजका पतन हुआ है— हो रहा है।

हिंदू-समाजके आचारका नियन्त्रण स्मृतियाँ करती हैं। प्रत्येक युगके लिए स्मृतियोंने कुछ विशेष आदेश दिये हैं। सामान्य आदेश तो सभी युगोंमें पालन करने ही हैं, ये विशेष आदेश ही युगाचार कहे जाते हैं। इन स्मृतियोंके अतिरिक्त गृह्यसूत्र हैं। ये कुलाचारका आदेश देते हैं। इन युगाचार और कुलाचारोंपर ध्यान दिये बिना जो लोग पुराने रीति-रिवाजोंको ढूँढ़ने बैठते हैं, वे बहुत भ्रममें पड़ते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य मनुष्यको अन्तर्मुख करना है। युगाचार इसीको लेकर आदेश देते हैं। मनुष्यकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है, यह बात शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है। विश्वमें

साधारण नियम है कि सबलकी अपेक्षा दुर्बलको संयम अधिक करना पड़ता है और श्रम कम। एक योग्य चिकित्सक स्वस्थ, सबल व्यक्तिपर आहारादिके उतने बन्धन नहीं लगाता, जितने एक रोगीपर लगाता है; क्योंकि उसका उद्देश्य स्वास्थ्यको बनाये रखना है। रोगी—निर्बल व्यक्ति सहज ही रुग्ण हो जायगा; परन्तु सबल व्यक्ति उन्हीं कार्योंसे सुख प्राप्त करेगा। उसके स्वास्थ्यपर प्रभाव नहीं पड़ेगा। दूसरी ओर सबल व्यक्ति जितना श्रम कर सकता है, निर्बल उतना कर नहीं सकता। मनुष्यकी मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हुई है। जैसे निर्बल शरीर शीघ्र ही रुग्ण हो जाता है और कठिनतासे आरोग्य प्राप्त करता है, पर सबल शरीरसे रुग्ण भी हुआ तो शीघ्र आरोग्य लाभ करके पूर्व शक्ति प्राप्त कर लेता है। वैसे ही निर्बल मानस अल्प विकारोंको प्रश्रय देकर ही बहिर्मुख हो जाता है और फिर उसे अन्तर्मुख करना बहुत कठिन होता है। सबल मनःशक्ति होनेपर यदि बहिर्मुखता—विषयप्रवृत्ति हुई भी तो वह सरलतासे निवृत्त हो जाती है और फिर पूर्ववत् अन्तर्मुखवृत्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है। हम वर्तमान मनुष्यके जीवनको देखें और पुराणोंके ऋषि-चरित्रोंका गम्भिरतासे मनन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसीलिए शास्त्रोंने क्रमशः संयमकी सीमाएँ प्रत्येक युगमें कड़ी की हैं। निर्बल-रुग्ण-मानस मानवके लिए यह परमावश्यक है। जहाँ संयमकी सीमाएँ कठोरसे-कठोरतर होती गयी हैं, वहीं आध्यात्मिक साधन सरल और सुलभ होते गये हैं। निर्बल मानवके लिए श्रमकी सीमाएँ घटायी गयी हैं। हमारे सामाजिक आचार, शासन, गृह, नगर, यातायात प्रभृति सबपर युगाचारका प्रभाव है। अतः प्राचीन अन्वेषणमें यह बात बराबर ध्यान रखे बिना विवेचन भ्रमपूर्ण ही रहेंगे।

शास्त्रीय जीवन

युगानुरूप आचार एवं साधनोंमें परिवर्तन मनुष्यकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तिके ह्रासको दृष्टिमें रखकर किया गया है। यह ठीक है। ऐसी दशामें सहज ही प्रश्न उठता है कि हिन्दू-समाज अपने लिये पूर्ण जीवन कौन-सा मानता है? यों तो रोगी और दुर्बलके लिए पूर्ण जीवन वही है, जिसका चिकित्सक उसे आदेश दें। सबल पुरुषका जीवन उसकी स्पृहाकी वस्तु हो सकती है, पर आचरणकी वस्तु नहीं। वह उस प्रकार आचरण करके हानि ही उठायेगा। इसी प्रकार आजके युगके लिए शास्त्रोंने जो आचार एवं साधन निर्दिष्ट किये हैं, आज तो वे ही आचरणीय हैं। वैसे

मनुष्यका पूर्ण जीवन एवं आचार आदियुगका ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिंदू-संस्कृति अरण्यानी-संस्कृति है। स्वच्छन्द तपोवनोंमें रहनेवाले त्यागी महर्षिगणोंने इसे पोषित किया है। वे तपोमूर्ति ही इस समाजके आदर्श हैं। आजकल पाश्चात्य जगत्में प्राकृतिक जीवनपर बल दिया जाने लगा है; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि तपोवनोंके संयमपूर्ण शास्त्रीय जीवन और प्राकृतिक उच्छृङ्खल पशुजीवनमें बहुत अन्तर है। पाश्चात्य जगत्की यह बात तो ठीक है कि मनुष्यका प्राचीन वन्यजीवन ही अच्छा था। वर्तमान नागरिक जीवनने उसे हीनशक्ति बनाया है; परन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं कि पुराना जीवन पशुओं-जैसा प्राकृतिक जीवन था। प्राकृतिक जीवन जो पशुजीवन है, वह हिंदू-समाजको न कभी अभीष्ट था और न हो सकता है।

पाश्चात्य जगत्के प्रकृतिवादी प्रत्येक कार्यमें पशुओंका उदाहरण देने लगते हैं। डार्विनके विकासवादने उन्हें भ्रान्त कर दिया है। वे नहीं देखते कि आजकी जङ्गली जातियाँ मांसाहारी ही अधिक हैं और क्रूर, मूर्ख तथा असभ्य हैं। मनुष्यको पशु बनना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता। यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवनको अपनानेके फेरमें शिक्षा-दीक्षा छोड़ बैठे तो मूर्ख तथा असभ्य हो जायगा। पशुओंमें अपने आहारको पहिचाननेकी स्वाभाविक शक्ति है, वे संतानोत्पादनके सम्बन्धमें निश्चित समयपर प्रवृत्त होनेका स्वभाव रखते हैं, भोजन-प्राप्ति तथा आत्मरक्षणके साधन उन्हें जन्मजात प्राप्त होते हैं। मनुष्यका बालक बिना सिखाये न बंदरकी भाँति तैर सकता और न पेड़पर चढ़ सकता है। वह यह पहिचाननेकी भी शक्ति नहीं रखता कि कौन-सा आहार उसके लिए लाभप्रद है और कौन-सा हानिकर। ऐसा निर्बल प्राणी यदि अपनेको प्रकृतिपर छोड़ देगा तो नष्ट हो जायगा। वन्य जातियोंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार बहुत कुछ अप्राकृत व्यवहार करना पड़ता है; यदि वे पूर्णतः पशुओंकी भाँति प्रकृतिपर रहना चाहतीं तो अब उनका पता भी न होता।

भारतीय आचार तपोवनोंको महत्ता देता है, परन्तु उसका अर्थ त्याग है, पशुत्व नहीं। वनोंमें वे महर्षि रखते थे, जो विद्या एवं कलाके प्रज्वलित प्रकाशरूप थे। उन्हींसे सम्पूर्ण विश्वने अपने लिये आचार, कला,

ज्ञानका आदर्श प्राप्त किया। पाश्चात्य विवेचक यह भूल जाते हैं कि सत्य सदा समान रहता है। नियम एकसे ही सब कहीं होते हैं। मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका क्रमशः ह्रास हुआ है, यह तो वे मान लेते हैं; पर मानसिक-बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है, इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे इस सत्यको देख सकें कि बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है तो शारीरिक शक्तिकी प्राप्तिके लिए पशुत्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान नागरिक यान्त्रिक जीवन मनुष्यने अज्ञानवश—मोहवश स्वीकार किया है। इससे परित्राण पानेका मार्ग ज्ञानका वास्तविक विकास है। मनुष्यको पशु नहीं—पूर्ण मानव बनना है उसे। शास्त्रीय जीवन प्राप्त करना है। प्राकृतिक जीवन और शास्त्रीय जीवनका भेद ध्यानमें रखे बिना हिंदू-समाजके आचारका रहस्य उलझनमें रह जाता है।

हमारे गृह, ग्राम और नगर

हिंदुओंका आचार शास्त्रीय जीवनको आदर्श मानता है, यह निश्चय हो जानेपर निवासका प्रश्न आता है। हिंदू-समाजकी व्यवस्था चार वर्ण और चार आश्रमोंको लेकर है। चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन आश्रम वनमें रहनेके हैं। गृहस्थाश्रम इसलिए स्वीकार करनेका विधान है कि शेष तीनों आश्रमोंका आश्रय है। ब्रह्मचारी और संन्यासीका सत्कार करना गृहस्थका परम कर्तव्य है और अतिथि-सत्कार तो सर्वप्रथम धर्म है ही। गृहस्थाश्रमका जो आदर्श है, उससे विपरीत उसका आचार होना नहीं चाहिए। जब गृहस्थ शेष तीन आश्रमों तथा अतिथिके सत्कारके लिए ही गृह बनाता है, तब उसका गृह ऐसा होना चाहिए जिसमें इन आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुविधा मिल सके, वे वहाँ निःसंकोच रह सकें। आज एक सात्त्विक व्यक्ति भी नगरोंमें रहनेसे ऊबता है, बड़े-बड़े विशाल भवन आज ऐसे नहीं कि उनमें कोई तपस्वी रहकर प्रसन्न हो। प्राचीन निवास सात्त्विकताको प्रश्रय देने वाले थे, उसे उद्विग्न करने वाले नहीं।

सत्ययुगमें तो निवासका प्रश्न ही नहीं था। उस समय ग्राम और नगर नहीं थे। जो जहाँ चाहता वह वहीं—वृक्षोंके तले या गुफाओंमें तपस्या और ध्यान करता। पृथ्वी वनपूर्ण थी और वनोंमें मनुष्यकी क्षुधाको

शान्त करनेके लिए पर्याप्त फल, मूल तथा कन्द थे। सबसे पहला अकाल महाराज पृथुके समयमें पड़ा। महाराज पृथुने पृथ्वीके विषम भागोंको सम कराया, खेतीकी प्रथा प्रचलित की और नगर तथा ग्राम बसाये। खेतीके विषयमें मनु महाराजके वचन हैं—

कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विर्गहिता ।

भूमि भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥

(मनु० १०।८४)

‘खेती अच्छी है, ऐसा लोग मानते हैं; परन्तु सज्जन लोग इस वृत्ति-की निन्दा करते हैं। क्योंकि लोहे लगे काष्ठके द्वारा कृषिकर्म भूमि और भूमिमें रहनेवाले जीवोंको मारता है।’

‘हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।’

(मनु० १०।८३)

हिंसासे युक्त पराधीन (मजदूर, वर्षादिपर निर्भर) कृषिकर्मको यत्नपूर्वक छोड़ दे।’ यह आज्ञा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिए है और कहा गया है कि वे आपत्तिकालमें वैश्यके दूसरे कर्म तो कर लें, पर कृषि न करें।

महाराज पृथुद्वारा प्रचलित होनेपर भी कृषिकर्म हिंदू-समाजमें बहुत काल तक निन्दित ही माना गया। ब्राह्मणोंने द्वापरके अन्त तक नगर और ग्रामोंमें रहना-स्वीकार नहीं किया। वे वनोंमें रहते थे। उनके आश्रम थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, सांदीपनि, कण्व प्रभृतिके तपोवनोंका महाभारत तथा पुराणोंमें वर्णन है। ये सब ऋषि गृहस्थ थे। गृहस्थ होनेपर भी उन्हें नगर और ग्रामकी आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण भारतमें सदा ज्ञानमूर्ति और तपस्वी रहे। वे सदा वनोंमें निवास, ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करते रहे। गृहस्थोंके बालक उन्हीं तपोवनोंमें अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत करते थे। निरन्तर निर्बाध गुरुसेवा करके वहीं वे विद्याध्ययन करते थे।

चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोगोंको—चाहे वे वनमें एकाकी रहें या नगर या ग्राममें—जलाशयकी आवश्यकता थी। स्नान-संध्या-तर्पण करना प्रत्येक द्विजातिके लिए अनिवार्य था। अतएव सरिताओंके किनारे ही आवास स्थिर होते थे। बहुत विस्तृत सरोवर भी आवासके लिए मध्यम

स्थल मान लिये जाते थे । किसी हिन्दूशास्त्रीय ग्रन्थमें शौचालय तथा भङ्गी या भङ्गीके कर्मका वर्णन नहीं है । यह बात स्पष्ट करती है कि मनुष्य मनुष्यसे इतना घृणित कार्य कराये, यह हिन्दू-समाजको अभीष्ट नहीं था और हमारी समाज-रचनामें उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी । ग्राम हों या नगर, वे इस प्रकार नहीं बसाये जाते थे कि जलाशयसे उनका विस्तार दूर हो जाय और नित्यकर्मके लिए मनुष्योंको घरोंमें व्यवस्था करनी पड़े ।

मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है कि ग्रामके चारों ओर एक सौ धनुष तक वन होना चाहिए और नगरोंके चारों ओर तीन सौ धनुष तक । नगरोंमें एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेके मध्यमें भो उपवनोंकी व्यवस्था थी ।

सत्ययुगके अन्तमें जब नगर और ग्राम बनाये गये, तब भी मनुष्य अरण्यसंस्कृतिका प्रेमी बना रहा । यों तो हमारे समाजके सञ्चालक सदा वनोंमें ही रहे । उन तपोधन विप्रोंकी सेवामें रहकर प्रत्येक बालक जीवनका पाठ अरण्यमें ही पढ़ता था । परन्तु आरम्भमें जो नगर और ग्राम बने, वे बहुत सादे बने—लकड़ीकी दीवारें तथा फूसके छप्पर । दो, चार, छः, आठ तथा दस छप्परवाली शालाओंका वर्णन प्राचीनतम वर्णनोंमें है । मनुने आज्ञा दी है कि राजाको चाहिए कि असुरोंके पत्थरोंसे बने नगर तोड़ दे । इसका यह अर्थ तो नहीं है कि पत्थरके भवन बनानेका ज्ञान ही लोगोंको नहीं था । अग्निमें पकी ईंटों (इष्टकाओं) से यज्ञकुण्ड अनादिकालसे बनते रहे हैं । पाषाणी और आयसी (लोहेके बने भवनोंकी) पुरियोंका वर्णन भी है । विमान भी बनते ही थे । किन्तु यह सब बाह्य भोग अभीष्ट नहीं था । सीधे-सादे छप्परोंके भवन ही आदर्श मान जाते थे ।

त्रेताके प्रारम्भमें ही बड़े-बड़े विशाल भवनोंका वर्णन प्राप्त होता है । भारतमें स्फटिक-रत्नादि बहुमूल्य अवश्य माने गये ; किन्तु उनकी बहुमूल्यता ऐसी नहीं रही जो आज समझी जाती है । भवनोंमें स्फटिक, मणि, स्वर्ण—सबका उपयोग होता था—बहुलतासे होता था । भवन खूब ऊँचे होते थे और उनका आकार ऊपर कंगूरोंसे युक्त होता था । कंगूरोंपर स्वर्णकलश और पताकाएँ शोभित होती थीं । गृहद्वारके दोनों ओर केलेके वृक्ष लगाये जाते थे, यह मङ्गलसूचक चिह्न था । द्वारको तोरणसे नित्य सजाया जाता था ।

वर्तमान सभ्यताके झंझावातसे जो प्राचीन भवन अब भी बचे हैं, उनमें हिन्दुओंके दो चिह्न मिल जायेंगे । भवनके बीचमें प्राङ्गण और

उसके मध्यमें तुलसी चबूतरेपर तुलसीका वीरुध, भवनमें एक मन्दिरकी भाँति बना पूजागृह । प्राचीन कालसे यह पूजागृह चला आता है । द्वापरके अन्त तक द्विजाति यज्ञोपवीत-संस्कारसे लेकर संन्यासी होने तक अपने प्रजापत्य अग्निकी रक्षा करता था । उसमें वह नित्य हवन करता था । प्रत्येक व्यक्तिके पास हवन-कुण्ड होना था । वह यदि गृहसे कहीं जाता और हवन-काल तक लौटना न होता तो अपना हवनकुण्ड साथ ले जाता । सम्मान्य व्यक्तिके आनेपर अपनी अग्निको लेकर खड़े होकर उसका आदर किया जाता था । इस अग्निकी बहुत सावधानीके साथ रक्षा की जाती । उसका बुझना अत्यन्त अपशकुन समझा जाता ।

नगरोंके चारों ओर खागी बनाना तो पुरानी परिपाटी है ही, खागीके भीतर परिखा होती थी । मार्गोंके निकासपर द्वार बनते थे । भवनोंका निर्माण भी नगरों-जैसा होता था—विशेषतः राजभवनोंका । मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता और भीतर घेरेदार अनेक प्रकोष्ठ होते । एकसे दूसरे द्वारको पार करके तब मध्यमें मुख्य स्थान तक पहुँचा जा सकता था ।

प्रत्येक भवन सूक्ष्म कला-कृतियोंसे सजाया जाता । भित्तियोंमें मूर्तियाँ बननी थीं और चित्र भी गृहद्वारके समीप नित्य प्रातः रङ्ग-विरङ्गे अन्नचूर्ण, हल्दी आदिसे 'चौक' बनाये जाते । महाराष्ट्रमें यह प्रथा अब तक है । हिन्दुओंके समाजमें उल्लास, ऐश्वर्य—ये दोनों भरे थे ; परन्तु ये वे सात्त्विकतासे नियन्त्रित । नगरोंमें और पक्के राजमार्ग थे बराबर सींचे (धोये) जाते थे । वह भी साधारण जलसे नहीं—सुगन्धित जलसे । स्थान-स्थानपर उपवन एवं क्रीडाद्यान तथा क्रीडा-पर्वत होते थे । कृत्रिम झरने उन पर्वतोंसे झरा करते । घरोंमें निरन्तर सुगन्धित धूप जला करती । वातायनोंसे यह धूम्र निकला करता । रात्रिमें राजपथ पूर्णतः प्रकाशित किया जाता और दिनमें पूरे मार्गपर वस्त्रोंसे छाया की जाती । स्नान, सन्ध्यादि जलाशयके तटपर किये जाते, जहाँ पक्के घाट बने होते थे ।

वेष-भूषा

हिन्दू-समाजमें ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थके लिए बाल बनवाना मना है । मूँजकी मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म—ये दोनोंके वस्त्र हैं । ब्रह्मचारी हाथमें पलाशदण्ड रखते हैं । ताड़के पत्रोंका अत्ता और खड़ाऊँ—ये वस्तुएँ ब्रह्मचारीको वानप्रस्थसे पृथक् करती हैं । संन्यासी या

तो मुण्डित रहें या जटा धारण करें, ऐसा निर्देश है । संन्यासी बल्कल-वस्त्र, मञ्जिष्ठमें रङ्गे या गैरिक वस्त्र धारण करें । सलिङ्ग संन्यासी दण्ड धारण करता है । अलिङ्ग संन्यासी (अवधूत) केलिए कोई वेश निश्चित नहीं है ।

गृहस्थोंमें मस्तकपर पूरे बाल रखने या शिखा रखकर शेषको मुड़वा देनेकी प्रथा थी । आजकी भाँति पुरुष कभी आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी । अधिकांश ब्राह्मण जटा रखने थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था । ब्राह्मण बल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर बल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे । अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे । धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट,, पगड़ी या साफा--यही हिन्दूवेश है । सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था । जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था । युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे ; किन्तु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि कवच भी इस प्रकारके नहीं थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय । आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया । बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया । यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे । सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे ; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है । स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं । यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊँरसे उत्तरीय डाल लेती थीं । स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुतसे ग्रामोंमें ऐसी ही है । केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है । स्त्री और पुरुष दोनों रङ्गीन वस्त्र धारण करते थे । शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे । अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परन्तु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है ।

आभूषण धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री, पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे । स्मरण रखना चाहिए कि आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे ; उनमें भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे ।

पूरे समाजका एक बहुत छोटा भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। फलतः सामग्रीके लिए सङ्घर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कुण्डल, हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अंगुलीय (अँगूठी), किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे केवल नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और बालक कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी आभूषण पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंमें आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात हो जाता है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिए लाभप्रद है, यह आजके वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके आभूषण गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होना चाहें, यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य अपना शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दरिद्रताने उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्यता है; फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं पाता। स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य लगता होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अङ्गराग, सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त प्रिय थे। शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनाना, केशविन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। षोडश शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राचीन है। उनसे हिन्दू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक रुचिका अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

हिन्दू कला और उसका आदर्श

जिस अर्थमें भारतीय वाणीमें 'कला' शब्द का प्रयोग होता है, उसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति अंग्रेजीके 'आर्ट' शब्दसे नहीं होती। शास्त्रीय चौंसठ कलाओंकी सूची देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। फलतः अंग्रेजीमें 'आर्ट' की जितनी परिभाषायें की गई हैं, उन्हींके आधारपर 'कला' की खींचतान करना ठीक नहीं है। पाश्चात्य परिभाषाओंकी कसौटीपर 'कला' की परख सम्भव नहीं है।

'कला-कौशल' यह शब्द संयुक्त रूपसे ही प्रयुक्त होते हैं। बौद्धिक चातुर्य एवं अन्तः सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति ये दोनों भारतमें 'कला' के भीतर आते हैं। दोनोंका सामञ्जस्य सदा रहता है और इनके द्वारा ही 'कला' का प्रादुर्भाव होता है। इन कलाओंकी संख्या चौंसठ मानी गई है। इन कलाओंके नामोंमें भेद है। दो भेद इनमें मुख्य हैं १—कामशास्त्राङ्गभूता २—तन्त्रावापौपयिकी ! इन दोनोंमें से प्रत्येकमें चौंसठ-चौंसठ कलाएँ हैं। इनमें कुछ तो दोनोंमें एकसी हैं, शेष भिन्न-भिन्न हैं।

शारीरिक आवश्यकताओंकी इच्छामात्र कामना है। अतएव जो शास्त्र शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका विधान करता है, उसे काम-शास्त्र कहते हैं। भोजन, आच्छादन, निवास, सन्तानोत्पादन, जीवन-संघर्ष तथा आमोद ये सभी इसी कामशास्त्रकी समस्याएँ हैं। इन समस्याओंको लेकर ये कलाएँ प्रवृत्त होती हैं। इन्हें महाविद्या भी कहते हैं। पाश्चात्य समाज केवल शरीरोपभोगपर विचार करता है। वहाँका पूरा जीवन काम-शास्त्रपर ही अवलम्बित है। अतएव उनका समस्त विज्ञान इन कलाओंमें ही अन्तर्भूत हो जाता है। पाश्चात्य जगत केवल आमोदको ही 'आर्ट' का नाम देता है। इस 'आर्ट' को 'कला' मानकर भारतीय विद्वान जब भारतीय कलाका विवेचन करने लगते हैं तो भ्रमकी कितनी सम्भावना है, यह समझा जा सकता है। पाश्चात्य जगतके 'आर्ट' और 'साइन्स' दोनोंको मिलाकर ही भारतीय 'कला' शब्दका अर्थ पूर्ण होता है।

पाश्चात्य समीक्षा भारतीय कला क्षेत्रमें भ्रमपूर्ण

भारतीय 'कला' के विवेचनमें दूसरी भ्रान्तिका कारण बनती है पाश्चात्य जगतकी विकासवादकी प्रेरणा। पाश्चात्य समाज असम्भ्यतासे

सभ्यताकी ओर आया है, आरहा है, अतः वह समस्त मानव समुदायको ही क्रमशः विकसित हुआ मानता है। डाविनके विकासवादकी भावना उसके प्रत्येक क्षेत्रमें कार्य करती है। अपनी दशासे ही वह विश्व-मानवकी समीक्षा करता है। पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे जब भारतीय विद्वान भी भारतीय कलाओंमें विकासकी भावना करके समीक्षा करते हैं तो विचित्र स्थिति होती है। भारतमें ज्ञानका क्रमशः ह्रास हुआ है। मनुष्य आदिमें पूर्ण ज्ञानी था, ज्ञानकी पूर्णतासे वह विस्मृतिके क्षेत्रमें बड़ा है। मानवकी आदि सभ्यताकी जन्मभूमि एवं क्रीडाभूमि भारतमें जब विकासकी धारणासे समीक्षा होती है तो समीक्षकोंको परस्पर विरोधी ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, जिनका वे स्वयं कोई समाधान नहीं दे पाते।

आज तो 'कुँएँमें भङ्ग पड़ गई है।' सभी क्षेत्रोंमें पाश्चात्य शिक्षासे प्रभावित विद्वान अपनी विकासकी धारणाके आधारपर विवेचन करने लगे हैं। वे यदि स्वयं अपने ही बताये सिद्धान्तोंपर अपने विवेचनको देखें तो उन्हें ज्ञात होगा कि उनका विवेचन कितना अस्त-व्यस्त तथा असङ्गत है। भारतीय 'कला' की समीक्षा और वर्तमान विवेचनोंकी भ्रान्त दिशाको समझनेके लिए आवश्यक हैं कि कलाके ह्रास एवं विकासके नियमों और क्रमोंको समझ लिया जाय।

विकास सदा सरलतासे जटिलताकी ओर होता है। कोई यन्त्र जितना ही कार्यक्षम और विकसित होता जायगा, उसके पुर्जे उतने ही जटिल होते जायेंगे। कला भी सामान्य रूपमें सीधी, सरल होती है, आगे उसकी जटिलता बढ़ती जाती है। कलाके क्षेत्रमें जटिलताका विकास दो प्रकारका होता है। पहिले कलाका बाह्यरूप तथा भाव दोनों सरल होते हैं। धीरे-धीरे बाह्यरूप घना और जटिल होता जाता है। भाव फिर भी सरल होते हैं और बाह्यरूप समझते ही स्पष्ट हो जाते हैं। एक सीमापर जाकर बाह्य-रूपोंकी जटिलता घटने लगती है, पर भाव लाक्षणिक होते जाते हैं। अन्तमें बाह्यरूप केवल अस्त-व्यस्त रेखा मात्र होते हैं, परन्तु वे ऐसे गूढ़ भावोंका संकेत करते हैं, जो पर्याप्त मनन एवं एकाग्रतासे ही पकड़े जा पाते हैं।

नियमको समझनेके लिए उदाहरण लीजिये—प्रारम्भिक चित्रकला केवल रेखाचित्रका सीधा-सादा रूप है। धीरे-धीरे रङ्गोंकी विविधता तथा बेल-बूटे और अङ्गोंके मोड़ घने होते जाते हैं। इससे आगे बढ़नेपर फिर

चित्रकला कुछ टेढ़ी रेखाएँ बन जाती हैं और बहुत थोड़े रङ्ग काममें आते हैं। उच्च कलाकार केवल एक रङ्गमें थोड़ीसी रेखाएँ खींच देते हैं ; किन्तु ये रेखाएँ प्रारम्भिक रेखाओंसी सीधी और सम्बद्ध नहीं होतीं। देखनेमें ये अस्त-व्यस्त रेखाएँ हैं। इनमें अत्यन्त गम्भीर भाव मार्मिक रूपसे व्यक्त हुआ है। रेखाएँ केवल संकेत करती हैं। ऐसी लाक्षणिक कलाकी सर्वोच्च श्रेष्ठता कला-मर्मज्ञ ही समझ पाते हैं।

भारतीय कलाके प्रत्येक क्षेत्रमें वर्तमान विवेचक विद्वान यह देखते हैं कि प्राचीनतम नमूने रेखात्मक हैं। इसे वे आदि अविकसित कला तो कह देते हैं; किन्तु उनका तात्पर्य निर्णय नहीं कर पाते। सीधा प्रश्न है कि मोहनजोदड़ोकी मूर्तियाँ, प्रारम्भिक कहे जाने वाले चित्र, वैदिक वाणी क्या ऐसी कला है, जो रेखागणितकी रेखाओंसी सरल, सीधी और स्पष्ट हो ? यदि वह कलाका अविकसित रूप है तो उसे स्पष्ट होना चाहिए। स्थिति यह है कि यह कला लाक्षणिक है, ऐसा सभी मानते हैं। इस लाक्षणिकताके गूढ़ भावको आज समझा नहीं जाता। यदि निपुण सङ्गीतका आलाप किसीको मूर्खका चिल्लाना जान पड़े तो दोष किसका ?

लाक्षणिक आदि कलाको छोड़ते ही आलोचकोंकी स्थिति और विचित्र हो जाती है। मूर्तियाँ, चित्र, भवन, साहित्य, सङ्गीत, नृत्य, सब अत्यन्त घना, जटिल, कठिन, स्वच्छ और पुष्ट मिलता है और कालक्रमसे उसका घनापन, जटिलता, कठिनता, स्वच्छता, पुष्टता कम होती जाती है। किसी दो हजार वर्ष प्राचीन, हजार वर्ष प्राचीन और आधुनिक मूर्ति या चित्रको मिलाकर देख लीजिये। किसी संग्रहालयमें मध्यकालसे वर्तमानकाल तकमें जो गुप्त, कुशाण आदि काल भेद हैं, उनमें अन्तर देखिये, यह बात स्पष्ट हो जायगी। जिन्हें विकास सिद्ध ही करना है, वे कहते हैं 'मानव मस्तिष्क एवं रुचि परिमार्जित हो रही है। अब मस्तिष्क स्वच्छ हो रहा है। मस्तिष्क जैसे-जैसे सुलझता जा रहा है, हमारी कलामें सीधापन आ रहा है। अब भवनोंका निर्माण भित्त-चित्रों और मेहराबोंसे रहित अच्छा माना जाता है।' सीधी रीतिसे यही बात यों कही जासकती है कि मस्तिष्कका ह्रास हो रहा है। वह जटिलसे सरल बन रहा है, कलामें भी यही बात आ रही है।

वर्तमान चिकित्सक जानते हैं कि उन्नत मस्तिष्कका लक्षण सीधी रेखाएँ नहीं हैं। मस्तिष्कमें भीतर जो रेखाएँ होती हैं, वे जितनी गहरी

और जटिल हों, मस्तिष्क उतना विकसित माना जाता है। आज भी उन्नत कलाकृतियाँ जटिल एवं मोड़ रखने वाली ही होती हैं। इस प्रकार भारतीय कलाके क्षेत्रमें वर्तमान विवेचना प्रणाली असङ्गत तर्कोंसे एक अद्भुत मान्यताका प्रतिपादन करनेमें तत्पर है। फलतः भारतीय कलाके सम्बन्धमें जो कुछ भी विवेचना कहीं की गई है, सब सत्यसे विपरीत दिशामें जानेका प्रयास है। पूरी परिपाटीको ही ठीक पीछे मुख करके लौटना पड़ेगा। पुरातत्वके अन्वेषणोंपर जो तथ्य निर्णीत हुए हैं, वे भारतके सम्बन्धमें सर्वथा भ्रमपूर्ण हैं। एक तो भारतीय परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसके अत्यन्त अल्पकालके ही मूर्ति आदि चिन्ह मिलने शक्य हैं। इस दीर्घकालमें तो धातुओंका भी रूपान्तर हो जाता है। दूसरे जो कुछ प्राप्य है, उसका निरीक्षण भी विपरीत दृष्टिकोणसे करके उसे भ्रमपूर्ण बना दिया गया है।

पाश्चात्य एवं भारतीय कलाके आदर्श भेद

पाश्चात्य एवं भारतीय जीवनके आदर्शोंमें जो भेद है, वही भेद दोनों कलाओंके आदर्शमें है। पाश्चात्य सभ्यता बहिर्मुख भौतिक सभ्यता है। उसका लक्ष्य वैषयिक भोगकी प्राप्ति है। फलतः उसकी कलाका क्षेत्र भी वैषयिक तीव्रताकी अनुभूति ही है। कला वहां विनोदके लिए है। पारिभाषिक शब्दोंमें आप उसे 'अन्तरके आनन्दकी उत्स अभिव्यक्ति' कहें, 'अतृप्त वासनाओंकी मानसिक पूर्तिका प्रयास' कहें या 'अन्तरकी अनुभूतिकी बाह्योल्लास' कहें, प्रश्न तो यह है कि अन्तःकरणकी स्थिति क्या है। अन्तःकरण जैसा होगा, उसका उल्लास भी तदनुरूप ही होगा।

'पारसीक कलामें कृत्रिमता है। बादशाही दरबारोंके कृत्रिम जीवनकी वहाँ सर्वत्र छाप है। वहाँके उपवन, संगीत, काव्य, चित्र सबमें वही क्रमबद्ध दरबारियोंके खड़े होनेकी भावना है। प्राकृतिक जीवनका उन्मुक्त उल्लास वहाँ नहीं मिलता।' यह पाश्चात्य समालोचकोंकी बात इसीलिए ठीक है कि पारसीक जीवन पूरा दरबारी जीवन था और वही भाव उसकी कलामें आया। इसी प्रकार पाश्चात्य कला प्रकृतिका मानव भावयुक्त प्रतिबिम्ब है। पाश्चात्य काव्य, मूर्ति, चित्र, संगीत सबमें वही प्रकृतिका प्रतिबिम्ब है। रोमन एवं ग्रीक उत्कृष्टतम कलाकृतियाँ प्रकृतिके सूक्ष्मतम चित्रणसे मूल्यवान हो गई हैं। मनुष्य कलाकार जैसे मनुष्य न होकर कैमरा हो गया है। पाश्चात्य कलामें यह कैमरा बननेकी भावना है। कला

जैसे-जैसे उत्कृष्ट होती जायगी, प्रकृतिका चित्रण उतना सर्वाङ्गपूर्ण होगा। यह इसलिए कि वहाँका जीवन भौतिक है। जड़-जगत ही जीवनका आदर्श है।

छायावाद पाश्चात्य कलामें एक वैसी ही देन थी, जैसे पाश्चात्य दर्शनमें सापेक्षवाद। पाश्चात्य विज्ञानने जैसे-जैसे जड़की सापेक्षतामें प्रवेश किया, कला अन्तर्मुख होती गई। मानवने प्रकृतिमें आत्मदर्शन करना प्रारम्भ किया। अपने भावोंको व्यापक जड़ जगत्में प्रतिबिम्बित किया; किन्तु यह प्रवृत्ति परिमार्जित न हो पाई। पाश्चात्य छायावाद-रहस्यवादके क्षेत्रमें जाकर प्रकृतिके संकेतका उद्घाटन करे, इससे पूर्व ही प्रगतिवाद आ गया। साम्यवादका जड़वाद क्रियात्मक रूपसे पूर्व ही भावरूपमें विजयी हो गया। रोटी और प्रजननकी समस्या ही कलाका आदर्श बन गई। कला आनन्दकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति न रहकर प्रचारका साधन हो गई। वैषयिक भोगोंकी जो प्रधानता 'साम्यवाद' की समाज व्यवस्था चाहती है, कलाके क्षेत्रमें 'प्रगतिवाद' उसका समर्थक, प्रचारक और पोषक मात्र है। भारतमें पाश्चात्य शिक्षा एवं समाज व्यवस्थाके आदर्शोंके समान ही पाश्चात्य कलाके आदर्श भी व्यापक हो गये हैं। इस समय प्रत्येक क्षेत्रमें पाश्चात्य प्रभावने भारतीय मूल स्वभावको तिरोहित कर दिया है। कलाके क्षेत्रमें भी यही दशा है।

'कला' आनन्दकी अभिव्यक्ति है। आनन्दकी अनुभूति जितनी प्रगाढ़ होगी, उतनी ही उसमें एकाग्रता, बाह्यजगत्से तटस्थता होगी। उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही लाक्षणिक, सांकेतिक होगी। क्योंकि जो संकेतों एवं लक्षणोंमें जितना एकाग्र होगा, वह उतना ही उसको रसास्वाद कर पावेगा। आनन्द अन्तरका धर्म है। वह एकाग्रताके बिना उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए उत्कृष्ट संगीत आलाप मात्र, उत्कृष्ट चित्र रेखात्मक, श्रेष्ठ काव्य लाक्षणिक हो जाता है। बाह्य अभिव्यक्ति उसकी सम्यक् होती नहीं; क्योंकि वह बाह्य जगत्की वस्तु नहीं। उसका रसास्वाद भी एकाग्रतासे ही होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलाकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है। पाश्चात्य कला उसके वासनात्मक रूप तक ही सीमित हो जाती है। पाश्चात्य बहिर्मुख जीवनमें अन्तर्मुख वृत्ति वाली कला 'कैमरा' बन गई है। शरीर-

की एक-एक मांसपेशियाँ, स्नायु, अस्थि एवं अङ्गोंके ढाल तथा उभाड़ रोमन, ग्रीक कलामें बहुत स्वच्छ, स्पष्ट आये हैं। प्रकृति एवं मानवका आकार चित्रण सम्यक् पूर्ण हुआ है। भावाङ्कन उतने ही अंशमें हुआ है जितना शरीरपर वह व्यक्त होता है। अवश्य ही भावका शरीर भङ्गीपर सूक्ष्मतम प्रभाव देख लिया गया है। यह सब एक कुशल 'कैमरामैन' की भाँति ही हुआ है। इन प्रकृति अङ्कनोंके द्वारा भावोंकी तीव्रता तथा वासनाका उत्तेजन वहाँ अपेक्षित है।

भारतीय कलाका आदर्श भारतीय जीवनकी भाँति स्पष्ट ही अन्तर्मुख प्रवृत्ति है। फलतः भारतीय कलामें 'कैमरे' की भाँति यथार्थ चित्रण वृत्ति नहीं है। प्रकृतिका चित्रण भारतीय कलामें भी बहुत सूक्ष्म हुआ है, जड़-जगत, प्राणि-जगत एवं मानव-जगतके चित्रणमें भारतीय कला पाश्चात्य कलासे पीछे नहीं है, यह सभी कला-मर्मज्ञ स्वीकार करते हैं; किन्तु प्रकृतिका चित्रण यहाँ केवल अन्तर्मुख भावकी उद्दीप्तिके लिए भूमि प्रस्तुत करता है। प्रकृतिके सौम्य एवं भावात्मक रूपका दर्शन ही भारतीय कलाकारको अपेक्षित है।

कला आनन्दकी अभिव्यक्ति है, अतः उसे घृणित, रस विपर्यय करने वाली गलियोंमें नहीं भटकना चाहिए। भारतमें मृत्यु, युद्ध, तथा घृणोत्पादक दृश्य नाटकके रङ्गमञ्चपर नहीं आते थे। दुःखान्त काव्य दूषित माना गया। व्यक्तिमें निराशा, घृणा, क्षोभकी भावनाको दृढ़ करने वाली कला, कला नहीं हो सकती। उसे पैशाचिक कौशल भले कहले आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात है भारतीय कलाकी आनन्दानुभूति। यह अनुभूति जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रमें व्यक्त हुई हो या धर्मके पारमार्थिक क्षेत्रमें, भारतीय कला उसे ऐसे उपकरणोंसे व्यक्त करती है कि वह अन्तर्मुखताको प्रोत्साहित करे। पाश्चात्य कला जहाँ मनुष्यकी विषय प्रवृत्तिको उत्तेजना देती हैं, वहीं भारतीय कला उसे उत्तेजनाके बाह्य क्षेत्रसे मानसिक रतिके अन्तःक्षेत्रमें पहुँचाती है। जो लोग निम्न मनोविचारोंसे ऊपर उठकर कलाकी वास्तविक प्रेरणा ग्रहण करनेमें समर्थ हैं वे महाकवि जयदेवके गीतगोविन्द और किसी पाश्चात्य शृङ्गारिक काव्यको लेकर दोनोंके प्रभावका यह भेद स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं।

'कला' कलाके लिए—यह आधुनिक युगकी एक विचित्र भ्रामक धारणा है। समस्त कलाओंके आधार और उनका पूर्णरूप निष्कलतत्व

(परमात्मा) की ओर ले जानेके लिए ही है। क्योंकि आनन्द (रसपरिपाक) जो कलाका मूल उद्देश्य है—वह उस परमतत्त्वमें ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। सच्ची कलाका पर्यवसान उस अन्तस्तत्त्वके अतिरिक्त और कहीं शक्य नहीं। इसीलिए कलाओंके सम्बन्धमें मर्यादाएँ हैं, उनमें भी नियम हैं, उनमें भी आत्म-संयम एवं लोक-संग्रहकी प्रबल चेष्टा है। उच्छृङ्खल कला जो इस आदर्शसे परामुख होकर केवल 'कलाके लिए' प्रवृत्त होती है, वह समाजके लिए 'काल' है। वह वासनाके सीमातीत असन्तोषमें व्यक्ति और समाजकी आहुति देनेके अतिरिक्त और कर क्या सकती है। रस-केन्द्र—आनन्दघनसे विपरीत दिशामें रसान्वेषण यह आजके युगका बौद्धिक उन्माद ही है। इसी आदर्शपर भारतीय कला अपने 'सत्य-शिव-सुन्दर' का विधान करती है।

भारतीय कलाका सत्य

कलाका सत्य स्थूल सत्यसे कुछ भिन्न होता है। कलाकारकी अनुभूति ही वहाँ सत्य हो जाती है। पाश्चात्य कलामें कलात्मक सत्यकी यह भावना बहुत क्षीण होगई है। वहाँकी कला कैमरा होगई है। फलतः कलामें वहाँ 'यथार्थवाद' प्रधान होगया है। आदर्शवाद एवं भावाभिव्यक्तिके लिए भी चित्रणकी नितान्त यथार्थता आवश्यक मानी जाती है। वहाँ इस स्वाभाविकताका बड़ा महत्व है।

भारतीय कला इसे स्वीकार नहीं करती कि मनुष्य भी कैमरा बन जाय और 'कला' केवल प्रतिबिम्ब। भारतीय कलाका सत्य भावात्मक है। कहाँ क्या है, यह तो सभी जानते हैं; किन्तु कहाँ क्या होना चाहिए यह कलाकार ही व्यक्त कर सकता है। जगतका प्रकृतिका चित्रण प्रकृतिके लिए नहीं, रस-परिपाकके लिए, भावानुभूतिके लिए है। अतएव उसे उसके अनुरूप होना चाहिए।

भगवान् बुद्धकी बोधि-वृक्षके नीचे विराजमान भव्यमूर्ति प्रायः संग्रहालयोंमें मिलती है। पाश्चात्य कलाकार सोचता कि दीर्घकालीन उपवासके पश्चात् भगवान् बुद्धका शरीर कैसा रहा होगा। वह ऐसी मूर्ति बनाता, जिसमें हड्डियाँ, पसलियाँ, स्नायु सब उभड़ी होतीं। पिचके कपोल, गड्ढेमें घुसे नेत्र एक क्षीण-कङ्काल यह मूर्ति कदाचित् वास्तविकताके समीप होती; किन्तु भगवान् बुद्धने जो पूर्णता प्राप्तकी थी, जो स्वस्थता उन्हें

उपलब्ध हुई थी, जगतके लिए उनमें जो आनन्दज्योति प्रकाशित हुई थी, वह भाव क्या उस कङ्काल मूर्तिमें होता ? वह हमारी श्रद्धाको उद्दीप्त करती या दया और करुणाको ?

चातक केवल स्वातीका ही जल पीता है या नहीं, हंस मोती ही चुगता है या और भी कुछ, चकोर अङ्गारका आहार करता भी है या नहीं, भारतीय कलाके ये सत्य जन्तुशास्त्रकी दृष्टिसे ठीक नहीं भी हो सकते हैं ; किन्तु इनके द्वारा जो गम्भीर भाव अभिव्यक्त हुए हैं, वे भावके क्षेत्रमें इनकी सत्यताके पर्याप्त पुष्ट कारण हैं। पाश्चात्य कला यदि जगतमें एक कौतुकी बालिकाके समान दर्शिका बनकर उपस्थित होती है तो भारतीय कला इस नाट्य क्षेत्रकी व्यवस्थापिका एवं निर्देशिका है। दोनोंका यह अन्तर ध्यानमें रखकर ही उनके सत्यका विवेचन करना उचित है।

भारतीय कलाकी सौन्दर्य भावना

स्वस्थ, सुगठित शरीर, युवावस्था, व्यवस्थित सुडौल अङ्ग, ऋतु एवं मनके अनुकूल उद्दीपक चेष्टा, सामान्यतः सौन्दर्यकी परखके यही साधन हैं। इनके साथ विद्या एवं गुणोंको मिला देनेसे पाश्चात्य कलाकारकी सौन्दर्य भावना पूर्ण हो जाती है। पाश्चात्य कलाका सौन्दर्य रूपपर आश्रित है और यदि कलाका अच्छा परिपाक हुआ तो वह गुणपर आश्रित होजाता है। रूपपर आश्रित सौन्दर्यका कोई स्थिर माध्यम नहीं, क्योंकि विभिन्न देशोंमें सौन्दर्यकी भावना विभिन्न प्रकारकी हैं। कहीं गोरा रङ्ग सुन्दर माना जाता है, कहीं खूब काला रङ्ग। कहीं काले नेत्र सौन्दर्यके प्रतीक है, कहीं नीले या भूरे। कहीं मोटे ओष्ठ पसन्द किये जाते हैं, कहीं पतले। इस प्रकार प्रत्येक देश एवं जाति भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। रूपको छोड़ दें तो गुणोंके सम्बन्धमें भी प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि समान नहीं है। पाश्चात्य-कला चाहे रूपका सौन्दर्य माध्यम माने या गुणका ; दोनों दशाओंमें उसका दृष्टिकोण वाह्य उपभोग एवं वैषयिक उपयोगिता ही रहता है।

भारतीय कलाकी सौन्दर्य भावना सर्वथा विपरीत दिशाकी ओर करती है। सुन्दर रूप, स्वस्थ शरीर, सद्गुण ये सब भारतीय कलाको भी अपेक्षित हैं, किन्तु इन सबसे अधिक अपेक्षित है—त्याग अन्तर्मुखता। यहाँ सौन्दर्यकी वास्तविक परख त्यागकी कसौटीपर होती है। महाकवि कालिदास अपने 'कुमारसम्भव' में भारतीय सौन्दर्य भावनाको सर्वथा

साकार करनेमें समर्थ हुए हैं। कुमारी चाहती है कि भगवान शङ्कर उन्हें अपनी अर्धाङ्गिनी बना लें। आशुतोष उनके पिताके उपवनमें ही आ विराजे हैं और उन्होंने स्वीकार भी कर लिया है कि पार्वती उनकी सेवा कर सकेंगी। सहसा वसन्तका एक दिन प्रादुर्भाव होता है। तरु-लताएँ किसलय पुष्पभारसे झूम उठती हैं। पराग-पूरित वायुमें कोयलकी काकली गूँजती है और इसी वातावरणमें पार्वती भगवान शिवके सम्मुख उपस्थित होकर उनके चरणोंपर सानुराग पुष्पाञ्जलि समर्पित करती हैं। मन्मथ सम्मोहन वाण छोड़ता है और एक क्षणको विश्वनाथकी अभिलाष दृष्टि हिमवान कुमारीके लज्जारूप मुखपर पड़ती है। सौन्दर्य विजयी होने जा रहा है—परन्तु नहीं योगेश्वर दूसरे ही क्षण अपनेको संयत करके क्षोभका कारण अन्वेषण करने लगते हैं। मदनका यह दुस्साहस—तृतीय नेत्रकी ज्वालामें वह भस्म होगया और गिरिजाने देखाकि भगवान शिव नहीं हैं। भारतीय संस्कृतिके उस आराध्य, प्रेरक, प्रतीकके सम्मुख दिव्यतम सौन्दर्य भी परा-भूत हो गया।

भगवती पार्वतीको अपना सौन्दर्य अवन्ध्य बनाना है। यह 'अवन्ध्य' महाकविका भावमय शब्द है। वे युगों तक तपस्या करती हैं सूखे पत्ते खाकर और पीछे पत्ते छोड़कर अपर्णा हो जाती हैं। अन्ततः तपस्या सफल होती है। भगवान शङ्कर ब्रह्मचारी वेशमें उनके आश्रममें पधारते हैं और उस तपस्विनीको स्वीकार करते हैं। यह तपस्याका सौन्दर्य विजयी होता है।

पाश्चात्य कलाकारको कुमारी पार्वतीके पूर्व सौन्दर्य एवं युगों तककी निराहार तपस्याके उपरान्त नितान्त कृश वदनाके रूपमें बहुत वैषम्य दिखलाई पड़ेगा। वहाँका सभ्य नागरिक सम्भवतः रोग या तपसे इतनी कृश पीताभ, क्षीणशक्ति नारीको तलाक देना पसन्द करेगा, परन्तु भारतीय सौन्दर्य भावनाका यही चरमोत्कर्ष है। भारतीय कलामें जहाँ एक ओर खञ्जननेत्र, अरुण-पल्लव-अधर, कम्बुकण्ठ, क्षीणकटि, कोमल चरणका महत्व है; वहीं सर्वोपरि महत्व त्याग, तप, अनुरागका है और यही परम सौन्दर्यकी भावनाके आधार हैं। यहाँकी कलामें सर्वत्र सौन्दर्यकी माप इसी आधारसे होती है।

भारतीय कलाका कल्याणपक्ष

हिन्दू संस्कृतिमें आत्मकल्याण तथा लोक सेवा ये दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। पाश्चात्य संस्कृतिकी आत्मतुष्टि या 'स्वहित' का अर्थ अपनी उद्दाम

वासनाओंकी अभिव्यक्ति एवं तुष्टि होता है। फलतः वहाँ कलाके 'आत्मवक्ष' का अर्थ है उच्छृङ्खल वासना वृत्ति। इसीलिए वहाँ 'समाजहित' 'लोकपक्ष' का आन्दोलन उठा। यदि व्यक्ति अपनी संयमित वासनाओंको कला मानकर उनको उन्मुक्त रीतिसे व्यक्त करने लगे तो समाजका नैतिक स्तर नष्ट हो जायगा। समाजके नियम-संयम नष्ट हो जायँगे। फलतः समाज असन्तोष, अशान्ति एवं विलास तथा विलासके साधनोंकी छीना झपटीका बीभत्स स्थल हो जायगा। पाश्चात्य कलाकारोंमें फलतः दो गुट हो गये। एकने जो कलाको हृदयके उन्मुक्त आनन्दकी अभिव्यक्ति मानता है 'कला कलाके लिए' का नारा लगाया। वहाँ वैषयिक आनन्दसे भिन्न आनन्दकी कल्पना ही सम्भव नहीं। दूसरे पक्षने 'कला लोकहितके लिए' का उद्घोष किया। कलामें 'उपयोगितावाद'का आन्दोलन करनेवालोंका तर्क है कि कलाकी अभिव्यक्ति मनुष्यमें निरपेक्ष नहीं है। वह दूसरोंकी रीझ, प्रशंसादिकी अपेक्षा करती है। कला मनुष्यके आत्मज्ञापनके नैसर्गिक प्रयत्नका ही रूप है। जिनपर हमें आत्मज्ञापन करना है, जिन द्रष्टा-श्रोतादिमें रसपरिपाक कलाका उद्देश्य है, उनकी रुचिको परिमार्जित करना कलाका उद्देश्य होना चाहिए। कला उनको छोड़कर चल नहीं सकती। इन दोनों विरोधी पक्षोंमें एकता स्थापित करनेके लिए 'यथार्थवाद'का प्रादुर्भाव हुआ। यह दल कलाको भी इतिहासकी भाँति जो जैसा है, उसे वैसा ही व्यक्त करने वाली बनानेके पक्षमें है। भारतीय कला जबसे पाश्चात्य होगई, तभीसे भारतमें इन 'वादों' एवं आलोचना पद्धतियोंका प्रसार हुआ।

वासना और उनकी तुष्टि भारतने सदा हानिप्रद माना है। वासना आनन्दका हेतु है, यह एक भ्रान्त धारणा है। वासना मूलतः अशान्ति, असन्तोष, रोग, शोक, भय एवं दुःखका ही कारण है। आनन्द हृदयकी एकाग्रतामें है, वस्तुओंमें नहीं। भारतके इस सर्वमान्य दर्शनको हृदयङ्गम कर लेनेपर पाश्चात्य 'आनन्दानुभूति' तथा 'स्वान्तः सुख' की धारणाका भारतीय धारणासे कितना कितना विरोध है, यह समझा जा सकता है। लोक कल्याण वही कर सकता है, जिसमें अपना स्वार्थ, अपना अहङ्कार न हो। अपने स्वार्थ अहङ्कारसे जो व्यक्ति ऊपर नहीं उठा है, वह जब लोक कल्याणमें लगेगा तो यदि उसकी लोकहित भावनामें दम्भ या स्वार्थ न हो, तब भी अपने दृष्टिकोण, अपनी मान्यताओंको वह लोगोंके ऊपर डालना चाहेगा। वह अपनी भ्रान्त मान्यताओंको सत्य समझकर समाजको भ्रान्त

करेगा। समाजमें भ्रम, भेद, दवाव तथा कटुता ही उससे फैलेगी इस प्रकार उसके द्वारा लोकहित कम तथा अस्थायी और लोक-अहित बहुत एवं स्थायी होगा।

मैले हाथों जो वस्तु स्वच्छकी जायगी, वह मैली होकर रहेगी। नियमतः पहिले हाथको स्वच्छ होना चाहिए। अहङ्कारसे ऊपर उठना व्यक्तिका प्रथम कर्तव्य है। उसके इस आत्महितमें लोकहित स्वतः सन्निहित है। अहङ्कारकी छुद्र सीमासे ऊपर होते ही लोक उसका 'स्व' हो जाता है। परत्वकी भावना ही वहाँ नहीं रहती। फलतः हिन्दू-संस्कृति की प्रेरणा आत्म-हितकी प्रेरणा है। भारतीय कलामें यही आत्म-कल्याणकी भावना अनुप्राणित है।

अहङ्कारहीन व्यक्तिकी अनुभूति अन्तःकरणकी छुद्र सीमामें बद्ध नहीं होती। उनकी अनुभूति समस्त हृदयोंकी अनुभूति बन जाती है। क्योंकि वह अपने छुद्र शारीरिक स्वार्थ, भेद एवं अहंतासे अस्पष्ट होती है। उसमें संकुचित दृष्टिका दोष नहीं होता। फलतः ऐसे व्यक्तिकी 'स्वान्तः सुखानुभूति' सार्वभौम है। सभी अन्तःकरण उसे अपनी ही सुखानुभूतिके रूपमें ग्रहण करते हैं। भारतीय कला इसी 'स्वान्तः सुखाय' से प्रेरित है। यह सुख वासनात्मक वैषयिक सुख नहीं। यह तो वह निर्विशेष आनन्द है, जो प्रत्येक स्थानपर एकरस नित्य जागृत है। प्रत्येक हृदय एकाग्रतामें जिसके एक छुद्र अन्शकी उपलब्धि करता है।

भारतीय कलाकी कल्याण-भावना व्यक्ति, पदार्थ, समाज तथा वासनाके क्षेत्रसे ऊपर उठकर आत्मपक्षकी है। आनन्दकी अभिव्यक्ति कलाका यहाँ भी उद्देश्य है और आनन्द निरपेक्ष है, उसमें दूसरेकी भावना नहीं है, यह बात भी ठीक है; परन्तु आनन्द वासनात्मक है—यही बात भ्रमपूर्ण है; क्योंकि वासनाओंकी सुखानुभूति सदा सापेक्ष है। उसमें दूसरेकी उपभोग्यकी अपेक्षा है। भारतीय कलाने वासनाको दुःखका कारण माना है। सर्वथा निरपेक्ष आन्तरिक आनन्द स्वतः लोक-कल्याणरूप होता है। उसे लोकहित की भावनासे प्रेरित नहीं होना पड़ता। भारतीय कला मिश्रीकी भाँति आत्म-सुखकी मिठाईसे पूर्ण है, जो दूसरोंका ध्यान नहीं रखती पर स्वतः दूसरोंके लिए मधुर है।

हिन्दू-कलाके प्रतीक

हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति कैसे सामान्य भावोंको ही दिव्य भावोंमें परिणीत करनेकी प्रेरणा देती हैं, यह बात ठीक-ठीक जब नहीं समझी जाती तभी अनेक विकल्प उठते हैं। आराधनाके क्षेत्रमें मनुष्यका काम ही प्रेम बनकर दिव्य हो जाता है। क्रोध वैराग्य बनकर उसे संसारसे ऊपर उठा देता है। मोह निष्ठा बनकर साधनमें स्थिर कर देता है और लोभ अभीप्सा बनकर उसे अधिकारी बनाता है। सर्वशेने जो वृत्तियाँ हमें दी हैं, वे हमारे उद्धारके लिए हैं। हमने भ्रान्त प्रतीकोंसे सम्बन्धित कर दिया, अतः वे विकृत हो गयीं ; उनका नाश न सम्भव है और न अपेक्षित, उनके प्रतीक बदल देने हैं। वे दिव्य हो जायेगी। कल्याणमय हो जायेगी। साधनके अध्यात्म क्षेत्रमें तथा धर्मके व्यवहार क्षेत्रमें हिन्दू-संस्कृतिने जिस प्रकार नैसर्गिक वृत्तियोंके प्रतीक परिवर्तनसे उनको विशुद्ध बनानेका आयोजन किया, वैसे ही कलाके सौन्दर्य एवं आनन्द क्षेत्रमें भी वृत्तियोंको दिव्य प्रतीक दिये।

एक आराधकका अपने आराध्यके श्रीविग्रहमें जो अनुराग है, आराधनाकी सामग्री प्रस्तुत करनेमें जो व्यस्तता एवं तल्लीनता है, सामग्री नष्ट होनेमें या सेवामें त्रुटि होनेमें उसे जो खेद होता है, वह लौकिक पुरुषके स्त्री-बच्चोंके मोह, उनके लिये उपार्जनकी व्यस्तता तथा उसमें बाधा पड़नेवाले क्षोभसे क्या भिन्न है ? लेकिन पहिला कृत्य दिव्य प्रतीकसे योजित होनेके कारण दिव्य है। आत्म-कल्याण करने वाला है। शास्त्र उसकी प्रेरणा देते हैं, उसकी वृत्तियोंको प्रोत्साहित करते हैं। दूसरेके प्रतीक लौकिक हैं, नश्वर हैं, अतः बन्धनकारी हैं। शास्त्र उससे तटस्थ होनेका विधान करते हैं। यही बात कलाके क्षेत्रमें है। पाश्चात्य कला लौकिक प्रतीक लेकर व्यक्तिकी अपनी वासनाओंका विवर्धन करती है और भारतीय कला दिव्य प्रतीक लेकर व्यक्तिकी वासनाको भावका पावन-रूप देती है।

वह सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सकलशुभगुणगणैक धाम ही 'कवि' है। श्रुतियां उसे ही कवि कहती हैं। 'कविः क्रान्तदर्शी।' जो छिपे हुए भावोंको, भूत-भविष्य वर्तमानके अन्तर्बाह्यको प्रत्यक्षकी भाँति देख सके, वही भारतीय परिभाषामें 'कवि' है। वही कलाकार है। जिसमें यह वृत्ति,

योग्यता जितनी आवे, वह वैसा ही उत्तम कवि या कलाकार होगा। भगवान् ब्रह्मा तथा सर्वज्ञ ऋषिगण कवि होते थे। हिन्दू-संस्कृतिके अभ्युदय कालमें कला कल्पनाकी वस्तु न थी। कवि एवं कलाकारके लिए सर्वज्ञता आवश्यक थी। इष्टकी आराधनासे यह शक्ति प्राप्त करके दिव्य भावजगतका साक्षात् करके उसका वर्णन या अङ्कन ही कलाका उद्देश्य था। ऋषियोंके अतिरिक्त महाकवि जयदेव, सूर, तुलसी आदिकी कला कल्पना नहीं है। वह दिव्य भावके साक्षात्का वर्णन है।

जहाँ हिन्दू कलाका आदर्श कल्पना न होकर दिव्य जगत्का साक्षात् करके लोकमें उसका वर्णन है, वैसे ही उसका आधार भी लौकिक नहीं है। 'रसो वै सः' रसरूप तो वह सच्चिदानन्द ही है। उसीकी प्रत्येक, अन्तःकरणमें उपस्थिति रसोद्गम है। अतः उससे भिन्न और कहीं रसका परिपाक हो ही नहीं सकता। हिन्दू कला उसीकी नानाविध दिव्य नित्य लीलाओंको रसका हेतु मानकर अपने प्रत्येक क्षेत्रमें प्रवृत्त होती है।

कुछ आचार्योंने 'एको रसः करुण एव' कहकर मूलरस करुण माना है और दूसरे समूहने शृङ्गारको मूलरस कहा है। दोनों ही मानते हैं कि रसानुभूतिका हेतु हृदयका द्रवीभाव है और हृदयका सम्यक् द्रवीभाव लौकिक प्रतीकोंमें सम्भव नहीं। यहाँके प्रतीकोंमें रोग, शोक, मृत्यु, उपेक्षा, धृष्टता, असुलभता, शक्तिहीनता, प्रेमकी अल्पता आदि अनेक दोष होनेसे रसपरिपाक पूर्ण नहीं हो पाता और कल्पनाके बलपर बलात् उसे पूर्ण करनेपर अस्वाभाविकता होनेसे विरसता होती है। उसका पूर्णपरिपाक तो दिव्य प्रतीकोंमें ही सम्भव है, क्योंकि वहाँ कोई दोष, कोई बन्धन एवं कोई असम्भावना नहीं।

'शृङ्गारको साज किशोर-किशोरी' हिन्दू-संस्कृतिकी परम्परामें प्रत्येक कलाकारको यह स्वीकार करना पड़ता है। प्रेम दिव्य भाव है और शृङ्गार उसका महाभाव; किन्तु लौकिक प्रतीकोंमें तो वह वासना-कलुषित होकर दुःख मूल हो जाता है। प्रेम जहाँ काम बन जाता है, वहीं विकृति, दोष, दैन्य एवं क्षोभ उठते हैं। वहाँ रसकी देवधारा प्रवाहित नहीं होती। उस गन्दे नालेमें कीड़े ही बिल-बिलाते हैं। यही काम दिव्य प्रतीक प्राप्तकर प्रेम हो जाता है। देवासनात्मक क्षोभसे ऊपर उठकर वह अमृतकी रसधारा प्रवाहित करता है। महर्षि शुकदेवसे जन्मात वीतराग उसके अनुरागमें नित्यस्नात होते हैं। भारतीय कलाकी यह दिव्य प्रतीक योजना

पाश्चात्य संस्कारयुक्त हृदयसे समझी नहीं जा सकती। उसका भेद एवं महत्व विशुद्ध भारतीय हृदय ही अनुभव कर सकता है।

भारतीय प्राचीन समस्त साहित्य एवं कलामें एक ही भावना व्याप्त है—व्यक्तिके गुणोंका महत्व है, उसके शरीरका महत्व नहीं है। नश्वर शरीर स्मरण करने योग्य नहीं हैं। भगवानके दिव्यरूप, उनकी दिव्य लीलाएँ ही स्मरण तथा चिन्तनके योग्य हैं। व्यक्तिका स्मरण केवल उतने अंशमें करना उचित है, जितने अंशमें उसके जीवनमें कोई दिव्य प्रकाश प्रकट हुआ है या वह किसी दिव्य भावके प्राकट्यमें किसी प्रकार हेतु बना है। पुराणोंने इसी दृष्टिसे चरितोंका वर्णन किया है। पुराणोंके वे चरित ही कलाके प्रतीक रहे हैं। अतएव भारतीय कला जब दिव्य भगवल्लीलाका प्रतीक लेकर प्रवृत्त होती है तो उसमें सब प्रकारके भाव स्वच्छ रूपसे परिपक्व होते हैं। उनका विविधरूप व्यक्त होता है; परन्तु जब किसी लौकिक प्रतीकको लिया जाता है तो पुराणोंमें उसकी जिस रूपमें अभिव्यक्ति है, केवल उसी भावको मूर्तिमान करनेका यत्न होता है। उस प्रतीकमें विविधता नहीं लाई जाती; क्योंकि कलाका वह वास्तविक प्रतीक नहीं। कला वहाँ उन्मुक्त क्रीड़ा नहीं कर सकती।

भारतीय कलाओंके प्रत्येक क्षेत्रमें भगवान्की लीला, उनके विविध चरितोंका नानाविध विस्तार मिलेगा। श्रीकृष्णचन्द्रकी जिन बाल क्रीड़ाओं एवं शृङ्गार चरितोंका कलाने उद्भाव किया है, वह पुराणोंमें कहीं संकेत रूपमें भले मिले, पर उसका यह रूप वहाँ मिलनेसे रहा; किन्तु भौतिक पुरुषोंके चरित जितने पुराणोंमें हैं, कलाके क्षेत्रमें उससे तनिक भी विस्तृत नहीं मिलेंगे। वस, उसी चरितका भाव कला व्यक्त करके रह गयी है। वैसे भारतीय कलाकार अनुभव करता है कि लौकिक प्रतीकका निरपेक्ष कलात्मक रूप केवल महर्षि ही उपस्थित कर सकते हैं। कलाकारको उससे आगे नहीं जाना चाहिए। उसकी कलाका आनन्द प्रतीक वह है जो सर्वरूप, सर्व भावगम्य, नित्य निरपेक्ष एवं नित्य निर्विकार है। उस दिव्य प्रतीकमें कलाभावके आनन्द क्षेत्रसे वासनाके असन्तोष सागरमें गिरेगी, इसकी सम्भावना ही नहीं।

हिन्दू कलाकी मान्यताएँ

प्रत्येक समाज एवं कालकी मान्यताएँ कुछ मौलिक भेद रखती हैं। पाश्चात्य जगतमें पुरुषका खुला शरीर असभ्यता है। वहाँ लङ्गोठधारी

पुरुष सार्वजनिक स्थानमें निकले तो असभ्यता मानी जायगी। नारीकी अर्धनग्नता वहाँ क्षम्य है और पाश्चात्य कलामें तो नग्न सौन्दर्य आदर्श माना गया है। वहाँ सार्वजनिक स्थानोंपर चुम्बन तथा आलिङ्गन शिष्टाचार है ; किन्तु भारतीय समाजमें लंगोटधारी पुरुष असभ्य नहीं माना जाता। यहाँ त्याग आदरणीय वेश ही कौपीन है। यहाँ समाजमें अभिवादनसे आगे अङ्कमाल देना मात्र ही शिष्टाचार है और वह भी सख्य एवं वात्सल्यकी सीमामें। यहाँकी कलाका आदर्श नग्नता नहीं है।

इसी प्रकार अश्लीलताकी भावना भी समाजकी मान्यताकी अपेक्षा करती है। भारतीय कलामें आज अश्लीलताका आरोप चल पड़ा है ; किन्तु देखना तो यह है कि यह चित्रण जिसे अश्लील चित्रण कहा जाता है, साधारण अश्लीलता ही है या उससे भिन्न कुछ दूसरी वस्तु। परम वीतराग, संसारसे दूर करने वाले महर्षियोंके ग्रन्थोंमें, हिन्दीके सूरदास तथा ब्रजके उन महात्माओंमें जो अपने त्याग, वैराग्य, तितिक्षाके लिए इतिहास प्रसिद्ध हैं, माधुर्यके जो उद्दीप्त भाव व्यक्त हुए हैं, सामान्य मानवकी विकृत भावना ही उनमें अश्लीलताका दर्शन कर सकती है। 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ' कहने वाला महाकवि जब 'कुमार सम्भव' में 'हर-गिरिजा-विहार-नित्य नयऊ' का अङ्कन करने लगता है तो 'क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारै' की भागवतकारकी उक्ति ही चरितार्थ होती है।

वासनाका भौतिक रूप विकृत एवं पतनकारी है ; किन्तु वासना स्वयं भावकी विकृति है। स्थूल शरीर एवं स्थूल विषयोंसे परे दिव्य जगतमें उसका प्रकृत रूप भाव है और यह भाव रूप उसका मङ्गलमय है। श्री शुकदेव जैसा वीतराग परमहंस अपनी रास पंचाध्यायीके अन्तमें दिव्य भावमय उस लीलाका माहात्म्य श्रद्धार्द्र कण्ठसे कहता है—

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः, श्रद्धान्वितोज्जुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलम्ब कामं, हृद्रोगमाश्व पहिनोत्यचिरेण धीरः॥

भारतीय कलामें यह 'हृद्रोग' को नष्ट करने वाली जो दिव्य माधुर्य की अभिव्यक्ति है, वह आराधकके द्वारा जो आराध्य युगलको जगन्माता-पिता मानता है, उस प्रतीकसे व्यक्त होती है। अतः वह लौकिक अश्लीलता

एवं पाश्चात्य नग्नतासे सर्वथा भिन्न है। भारतीय मान्यताका तथ्य न समझनेसे ही उसमें अश्लीलताका आरोप होता है।

भारतीय कलाके अधिकांश प्रतीक दिव्य हैं। फलतः उनके स्वभाव, आकृति, क्रिया, सबके उनका दिव्यभाव सन्निहित रहता है। देवता वृद्ध नहीं होते। वे सदा किशोरावस्थामें ही रहते हैं। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़नी। उनके शरीर छिन्न नहीं होते। बुढ़ापा, मृत्यु, स्वेद आदि उनमें नहीं होते। भारतीय कलाकी ये मान्यताएँ जब तक अवगत न हो जायें, तब तक कलाको ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता।

दूसरी बात भारतीय कलामें प्रतीककी भावना है। जैसे सर्प-प्राणका प्रतीक है। हाथी, दिक्पालोंके प्रतीक हैं। मन्दिरोंमें, चित्रोंमें कान्यमें सब कहीं प्रतीकोंका उपयोग होता है। प्राचीनतम मन्दिरोंमें आठों ओर हाथी दिक्पाल रूपमें बने हैं। मन्दिर एवं मुख्यपीठमें लोकों (भुवनों) की कल्पना है। भद्रपीठपर पद्म, षट्कोणादि बनते हैं। इस प्रकार दिव्य जगतकी वास्तविकता ही कालमें प्रतिबिम्बित होती है। यों कह सकते हैं कि जैसे पाश्चात्य 'यथार्थवाद' की परम्परासे प्राणित कला स्थूल जगतका कैमरा है, वैसे ही भारतीय कला दिव्य जगत एवं उसके स्थूल जगतके सम्बन्धका प्रतिबिम्ब है। भारतीय कलाको समझनेके लिए शास्त्रीय दिव्य जगतके स्वरूप एवं उन स्वरूपोंके प्रतीकोंको समझना अत्यन्त आवश्यक है। आकृति, रेखा, कोण, रङ्ग आदि समस्त प्रतीक शास्त्रमें किसी भावके प्रतीक माने गये हैं और कलाके क्षेत्रमें वे उसी अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

भारतीय कलाकी व्यापकता

'कला' का भारतीय अर्थ लेनेपर तो चौंसठ कलाओं तथा उनके भेद-अभेदोंमें सभी विद्याएँ आ जाती हैं। इस शब्दका पाश्चात्य अर्थ ही लें, तो भी भारतीय कलाका क्षेत्र इतना विशाल है कि उसकी सूची मात्र कई खंडोंका ग्रन्थ बनेगा। साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, भवन निर्माण कला ये मुख्य ललित कलाएँ हैं। संगीतमें ही नृत्य, वाद्य एवं नाट्य को ले लीजिये। इनमेंसे प्रत्येकके प्रसिद्ध कलाकारों एवं उनके सर्वश्रेष्ठ प्रयत्नोंका नाम ही लें तो विश्वकोष जैसा ग्रन्थ बनेगा।

ललित कलाओंमें साहित्यको सर्वाधिक महत्ता दी जाती है। क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा अमूर्त साधनोंसे है। फलतः वह सबसे कोमल कला है। हिन्दू-संस्कृतिका साहित्य इतना विशाल है कि उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। वेदोंसे लेकर भगवान व्यास तकके शास्त्रोंको छोड़ दीजिए। 'व्यासोच्छिष्टमिदं जगत्' भगवान व्यासके भावोंसे भिन्न भाव कोई लावेगा कहाँसे। इसी प्रकार महर्षि बान्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, भक्तराज जयदेव, चण्डीदास आदि संस्कृत एवं देशी भाषाओंके आर्ष काव्यकारोंको भी छोड़ देना चाहिए। प्रकृति-प्रेरककी नित्य लीलाओं के इन शाश्वत गायकोंकी वाणीकी तुलना करने लगेंगे तो विश्वमें कोई कवि और साहित्यकार ही नहीं निकलेगा। अतः साहित्यके लौकिक क्षेत्र तक ही बात करना ठीक है। कालिदास, अश्वघोष, क्षेमेन्द्र, भवभूति, भारवि, वाण, दण्डी, रुद्र, मम्मट, हर्ष, पण्डितराज जगन्नाथ, महामुनि भरत आदि किस नक्षत्र लोक वाणीके वरद आलोकपुत्र संस्कृत साहित्यमें आलोकित हुए हैं, कहना कठिन है। पाश्चात्य साहित्यके उत्कृष्टतम कलाकार इनमेंसे एककी तुलनामें आलोचना तुलापर उन्नीस पड़ने लगते हैं। ये तो इने-गिने नाम हैं। संस्कृत साहित्य इनके अतिरिक्त ऐसे ही अपार आलोकमय रत्नोंसे भरा पड़ा है। जयदेव, कर्णपुर आदि इनसे कम आलोकमय हैं, यह कहनेका साहस कौन करेगा।

हिन्दू साहित्य कुछ संस्कृत तक ही तो नहीं है। संस्कृतकी छोटी बहिन तामिल है। संस्कृत भगवान शंकरके डमरूसे निकली भाषा है। भगवान भोलेनाथके ज्येष्ठ पुत्र देवसेनापति कुमार कार्तिक एक बार पितासे रूठ गये। आप कैलाश छोड़कर दक्षिण भारतमें सह्याद्रिपर जा विराजे। आपने पिताकी भाषाके समान ही एक सर्वथा भिन्न भाषा बना डाली और उसमें शास्त्रोंको व्यक्त किया। उस तामिल भाषाका साहित्य संस्कृतके प्रायः समान ही विस्तीर्ण एवं गम्भीर है। संस्कृत भाषाकी सन्तानोंका साहित्य कोष इससे पृथक् ही है। प्राकृत, पाली, शारदा भाषाएँ प्राचीन साहित्य रखती हैं तो हिन्दी, नेपाली, उड़िया, बङ्गला, आसामी, मराठी, तैलगू, मयालम्, कर्नाटकी, गुजरातीका साहित्य अल्प नहीं है। हिन्दू-संस्कृतिका प्राचीन साहित्य भारतसे बाहर तातार, बालिद्वीपमें भी पाया गया है। इतने विशाल साहित्यकी आलोचना यहाँ शक्य नहीं है।

सङ्गीत तथा उसके अङ्गभूत नृत्य, नाट्य एवं वाद्यकी कलाएँ

भारतसे ही बाहर गई हैं। इनकी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा लुप्त होती जा रही थी। इधर थोड़े दिनोंसे इन कलाओंके विद्वानोंका ध्यान इनके शास्त्रीय रूप की ओर गया है। भारतीय चित्रकला तथा मूर्तिकला और गृह-निर्माणके नमूने अमेरिकासे मिश्र तकमें पाये गए हैं। इनकी श्रेष्ठता, टिकाउपन, भावाभिव्यक्ति तथा स्वच्छता पाश्चात्य मर्मज्ञोंको आश्चर्यचकित कर देती है। इधर स्वतन्त्र होनेपर नेताओंका ध्यान गया है। भारतीय भूमिमें अभी स्थान-स्थानपर अमूल्य संग्रह योग्य कलाकृतियाँ दबी पड़ी हैं। उनके उद्धारकी आवश्यकता है। अभी तक जो कुछ मिला है, वह तो बहुत थोड़ा अंश है। उसीके आधारपर विद्वान भारतीय कलाकी उत्कृष्टताका अनुमान करते हैं।

चित्र, मूर्ति, मकान इन सबकी एक आयु होती है। भारतीय संस्कृति परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसके बहुत पिछले अंशके चित्रादिका पाया जाना शक्य है। भारतीय कलाकी पर्यालोचना केवल साहित्यसे हो सकती है, यद्यपि उसका भी एक विशाल अंश नष्ट हो गया है। इस पर्यालोचनाके लिए इस आर्य-संस्कृतिका दृष्टिकोण लेकर ही विचार करना चाहिए।

हिंदू-संस्कृति और भौतिक विज्ञान

आज पाश्चात्य जगत्ने जो भौतिक उन्नति की है, मनुष्यका मन उस चाक चिक्यमें प्रायः अन्धीभूत है। मानव समाज भौतिकताके पीछे दौड़ रहा है। कहा जाता है कि हिन्दू चाहे जितने पुराने कालसे सभ्य रहे हों, परन्तु सभ्यताकी उन्नति तो वस्तुतः अब हुई है। भौतिक उन्नतिकी ही उन्नति मान लेनेसे ये भ्रम फैले हैं। अन्यथा विचार करनेपर यह ज्ञात होता है कि आजकी सभ्यता अत्यन्त स्थूल ज्ञानपर अवलम्बित है और उससे मनुष्यका पतन ही हुआ है।

जहाँ तक हिन्दू जातिकी भौतिक उन्नति तथा भौतिक विज्ञानमें गतिका प्रश्न है, यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि भौतिक विज्ञान प्रकृतिके सहज नियमोंके ज्ञानपर अवलम्बित है। हिन्दू जातिने प्रकृतिके प्रत्येक सहज नियमका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, यह तो पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न रहता है उन नियमोंका उपयोग संसार और जीवनमें करनेका। यह उपयोग समाजके आदर्शके अनुरूप होता है। आजके समाजका आदर्श भौतिक पदार्थों, सुविधाओंकी उपलब्धि है। आजका आदर्श वाक्य है—‘आवश्यकता आविष्कारकी जननी है।’ आवश्यकताकी वृद्धि—जीवन यापनका मानदण्ड उच्च करनेका प्रयत्न—आज प्रत्येक देश करता है। परिणामतः प्राकृतिक नियमोंका जितना ज्ञान है, वह भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें लगाया जाता है। छीना-झपटी और युद्ध होते हैं। आजका विज्ञान परमाणु बमसे भी सन्तोष न करके और भी भीषणतम संहारकास्त्रोंके अन्वेषणमें संलग्न है !

हिन्दू संस्कृतिका आदर्श वाक्य है—‘आवश्यकता अशान्तिकी जननी है।’ वहाँ आवश्यकता घटानेकी प्रेरणा है। मनुष्यको अन्तर्मुख होना चाहिए। अतएव प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान वहाँ इस आवश्यकताके अनुसार उपयोगमें आया। चन्द्रग्रहण, सन्ध्याकाल आदिमें कब-कब, कहाँ-कहाँ मनकी गति कुछ शिथिल पड़ती है, यह पता लगाकर उस समय ऐसे कर्मोंका विधान किया गया, जिनसे मनको अन्तर्मुख होनेमें सहायता मिले। जिस

संस्कृतिमें बहिर्मुखता घृणित है, भोग उपेक्ष्य हैं, उसमें ज्ञानका उपयोग भौतिक उन्नतिके लिए होगा, यह सम्भव ही नहीं है।

वेद और वेदभाष्यरूप निखिल शास्त्र ईश्वरीय ज्ञान हैं। ईश्वरीय-ज्ञान पूर्ण और भ्रान्तिहीन होता है। अतएव श्रुति-शास्त्रोंमें प्रकृतिके सम्पूर्ण भौतिक नियम तथा उनके भौतिक उपयोगकी विधि भी है। इतना होनेपर भी वर्तमान विज्ञानके प्रत्येक आविष्कारको शास्त्रोंमें ढूँढ़ना और उनके किसी अंशके मनमाने अर्थसे सिद्ध करना सत्प्रयत्न नहीं है। सभी पीली वस्तुएँ सुवर्ण नहीं होतीं। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके सभी नियम भ्रान्तिहीन नहीं हैं। अभी कम-से-कम तीन चतुर्थांश उनकी शोधें अधूरी और भ्रमपूर्ण हैं। शास्त्रोंमें ऐसे भ्रमका पोषण प्राप्त नहीं हो सकता। हम एक आविष्कारको शास्त्रमें सिद्ध करते हैं और कुछ कालमें वह भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है तो शास्त्रका तो कुछ बिगड़ता नहीं, हमारी मूर्खता अवश्य प्रकट होती है।

कोई ज्ञान कभी नवीन नहीं उत्पन्न होता। ज्ञान तो स्मरण-विस्मरणका स्वभाव रखता है। अवश्य ही भ्रमके लिए कोई नियम नहीं है। भ्रम तो नूतन भी हो ही सकता है। अन्वेषण करने वाले जानते हैं कि मिस्रके लोग पहिले पिरामिड बना सकते थे, रेड इण्डियन (मूल अमेरिकन) भी यह विद्या, रेखागणित और स्थापत्य कलाका उच्च ज्ञान रखते थे, चीनके लोग गोला बारूद बना सकते थे; परन्तु वे सब अपने पूर्व ज्ञानको भूल गये। इनमें कुछ जातियाँ तो पूर्णतः जंगली—असभ्य हो गईं। यूरोपीय जातियाँ उस समय असभ्य थीं, उन्नति शिखरपर हैं। भारतीय भी इस प्रकार अपने भौतिक ज्ञानका बहुत बड़ा भाग भूल गये। यही कारण है कि शास्त्रोंके ऐसे स्थलोंका ठीक अर्थ आज हो नहीं पाता है।

जहाँ तक पाश्चात्य विज्ञानके भ्रमोंके प्रश्न हैं, वे निःसन्देह नवीन हैं, परन्तु जहाँ तक उनके भ्रान्तिहीन आविष्कारोंकी बात है, वे नवीन नहीं हैं। ज्ञानका पुनः स्मरण ही होता है, उसे नवीन उत्पन्न नहीं किया जा सकता। विश्वकी सारी घटनाएँ आवृत्ति करती हैं। इतिहास अपनेको बार बार दुहराता है। एक कल्पकी सृष्टि ही दूसरे कल्पमें फिर व्यक्त होती है। आगेके उद्धरण बता देंगे कि इनमेंसे अधिकांश यन्त्रादि पहिले थे और पहिलेके बहुतसे यन्त्रोंका अभी पुनरुद्धार होना बाकी है।

शास्त्रोंमें बहुतसे यन्त्रोंका वर्णन है ; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति धर्मप्राण है । यहाँ युद्धमें तोप या बम चलाकर नगरके नगर ध्वस्त करनेको स्थान नहीं । यहाँ तो ब्रह्मास्त्र जैसे शस्त्र लेकर भी देखना पड़ता था कि कोई निरपराध प्राणी, शस्त्रहीन भागता शत्रु न मारा जाय । गो और ब्राह्मण भी मर सकें, ऐसा प्रयोग सम्भव ही नहीं था । इसी प्रकार बड़े उद्योग भी गृहित माने जाते थे । मनुस्मृतिने उपपातकोंकी गणनामें लिखा है 'सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्र प्रवर्तनम्' सब प्रकारकी खदानोंका अधिकार और महायन्त्र चलाना ये उपपातक हैं । इसी स्मृतिके अध्याय नौके २५६ श्लोकमें राजाके लिए कहा गया है कि वह इतने व्यक्तियोंपर सावधान दृष्टि रखे—उन व्यक्तियोंमें चोर, ठग आदिके साथ शिल्पी भी रखे गये हैं । अन्यत्र बताया गया है कि किन कर्मोंसे कुलका विनाश हो जाता है और उनमें शिल्प कर्म भी निर्दिष्ट है । स्पष्ट कहा गया है कि महायन्त्रसे हिंसा होती है, जीविका-हरण होती है, यह पापोंका घर है । महाभारतमें वर्णन है कि जब अर्जुनने दानवराज मयको खाण्डव वनकी अग्निसे बचाया तो मय कृतज्ञतावश अर्जुनको अपनी शिल्पविद्या सिखानेको प्रस्तुत हुआ । उसने अपने यन्त्रों, विमानों आदिका वर्णन किया । अर्जुनने बड़ी स्थिरतासे अस्वीकार करते हुए कहा—'यह आसुरी विद्या है । यह शास्त्र निषिद्ध ज्ञान है । यह हिंसा प्रधान है । मैं इसे अङ्गीकार नहीं कर सकता ।

आरम्भिक कालसे असुरोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है । इन असुरोंमें मय जैसे शिल्पी और रावण जैसे वेदभाष्यकार महापण्डित भी थे । असुर शरीर सुखको ही प्रधानता देने वाले थे । अतएव उनके यहाँ शास्त्रोंके भौतिक नियमोंका उपयोग हुआ भौतिक उन्नतिके लिए । उन्होंने वर्तमान पाश्चात्य सभ्यताकी भाँति भौतिक उन्नति की । शास्त्रोंमें वर्णित प्रायः सब महायन्त्र उन्होंने निर्मित कर लिये । उनके वर्णन बतलाते हैं कि वर्तमान आविष्कार अभी प्राचीन आसुरी आविष्कारोंके सम्मुख किसी भी गणनामें नहीं हैं ।

इन असुरोंके आक्रमण भारतपर होते ही रहते थे । भारतीय नृपति यहाँसे देवताओं तककी सहायता करने जाते थे । असुरोंका दर्प क्षत्रिय नरेशोंने बार-बार चूर्ण किया । इतनेपर भी हिन्दू भारतने आसुर यान्त्रिक सभ्यता स्वीकार नहीं की । यहाँकी शक्तिका केन्द्र भौतिक विज्ञानके केन्द्रसे और सूक्ष्म था । मन्त्र-शक्ति-शब्द, शक्ति क्षत्रिय चक्रवर्ती नरेशोंको

संस्कृतिमें बहिर्मुखता घृणित है, भोग उपेक्ष्य हैं, उसमें ज्ञानका उपयोग भौतिक उन्नतिके लिए होगा, यह सम्भव ही नहीं है।

वेद और वेदभाष्यरूप निखिल शास्त्र ईश्वरीय ज्ञान हैं। ईश्वरीय-ज्ञान पूर्ण और भ्रान्तिहीन होता है। अतएव श्रुति-शास्त्रोंमें प्रकृतिके सम्पूर्ण भौतिक नियम तथा उनके भौतिक उपयोगकी विधि भी है। इतना होनेपर भी वर्तमान विज्ञानके प्रत्येक आविष्कारको शास्त्रोंमें ढूँढ़ना और उनके किसी अंशके मनमाने अर्थसे सिद्ध करना सत्प्रयत्न नहीं है। सभी पीली वस्तुएँ सुवर्ण नहीं होतीं। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके सभी नियम भ्रान्तिहीन नहीं हैं। अभी कम-से-कम तीन चतुर्थांश उनकी शोधें अधूरी और भ्रमपूर्ण हैं। शास्त्रोंमें ऐसे भ्रमका पोषण प्राप्त नहीं हो सकता। हम एक आविष्कारको शास्त्रमें सिद्ध करते हैं और कुछ कालमें वह भ्रमपूर्ण सिद्ध होता है तो शास्त्रका तो कुछ बिगड़ता नहीं, हमारी मूर्खता अवश्य प्रकट होती है।

कोई ज्ञान कभी नवीन नहीं उत्पन्न होता। ज्ञान तो स्मरण-विस्मरणका स्वभाव रखता है। अवश्य ही भ्रमके लिए कोई नियम नहीं है। भ्रम तो नूतन भी हो ही सकता है। अन्वेषण करने वाले जानते हैं कि मिस्रके लोग पहिले पिरामिड बना सकते थे, रेड इण्डियन (मूल अमेरिकन) भी यह विद्या, रेखागणित और स्थापत्य कलाका उच्च ज्ञान रखते थे, चीनके लोग गोला बारूद बना सकते थे; परन्तु वे सब अपने पूर्व ज्ञानको भूल गये। इनमें कुछ जातियाँ तो पूर्णतः जंगली—असभ्य हो गईं। यूरोपीय जातियाँ उस समय असभ्य थीं, उन्नति शिखरपर हैं। भारतीय भी इस प्रकार अपने भौतिक ज्ञानका बहुत बड़ा भाग भूल गये। यही कारण है कि शास्त्रोंके ऐसे स्थलोंका ठीक अर्थ आज हो नहीं पाता है।

जहाँ तक पाश्चात्य विज्ञानके भ्रमोंके प्रश्न हैं, वे निःसन्देह नवीन हैं, परन्तु जहाँ तक उनके भ्रान्तिहीन आविष्कारोंकी बात है, वे नवीन नहीं हैं। ज्ञानका पुनः स्मरण ही होता है, उसे नवीन उत्पन्न नहीं किया जा सकता। विश्वकी सारी घटनाएँ आवृत्ति करती हैं। इतिहास अपनेको बार बार दुहराता है। एक कल्पकी सृष्टि ही दूसरे कल्पमें फिर व्यक्त होती है। आगेके उद्धरण बता देंगे कि इनमेंसे अधिकांश यन्त्रादि पहिले थे और पहिलेके बहुतसे यन्त्रोंका अभी पुनरुद्धार होना बाकी है।

शास्त्रोंमें बहुतसे यन्त्रोंका वर्णन है ; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति धर्मप्राण है । यहाँ युद्धमें तोप या बम चलाकर नगरके नगर ध्वस्त करनेको स्थान नहीं । यहाँ तो ब्रह्मास्त्र जैसे शस्त्र लेकर भी देखना पड़ता था कि कोई निरपराध प्राणी, शस्त्रहीन भागता शत्रु न मारा जाय । गो और ब्राह्मण भी मर सकें, ऐसा प्रयोग सम्भव ही नहीं था । इसी प्रकार बड़े उद्योग भी गृहित माने जाते थे । मनुस्मृतिने उपपातकोंकी गणनामें लिखा है 'सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्र प्रवर्तनम्' सब प्रकारकी खदानोंका अधिकार और महायन्त्र चलाना ये उपपातक हैं । इसी स्मृतिके अध्याय नौके २५६ श्लोकमें राजाके लिए कहा गया है कि वह इतने व्यक्तियोंपर सावधान दृष्टि रखे—उन व्यक्तियोंमें चोर, ठग आदिके साथ शिल्पी भी रखे गये हैं । अन्यत्र बताया गया है कि किन कर्मोंसे कुलका विनाश हो जाता है और उनमें शिल्प कर्म भी निर्दिष्ट है । स्पष्ट कहा गया है कि महायन्त्रसे हिंसा होती है, जीविका-हरण होती है, यह पापोंका घर है । महाभारतमें वर्णन है कि जब अर्जुनने दानवराज मयको खाण्डव वनकी अग्निसे बचाया तो मय कृतज्ञतावश अर्जुनको अपनी शिल्पविद्या सिखानेको प्रस्तुत हुआ । उसने अपने यन्त्रों, विमानों आदिका वर्णन किया । अर्जुनने बड़ी स्थिरतासे अस्वीकार करते हुए कहा—'यह आसुरी विद्या है । यह शास्त्र निषिद्ध ज्ञान है । यह हिंसा प्रधान है । मैं इसे अङ्गीकार नहीं कर सकता ।

आरम्भिक कालसे असुरोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है । इन असुरोंमें मय जैसे शिल्पी और रावण जैसे वेदभाष्यकार महापण्डित भी थे । असुर शरीर सुखको ही प्रधानता देने वाले थे । अतएव उनके यहाँ शास्त्रोंके भौतिक नियमोंका उपयोग हुआ भौतिक उन्नतिके लिए । उन्होंने वर्तमान पाश्चात्य सभ्यताकी भाँति भौतिक उन्नति की । शास्त्रोंमें वर्णित प्रायः सब महायन्त्र उन्होंने निर्मित कर लिये । उनके वर्णन बतलाते हैं कि वर्तमान आविष्कार अभी प्राचीन आसुरी आविष्कारोंके सम्मुख किसी भी गणनामें नहीं हैं ।

इन असुरोंके आक्रमण भारतपर होते ही रहते थे । भारतीय नृपति यहाँसे देवताओं तककी सहायता करने जाते थे । असुरोंका दर्प क्षत्रिय नरेशोंने बार-बार चूर्ण किया । इतनेपर भी हिन्दू भारतने आसुर यान्त्रिक सभ्यता स्वीकार नहीं की । यहाँकी शक्तिका केन्द्र भौतिक विज्ञानके केन्द्रसे और सूक्ष्म था । मन्त्र-शक्ति-शब्द, शक्ति क्षत्रिय चक्रवर्ती नरेशोंको

अरण्यवासी तपस्वियोंसे प्राप्त हुई थी और उसके सम्मुख भौतिक विज्ञानकी आसुरी शक्ति सदा पराजित होती रही ।

पदार्थसे पदार्थ प्रकट कर लेना, दो पदार्थोंसे एक शक्ति प्रकट कर लेना, यह स्थूल शक्ति है । किसी पदार्थके मूल परमाणुके भङ्ग करको उसकी शक्तिको दूसरे पदार्थके रूपमें परिणत कर देना, यह उससे सूक्ष्म शक्ति है । वर्तमान विज्ञान पहिली स्थितिसे इस दूसरी स्थितिमें पहुँचनेके प्रयत्नमें है । परमाणुके एलक्ट्रान तथा प्रोटॉनकी भी मूल निर्माता शक्ति जो अव्यक्तमें व्याप्त शब्द हैं, उनको प्राप्त कर उनके द्वारा पदार्थोंको प्रभावित करना, यह मन्त्रशक्ति है और यही शक्ति हिन्दू अपने उन्नति कालमें व्यवहारमें लेते थे । प्राचीन हिन्दू समाजके लिए यह शक्ति इतनी सहज सुलभ थी, जैसे वर्तमान समयमें विद्युत-शक्ति । बिना किसी आधारके विचारको ही मूर्त रूप दे देना—यह परम सूक्ष्म शक्ति है । मनोवेज्ञानिक मानते तो हैं कि पदार्थ केवल विचारोंके व्यक्त रूप हैं, और दृढ़ विचारसे उनको प्रभावित या परिवर्तित किया जा सकता है ; परन्तु आमूल उनका स्थायी निर्माण भी किया जा सकता है, यह अभी उनकी समझमें आता नहीं । यह कार्य प्राचीन समयमें भी तपस्वी महर्षि गण ही कर पाते थे । यह तो बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि स्थूल शक्तिसे सूक्ष्म शक्ति सहस्रों गुना प्रबल होती है और जिसके पास प्रबल शक्ति होगी, वह अल्प शक्तिका उपयोग न करेगा । विद्युतसे रेल चल सके तो लकड़ी जलाकर नहीं चलाई जायगी और न वैसे एंजिन बनेंगे । इस समय बिजलीकी रेलें चलने भी लगी हैं । हिन्दुओंको पुराने समयमें मन्त्रशक्ति उपलब्ध थी, अतएव उसी समयमें असुरोंमें प्रचलित उन्नततम भौतिक आविष्कारोंको अपनाने और सीखनेकी उन्हें आवश्यकता नहीं थी । सो भी ऐसी दशामें, जब वे आविष्कार उनके आदर्शके प्रतिकूल थे ।

जैसे-जैसे मनुष्यका संयम नष्ट होता गया, वह मानसिक शक्तिसे हीन होता जा रहा है । विचारोंको मूत करना तो प्रबल मानसिक शक्तिका कार्य था । मन्त्र भी मनकी निर्मलता, दृढ़ता, विश्वासकी अपेक्षा करते हैं । जब मनुष्य इस शक्तिसे हीन हुआ तो उसे स्थूल पदार्थोंसे शक्ति लेनेकी आवश्यकता हुई । भारतीय शास्त्रोंसे हिन्दुओंने भौतिक ज्ञानको अपनाना प्रारम्भ किया । शास्त्रोंके ज्ञानके वर्णनसे पूर्व कुछ ऐसे उदाहरण देना

पर्याप्त होगा; जिनसे यह ज्ञात हो सके कि यान्त्रिक आविष्कार आज नवीन नहीं हुए हैं। भारतसे ही वे बाहर गये हैं। भले हम इस समय उन्हें भूल गये हों।

पेशावर जिलेके शहवाजपुर ग्राममें एक पुराना पत्थर मिला है। उसपर किसी नरेशका आज्ञा-पत्र अङ्कित है। ऐसे ही पत्थर हैदराबाद और लङ्कामें भी मिले हैं। जान पड़ता है कि किसी एक ही नरेशका इतना विस्तृत साम्राज्य था और उसकी ये आज्ञाएँ पत्थरोंपर खोद-खोद कर स्थान-स्थानपर लगा दी गई थीं। पत्थरोंपर केवल आज्ञाएँ हैं, किसीका नाम नहीं है, अतः यह ज्ञात नहीं हो सका कि इन पत्थरोंका समय क्या है। आज्ञाएँ निम्न हैं—

१—धुएँकी गाड़ीमें लकड़ी न जलाई जाए। इसके स्थानपर पत्थरका कोयला जलाना चाहिए।

२—समस्त राज्यमें मनुष्योंके लिए तो औषधालय विद्यमान हैं ही, पशुओंके लिए भी चिकित्सालय अति शीघ्र खुलने चाहिए।

३—यद्यपि यात्रियोंके ठहरनेके लिए धर्मशालाएँ विद्यमान हैं, परन्तु इतनी और विशेषता होनी चाहिए कि पथिक किसी वस्तुको पसन्द कर वहाँसे ले जाना चाहें तो मेरे सेवक उसे तत्काल दे दें।

४—राजमार्गोंपर दोनों ओर अच्छे फलोंके सघन वृक्ष लगाये जावें, जिससे यात्रियोंको सुख पहुँचे।

इस शिलालेखमें रेलगाड़ीका वर्णन तो है ही, उस समयके शासककी मनोवृत्ति और समाजकी विपुल सम्पत्तिका भी आभास है। 'पथिक जो चाहे, उसे दे दिया जाय' ! यह सुविधा भारत ही दे सकता था। उदयपुर राज्यकी चित्रशालामें एक पुराना चित्र मिला है। चित्रका शीर्षक है— 'घटालाक शिकारकी छवि' चित्रमें एक राजा 'सर्च लाइट' के प्रकाशसे शिकार करता दिखलाया गया है। हैदराबाद राज्यकी पत्थर घाटी गांवमें एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक मिली है। उसमें रासायनिक द्रव्योंके योगसे रेडियो-बेतारके तारकी निर्माण विधि वर्णित है। समराज्जण सूत्रधारसे विमान-निर्माणका वर्णन है। मिस्र देशके लक्जार ग्राममें एक कब्रपर कुछ वाक्य खुदे हैं। पारश्चात्य विद्वान इन्हें छः हजार वर्ष पुराना निर्धारित

करते हैं। इनमें जो कुछ लिखा है, उसका अर्थ है—‘पूना (भारत) में दो भाई रहते थे। उनकी वहाँके राजासे अनबन् होगई। राजाने उन्हें देशसे निकाल दिया। तब वे यहाँ (मिस्रमें) आकर बस गये। उन्होंने अथर्ववेदके रहस्य कोषके आधारपर रेडियो और तारकी व्यवस्था की जिससे यहाँके राजाने उनका बड़ा सम्मान किया।

पता नहीं ऐसे कितने प्रमाण अभी अज्ञात हैं, कितने भूमिमें दबे हैं और कितने चित्र तथा ग्रन्थ भारतमें तथा मिस्रमें नष्ट हो गये। उपलब्ध ग्रन्थ भी ग्रामोंमें बहुतसे अज्ञात पड़े हैं, और बहुतसे ग्रन्थोंका अर्थ परम्परा लुप्त होनेसे ठीक-ठीक हो नहीं पाता है। जो कुछ शास्त्रोंमें स्पष्ट है, उसपर विषयक्रमसे एक सूक्ष्म दृष्टिपात मात्र यहाँ किया जा सकता है।

गणित

इस विद्याके तीन भाग हैं, अङ्कगणित, रेखागणित और बीजगणित। दूसरे सब विज्ञान और कलाएँ इसीपर निर्भर हैं। ज्योतिष, भूगोल, स्थापत्य-कला, मूर्तिकला, यन्त्र निर्माण, सबका आधार गणित है। गणित निर्भर है अङ्कोंपर। इसमें विद्वानोंको कोई विवाद नहीं है कि संख्याका प्रसार भारतसे ही समस्त देशोंमें हुआ। अब भी रोमन, यूनानी, अरबी आदिमें अङ्कोंको हिंदसा कहते हैं। संख्याके साथ प्रत्येक दशकके विन्दुकी उद्भावना भी श्रुतिमें ही है। रोमनोंने प्रत्येक दशकके लिए पृथक-पृथक चिन्ह रखे; किन्तु शेष विश्वमें भारतीय विदु ही प्रचलित हुआ।

य एतं देवमेकव्रतं वेद ॥ अथर्व वेद १३।४।५४॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।

न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ अथर्व १३।४।१६-१८॥

जैसे यहाँ दश तक संख्या आ गई है, वैसे ही इन्हीं अंकोंसे सौ तककी संख्याका निर्देश—‘एकात्रमे दशचमे, द्वेचमे विशतिश्चमे’ के क्रमसे इसी वेदके पाँचवें काण्डके १५ सूक्तके कई मंत्रोंमें है। यजुर्वेदके १७।२ में दससे सौ, सहस्रसे परार्ध तककी संख्याका विस्तार है। यजुर्वेदके मंत्र १८।२४ में एकसे लेकर तीन, पाँच, सात आदि विषम संख्याओंका और उसके आगेके मंत्रमें सम संख्याओंका क्रम है। अथर्वके १६।४७ में तो ग्यारहका पहाड़ा ही है।

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वौ त्रीणि चत्वारि कृणमः । अथर्व ८।१।२१॥

इस मन्त्रमें सृष्टिकी आयु बतलाई गई है। दस लक्ष तकके बिन्दु रखकर कमशः दो, तीन और चार रखना चाहिए। यह संख्या चार अरब बत्तीस करोड़ हुई। यहाँ बिन्दुकी उद्भावना स्पष्ट है। डाक्टर हार्नवलीको एक पुस्तक मिली थी। पेशावरके पास बरुशअली गाँवमें खोदते समय एक कप्तानने उसे पाया था और उसने डाक्टर साहबको दी। ऊपरका पृष्ठ न होनेसे उस ग्रन्थका नाम अज्ञात है। इस ग्रन्थमें पद्ममें गणितके नियम हैं और उनका भाष्य गद्यमें है। डाक्टर साहबका कहना है—‘हिन्दुओंने गणित किसीसे सीखा नहीं।’

मैक्समूलर साहब कहते हैं—‘खलीफा मामू’के समयमें मुहम्मद बिन-मूसाने संस्कृतसे बीजगणितका अनुवाद किया।’

डाक्टर डिवोका कहना है—‘आर्योंको वैदिककालसे रेखागणितका ज्ञान है।’

हिन्दू संस्कृति आदि कालसे यज्ञ प्रधान है। यज्ञमें चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल हवनकुण्ड बनते हैं। उन सबके माप हैं। रेखागणितके बिना कुण्ड, परिधि, त्रिकोण, सर्वतोभद्र तथा नवग्रह मण्डल बन नहीं सकते। अथर्ववेद ८।१।२ में जलका ठीक स्तर मानकर त्रिभुजके लम्बसे क्षेत्रफल और ऊँचाई तथा चौड़ाई जाननेका वर्णन है। आज भी सब जानते हैं कि जल ही ठीक स्तर (लेवल) सूचित करता है और नदियोंकी चौड़ाई त्रिभुजकी कल्पनासे ही जानी जाती है। इस प्रकार व्यास, परिधि, आदिके वर्णन भी हैं।

ज्योतिष

जैसे यज्ञके लिए रेखागणित आवश्यक है, वैसे ही ज्योतिष भी। यज्ञोंके लिए नक्षत्रोंकी गतिका सूक्ष्मज्ञान आवश्यक है। अधिकांश यज्ञ, पक्ष, मास, ऋतु, दिन आदिकी सन्धियोंमें होते हैं। संक्रान्ति, ग्रहण आदिपर भी यज्ञ होते हैं। इन सबकी सार्थकता ज्योतिषके ज्ञानके बिना कैसे हो। बहुतसे कार्य दक्षिणायनमें, शुक्र तथा बृहस्पतिके अस्त होनेपर वर्जित है। यदि ज्योतिषका सूक्ष्म ज्ञान न हो तो शुक्रोदय तथा शुक्रास्तका ठीक पता कैसे लगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुओंको सायन गणनाका पहिले पता नहीं था । मेष, वृष आदि राशियोंके नाम प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं हैं । हिन्दू केवल नक्षत्र वर्ष और चान्द्रवर्ष ही जानते थे ।' ऐसे लोग भूल जाते हैं कि दो-दो मासकी षट ऋतुएँ और द्वादश आदित्य तथा उनके नाम अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थोंमें हैं । मेष, वृषादि आकृतियोंका वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें है । इन आकृतियोंके आदित्योंके वाहन बताया गया है । यूनानियोंने इन्हीं वाहनोंको राशिका नाम दे दिया । अथर्ववेद ८।१।६ में वैश्वानर राशिपथका वर्णन है । यह चक्र मार्ग १२ भागोंमें विभक्त है और उसमें ३६० अंश हैं, यह वर्णन भी वहाँ है ।

‘यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदामुरः । ऋग्वेद ५।४०।५

यहाँ असुर राहुके कारण सूर्यके प्रकाशका आच्छादन सूर्यग्रहणका वर्णन है । वर्तमान विज्ञानसे यहाँ मतभेद होता है ; किन्तु वर्तमान विज्ञान अभी पृथ्वीकी आकृतिके ही सम्बन्धमें अन्धकारमें है । राहु छायापुत्र है । यदि आकाशमें कोई अन्धकारपूर्ण ग्रह हो तो वर्तमान यन्त्रोंके लिए अब भी अदृश्य ही है । फिर राहुकी स्थिति सूर्यके ऊपर बतायी गई है । सूर्यका प्रकाश उसे देखनेमें बाधा देता है । एक अन्धकारपूर्ण ग्रह अस्पष्ट रूपमें सूर्यसे ऊपर वर्तमान यन्त्रोंमें मिला भी है और यह भी कहा जाने लगा है कि कमसे कम सूर्यग्रहणका तो वही कारण होना चाहिए । पुराणोंमें श्रुतिके इस ग्रहण वाले कारणका विस्तृत वर्णन है ।

जैसे ग्रहणके सम्बन्धमें अभी वर्तमान दृश्य ज्योतिषसे हिन्दू शास्त्रोंका मतैक्य नहीं है, वैसे ही और भी बहुतसे मतभेदके स्थल हैं । भारतीय फलित ज्योतिषको यूनानियोंने ज्योंका त्यों ले लिया था । ज्योतिषकी भविष्यवाणियाँ यदि गणित ठीक हो तो ठीक उतरती देखी जाती हैं । वर्तमान विज्ञान ज्योतिषके इस रहस्यसे अभी नितान्त अपरिचित है ।

भारतीय ज्योतिषने पूरे खगोलका विस्तार १८ पद्म योजन बताया, विदेशोंमें जीवनने इसे १०२३ प्रकाश वर्ष बताया और आइन्स्टीनके गणितके अनुसार १०२१ मील माना है । आइन्स्टीनने अपने विश्वके बाहरकी नीहारिकाओंके प्रकाशको लेकर यह विस्तार किया है । इसमें दो ब्रह्माण्डोंके मध्यका अन्तर सम्मिलित होगया है । यों ब्रह्माण्डोंका अन्तराल निकाल देनेपर आइन्स्टीनका खगोल विस्तार भारतीय विस्तारसे प्रायः मिल जाता

है। इस प्रकार सम्पूर्ण खगोल विस्तार, राशिचक्र, नक्षत्र मण्डलादिका वर्णन भारतीय साहित्यमें प्राचीनतम है। यूनानने यहींसे सायन पद्धति ग्रहण की। फलितका प्रसार भी यहींसे हुआ। अब भी यहाँके ज्योतिषका अधिकांश भाग विज्ञानके लिए अपरिचित ही है।

भूगोल

भूगोल—यह शब्द ही पृथ्वीकी आकृति बतलाता है। भारतमें पृथ्वीके आकारके सम्बन्धकी प्राचीन धारणा क्या है; यह इस शब्दसे स्पष्ट है। ग्लोब शब्द इसीका विकृत होकर बना हुआ रूप है। पृथ्वी गोल है तो किस प्रकार? पाश्चात्य विज्ञानने पहिले कहा कि 'नारङ्गीके समान।' अब वह तश्तरीके समान नतोदर माननेके पक्षमें है। यह विषय 'पुराण और हिन्दू संस्कृति' शीर्षक निबन्धमें विस्तृत हुआ है। हिन्दू शास्त्रोंने पृथ्वीको पहिले ही से कमलाकृति बताया है।

पाश्चात्य भूगोल केवल पृथ्वीके एकांश जम्बूद्वीपको ही पृथ्वी माने है। इस द्वीपका भी उत्तर एवं दक्षिण ध्रुव प्रदेश अभी अज्ञात है। अतएव ऐसे अधूरे भौगोलिक ज्ञानको पूर्ण मान लेनेपर पुराणों तथा शास्त्रोंका भूगोल समझमें न आवे, यह स्वाभाविक है। जितना अंश पुराने भूगोलका नयेसे मिलता है; जैसे भारतका वर्णन, वह आज भी उसी रूपमें है। यही बतलाता है कि शेष भी ठीक होना चाहिए।

भारतीय महर्षियोंने एक नियम बताया है—'जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है।' हम देखते हैं कि एक सौर मण्डलकी जो स्थिति है, वही एक परमाणुकी भी है। मनुष्य चाहे जितने यन्त्र बनाले, वह पूरे ब्रह्माण्डको देख नहीं सकेगा और न उसके रहस्य जान सकेगा। जैसे-जैसे यन्त्र बढ़ते जाते हैं, वैज्ञानिक जानते हैं कि भूगोल तथा ज्योतिष शास्त्रमें वैसे नये-नये रहस्य सम्मुख आते हैं। पुराने सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध होते जा रहे हैं। उलझनें बढ़ती जा रही हैं। ऋषियोंने शरीरके भीतर मन एकाग्र करके पिण्डके भेदका साक्षात्कार कर लिया था। उनके ब्रह्माण्ड ज्ञानकी यह पद्धति भ्रमके लिए स्थान ही नहीं रखती। मानवका दुर्भाग्य कि उसके मनमें अब यह शक्ति ही नहीं है।

भूगर्भशास्त्र

भूमिकी बाह्य आकृतिके पश्चात् भूमिके भीतर क्या है, इसका प्रश्न आता है। 'हमारी इस पृथ्वीके नीचे भी दूसरे लोक हैं और वहाँ भी एक प्रकारके मनुष्य रहते हैं। पुराणोंकी इस बातको आप चाहे कोरी गप मानलें; पर वैज्ञानिकोंका एक दल है जो शान्त ज्वालामुखी पर्वतोंके मार्गसे पृथ्वीके भीतर उतरता है और वहाँ क्या है, यह देखनेका प्रयत्न करता है। एडवर्ड ऐलफ्रेड हर्टेल एक फ्रेन्च वैज्ञानिक हैं जो पातालका उद्घाटन करनेके प्रयत्न प्रसिद्ध हैं। ये 'दार गलिन' तथा 'पैडरिक' की प्रसिद्ध भयंकर गुफाओंके अतिरिक्त सत्रह दूसरी गुफाओंमें उतर चुके हैं। उन्होंने नीचे 'सरमनसे' गुफामें उतरनेपर एक नदी देखी। एक बार वे अग्निकुण्ड-में नीचे झुलस भी गए। उन्होंने एक बार नीचे तुरन्त मरे पशुओंसे आच्छादित भूमि पाई और उनके ऊपरसे चलनेको विवश हुए। उनका कहना है— 'भूमिके नीचे सुन्दर स्वर्गीय दृश्य हैं। अवश्य ही वहाँ कोई सामाजिक प्राणी रहते हैं।'

पातालकी बात छोड़ दीजिए। आज वैज्ञानिक यन्त्रोंसे तथा मिट्टीके परीक्षणसे पता लगाया जाता है कि नीचे कहाँ कौनसे खनिज द्रव्य हैं। भारतमें साधारण ज्योतिषी भी बता देता है कि कुएँमें कितनी नीचाई में, किस दशामें कैसा जल निकलेगा। यह बात इतनी स्पष्ट तो यन्त्र बता सके, अभी यह स्थिति नहीं है। 'रत्न गर्भा वसुन्धरा' यह पुरानी कहावत है। देवमूर्तिके निर्माणमें कैसी शिला लेनी चाहिए, इसका वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि शिलामें लौहा, कांसा, स्वर्णादि होनेपर क्या लक्षण प्रकट होते हैं। इससे भी विचित्र बात है सगर्भा शिला। पत्थरमें कोई छिद्र नहीं है, परन्तु उसके भीतर जीवित मेंढक, गोह, काला सर्प, चूहा, गिरगिट, कबूतर, छिपकली, जल या रेत हो सकती है। किस शिलामें क्या है, यह शिलाको देखकर जाना जा सकता है। सगर्थ स्वामी रामदास जी ने शिवाजी महाराजके सम्मुख एक पत्थर तुड़वाया और उसके भीतर मेंढक निकला, यह आपने पढ़ा होगा। शिलामें ये जीव कैसे जीवित रहते हैं, यह प्रश्न पृथक् है, पर ये होते हैं और इनके होनेपर शिलामें जो लक्षण होते हैं, वे शास्त्रोंने गिना रखे हैं। घिसने या तोड़नेसे यदि शिलामें मंडल दीखें तो वह शिला सगर्भा होगी। मंडलके रङ्गके अनुसार उसमें जीव होंगे।

पृथ्वीमें नीचे हड्डी, कोयला, द्रव्य होनेपर ऊपर उनका प्रभाव पड़ता है। एक अच्छा ज्योतिषी ठीक बता देगा कि पृथ्वीमें कहाँ कितने नीचे अस्थि हैं। शास्त्रोंने इनके सम्बन्धमें बहुत लिखा है। मिट्टीकी गन्ध, रङ्ग उसपर-के वृक्षादिकोंकी स्थितिसे भूगर्भमें स्थित पदार्थोंका पता लगता है। भारतीय शास्त्रोंमें न केवल धातुओं और रत्न तथा तैलके भूगर्भमें होनेके लक्षण कहे गये हैं, अपितु भस्म, रेत, चिकनी मिट्टी, जल आदिकी स्थिति भी बताई गई है। भूमिको ऊपरसे ही भली प्रकार देखकर उसके भीतर की स्थितिका ज्ञान हो जाय इसका स्पष्ट निर्देश है। परम्परा लुप्त हो जानेसे बहुतसे भागोंका अर्थ स्पष्ट नहीं ज्ञान होता, अब यह कठिनाई अवश्य हो गई है। निधि-विद्याका तात्पर्य ही है कि विशेष प्रकारके कज्जल लगाकर या वृक्षादि लक्षणोंसे भूगर्भ स्थिति निधिका ज्ञान प्राप्त कर लेना। यह रहस्यपूर्ण विद्या भारतमें खूब विस्तृत हुई थी। इसके कुछ लक्षण शकुनके साथ विचार करते समय स्पष्ट होते हैं।

धातु विज्ञान

धातुओंका दो उपयोग है—एक तो उनसे पात्र और यन्त्र बनाना और दूसरे उनको फूँक कर चिकित्साके काममें लेना। धातुओंको फूँककर रसायन निर्माण, यह तो निर्विवाद रूपसे भारतीय विद्या है। अब पाश्चात्य देशोंमें डाक्टरी औषधियोंमें धातुएँ काम आने लगी हैं और वे प्रायः उन्हीं उपयोगोंमें आती हैं, जिनमें शताब्दियोंसे भारतीय उन्हें ले रहे हैं। जैसे यकृत वृद्धिमें लौह। अवश्य ही रूप धातुओंके पृथक-पृथक दिये जाते हैं।

पारदकी शोध रसायन शास्त्रमें एक अद्भुत बात है। पारद ही रसायन शास्त्रका प्राण है। हिंगुलसे पारा निकालना भारतकी प्राचीन विद्या है। पारेको नियन्त्रित करना और भस्म कर देना, पारेसे स्वर्ण निर्माण करना आदि भारतीय भूल गये और विज्ञानके लिए अभी यह स्वप्न है। यद्यपि अधिकांश यन्त्रोंमें पारा काममें आता है। इसी प्रकार गन्धक, गेरू, मैनशिल आदि खनिज पदार्थोंका उपयोग भी भारतसे ही विदेशके लोगोंने सीखा।

स्वर्ण पवित्र है, स्वास्थ्यकर है, ताम्रपात्रमें रखा जल लाभप्रद है; किन्तु ताम्रमें रखा दूध या भोजन हानिकर है। इस प्रकार धातुओंके उप-

योगके सम्बन्धमें अब भी भारतके ग्रामीण जितना जानते हैं, उतना विज्ञान पता नहीं लगा पाया है। यह ज्ञान भी शास्त्रीय ज्ञानके लुप्त हुए भागका अवशेष मात्र है।

पदार्थ ज्ञान

इस बातको आज बड़े-बड़े निरीक्षकोंने मान लिया है कि औषधियोंके गुण जितने भारतीय निघण्टुमें स्पष्ट तथा सत्य हैं, वैसे किसी दूसरे देशमें प्राप्त नहीं होते। विज्ञान तो अभी पीपल, तुलसी, उदुम्बर, आमलापर निरीक्षण करके उनकी महत्ता स्वीकार करने लगा है। निघण्टु ग्रन्थोंमें पदार्थोंके गुण-दोष, प्रकृति-विकृति, संयोगके परिणामका विस्तृत विवरण है और उनमें कोई पदार्थ छूटा नहीं है। भारतीय काष्ठौषधि ज्ञानसे ही यूनानी वैद्यकका प्रारम्भ हुआ है और यहाँके क्वाथ ही वहाँ शरबत बन गये हैं, यह अब छिपा नहीं है।

मैकगिल विश्वविद्यालय कनाडाके डाक्टर हरिसनने एक लेख लिखा है 'जलके कीटाणु' वे कहते हैं—बड़ा आश्चर्य होता है कि गंगाजलमें सहस्रों हैजेके मुर्दे बहाये जाते हैं, पर वहाँ मलमें कीटाणु नहीं मिलते। पासके ही कुओंमें के जलसे ये रोगाणु सरलतासे बढ़ने लगते हैं। उबाल दिये जानेपर जमुना तथा गंगाके पानीकी यह शक्ति नष्ट हो जाती है। फ्रांसीसी डाक्टर हेरलने गंगाजलमें हैजेसे मरे बहते शवके नीचेसे जल लिया। उन्हें आशा थी कि वहाँ असंख्य रोगाणु होंगे, पर जल शुद्ध मिला। रोगाणु पालकर उन्होंने जलमें डाला तो वे कुछ मिनटोंमें ही नष्ट हो गए। अंग्रेज डाक्टर सी० ई० नेल्सन कहते हैं—'कलकत्ते'से इंग्लैण्ड जाने वाले जहाज हुगली नदीसे पानी लेते हैं। यह नदी यहाँ बहुत गन्दी है। परन्तु इसका जल इंग्लैण्ड तक ताजा बना रहता है। इंग्लैण्डसे बम्बई आने वाले जहाजोंको अदनमें पानी लेना पड़ता है, उनका जल खराब हो जाता है, जबकि उनकी यात्रामें एक सप्ताहसे भी कम दिन लगते हैं। एक अमेरिकन डाक्टरने गंगाजीमें जहाँ काशीका गन्दा नाला गिरता है, परीक्षण किया। उनका कहना है—'सूक्ष्म वीक्षणसे देखनेपर पता लगा कि गंगामें गिरते समय नालेका पानी देखनेमें यद्यपि बहुत गन्दा और बदबूदार होता है; परन्तु उसमें एक भी रोगाणु नहीं होते। तीस गज ऊपर नालेमें ऐसा दृश्य दीखता है, जैसे पशुओंसे भरे वनमें अग्नि लगी हो पचास गज ऊपर नालेके पानीमें रोगाणु भरे मिलते हैं।'।

श्री गंगाजीका आध्यात्मिक महत्व तो वैज्ञानिक समझनेसे रहा ; परन्तु वह तब और आश्चर्यमें पड़ता है जब साधारण जल शालिग्राम शिलाके धो देनेसे कीटाणुनाशक गुण प्राप्त कर लेता है। तुलसीकी महत्ता भी अब मानली गई है। भारतीय पदार्थ ज्ञानका यह अभी दूरसे आभास मिला है पाश्चात्य जगतको। अभी तो औषधियोंके स्पर्शसे रोग दूर होना, वृक्षोंकी छायाके प्रभाव, इन सबकी बात दूर ही है।

पदार्थ ज्ञानके सम्बन्धमें पदार्थका विश्लेषण भी एक स्थान रखता है। पहिले वैज्ञानिकोंने पदार्थोंकी कुछ जातियाँ निश्चित कीं। मूल पदार्थ साठ माने गये। यह संख्या घटती बढ़ती रही। अब परमाणुके विभाजनसे ज्ञात होता है कि मूलतः पदार्थ एक ही हैं। भारतीय शास्त्र यह विभाजन दूसरे प्रकारसे करते हैं। पृथ्वी (स्थूलत्व) जल (द्रवत्व) वायु (गति) अग्नि (उष्णत्व) आकाश (शब्द रूप-इत्थर) पदार्थोंके ये पाँच विभाग हैं और ये पंचीकृत-परस्पर मिले हैं। मूलमें ये पाँच भी तीनके ही अन्तर्गत हैं—सत्त्व (प्रकाश) रज (गति) तम (स्थूलत्व-अन्धकार) और ये तीन परस्पर अभिन्न हैं। भारतीय पदार्थज्ञान परमाणुओंको महत्ता नहीं देता। क्योंकि यहाँ लोहेसे सोना बनानेकी धारणा प्राचीन है। अब विज्ञान मानने लगा है कि पदार्थोंको रूपान्तरित किया जा सकता है।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें ऐसे बहुतसे प्रयोग हैं, जिनके द्वारा शत्रुकी सेनामें रोग फैलाये जा सकें। बम और विषैली गैसोंका भी वर्णन है। ऐसे भी प्रयोग हैं जिन्हें पैरोंमें लगाकर मनुष्य बिना थके सौ दो सौ मील चल सके या जिन्हें खाकर महीनों भोजनकी आवश्यकता न हो और शरीर बल बना रहे। क्योंकि उन औषधियोंके नाम आज पहिचाने नहीं जाते, अतः श्लोकोंको देना कोई लाभ नहीं करेगा।

रत्न विज्ञान

कौटिल्यके अब शास्त्रमें रत्नोंके गुण-दोष-प्रभावका विशद विवेचन है। वहाँ स्वर्ण आदि धातुओंको रङ्गीन बनानेकी विधिके साथ रत्नोंको भी रङ्गनेका विधान है। पाश्चात्य विद्वानोंने स्वीकार किया है कि 'पुराने समयमें हिंदू रत्नोंको निकालना, काटना, उनके कमल बनाना, उन्हें रङ्गना और उनके रङ्ग छुड़ाना जानते थे।'।

रत्नोंका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। ग्रह शान्तिके लिए रत्न धारणकी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। रत्नोंमें क्या गुण हों तो क्या प्रभाव पड़ेगा और उनके कौनसे दोष क्या हानि करते हैं, कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें यह बातें अपने पूर्वकालीन ग्रन्थोंसे ही उद्धृत हुई हैं। शास्त्रोंमें भगवान्की मणि-प्रतिमाके पूजनका विधान है। वहाँ भी मणिके गुण-दोष-स्वरूपका विवरण है।

बहुतसे पुराने रत्न और मणि अब अप्राप्य हो गये हैं। गजमुक्ता, सर्पकी मणि ये अब प्राप्य नहीं हैं। सूर्य कान्तमणि (आतशी शीशा) तो अब भी बना लिया जाता है और उसे सूर्य किरणोंमें रखनेसे वह अग्नि प्रकट भी करता है ; परन्तु प्राचीन समयका अत्यन्त प्रचलित चन्द्रकान्त मणि अब तक बन नहीं सका है। चन्द्रमाकी किरणोंसे जल-कण प्रकट हो सकें ऐसा शीशा अभी अप्राप्य है। इसी प्रकार माणिक्य ही आज प्राप्य हैं 'लाल' नहीं। भारतीय पुरातन कालसे रत्नोंको औषधिके लिए भस्म रूपमें, ग्रह शान्तिके लिए तथा उनके प्रभावोंसे लाभ उठानेके लिए उपयोग करते आ रहे हैं।

चिकित्सा शास्त्र

बगदादके खलीफा मामूँ रशीदने भारतसे वैद्य बुलबाये थे और वह उन्हींकी औषधि लेता था। यह बात इतिहास सिद्ध है। चिकित्सा शास्त्रमें प्राचीनतम पद्धति यूनानी है और वह भारतसे ली गई है। भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें शरीरके वाह्य एवं आन्तरिक स्वरूपका पूर्ण वर्णन है। रोम कूर्पो तथा छुद्र स्नायुओं तककी गणना है। इलफिनेस्टन साहबने अपने 'भारतके इतिहास' में स्वीकार किया है कि 'पथरी निकालना, गर्भसे बच्चे निकालना, आखें बनाना भारतमें चिरकालसे प्रचलित था।' चीर-फाड़के जिन सूक्ष्म यन्त्रोंका वर्णन आयुर्वेद संहिताओंमें है, उतने सूक्ष्म यन्त्र अब तक बन नहीं सके हैं।

वैद्यकके चिकित्सा शास्त्रका एक भाग है कौमार भृत्य तथा देव चिकित्सा। बच्चोंके लिए तथा जिन्हें प्रेतादि बाधा हो, देव या ग्रह प्रकोप हो, उनके लिए विशेष प्रकारकी धूप देना, पूजा, सुगन्धित या तीक्ष्ण अर्घ्य। विज्ञानकी पद्धति इन बातोंमें विश्वास नहीं करती, क्योंकि वह

अभी इससे अपरिचित है, परन्तु इनके लाभ प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इसी प्रकार मन्त्र चिकित्सा है। सर्प और विच्छेदके विष तो मन्त्रसे प्रत्यक्ष ही दूर होते देखे जाते हैं।

चिकित्सा शास्त्रमें ही पशु चिकित्सा तथा वनस्पति चिकित्सा भी है। अब तक भी भारतीय सरकारी प्रयोग शालाएँ पशुओं और वृक्षों तथा फसलोंके सम्बन्धमें उतना व्यापक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकी हैं, जितना ग्रामों की लोकोक्तियोंमें संग्रहीत है। हड्डी बैठानेमें जितने निपुण ग्रामोंके अनपढ़ विशेषज्ञ होते हैं, डाक्टर उतनी सुविधा सरलतासे सफल नहीं होते। यही दशा पशु चिकित्साकी भी है।

वनस्पतियों और पशुओंमें मेल करके नवीन जातियोंकी उत्पत्तिका ज्ञान आधुनिक नहीं है। अश्वतरी (खच्चरी) का वर्णन बहुत प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। अवश्य ही केवल कुतूहलवश प्रयोग करनेकी वृत्ति पहिले नहीं थी। प्राकृतिक वृक्षों और पशुओंको ही पसन्द किया जाता था। आज भी गुणकी दृष्टिसे कलभी पुष्प और फल वास्तविकसे हीन ही माने जाते हैं।

जन्तु शास्त्र

पाश्चात्य जगतको गर्व है और ठीक भी है कि उन्होंने चींटी, दीमक, मधुरकृवी, चूहे आदि सैकड़ों प्राणियोंका जीवन वृत्त ढूँढ़ निकाला है। जहाँ तक कुतूहलका सम्बन्ध है, नवीन अन्वेषण अवश्य आगे हैं। अन्त-मुखताको उद्देश्य बनाने वाली जाति चींटी या दीमकके पीछे वर्षों नहीं पड़ी रह सकती थी। लेकिन जहाँ तक ज्ञान तथा मनुष्य जातिके उपयोगका प्रश्न है, भारतीय ज्ञानको पाश्चात्य ज्ञान इस क्षेत्रमें भी अभी स्पर्श नहीं कर सका है।

चौरासी लक्ष योनियाँ तो यहाँ नहीं कबसे ज्ञात हैं। निघण्टु उठाइये और देखिये कि किस जन्तुके शरीर, माँस, मूत्र, उसके निवासकी मिट्टीमें क्या गुण है। किस जन्तुकी कौन-सी विशेष चेष्टा क्या सूचित करता है, यह शकुन शास्त्र बतावेगा। मधु, मृग चर्म, व्याघ्र चर्म, बकरीका चर्म, आदि कब-कहाँ उपयोग होते हैं, यह भी वर्णित है। गोरौचन और कस्तूरी

बहुत पुरानी वस्तुएँ हैं तथा रेशम और लाख भी । हिन्दू ग्रन्थोंमें मक्खी ही नहीं, एक प्रकारकी चींटीके मधुका भी वर्णन है । वह भी मधु छत्र बनाती है । जितना सूक्ष्म उपयोगी अन्वेषण पहिले हो चुका है, वह कुछ भागमें भी समझा जा सके तो बहुत है ।

गृह-निर्माण

गृह निर्माण शास्त्रके दो भाग हैं, गृह और उद्यान । चित्र, मूर्ति आदि ललित कलाओंको पृथक् कर देनेपर भी आजके प्राचीन उपलब्ध मन्दिर तथा किले, नवीन निर्माणसे अत्यन्त सुदृढ़ हैं । ब्रिटेनमें टेम्स नदीके नीचेसे सुरङ्गमें रेल चलती है और इसे बहुत बड़ा काम माना जाता है, परन्तु भारतीय सब सुरङ्ग दीर्घकाल तक स्वच्छ न होनेसे बन्द कर देने पड़ी हैं । यहाँ कोई ऐसा प्राचीन दुर्ग नहीं है, जिसमें से सुरङ्ग बाहर न गयी हों । प्रयागके दुर्गसे विश्वकी सबसे बड़ी चार सुरङ्गें गयी हैं । इनमें एक उज्जयनी, दूसरी पाटलिपुत्र (पटना), तीसरी हस्तिनापुर (मेरठके पास) और चौथी कहीं दक्षिण भारत तक गयी है । ये सुरङ्गें गङ्गा या यमुनाके नीचे होकर गयी हैं । कहा जाता है कि ये इतनी ऊँची तथा चौड़ी हैं कि इनमें चार हाथी हौदेके साथ एक पंक्तिमें चल सकते हैं । स्मरण रहना चाहिए कि प्रयागका दुर्ग अत्यन्त प्राचीन है । मुगल बादशाहोंने इसका कहीं-कहीं जीर्णोद्धार मात्र किया । सुरङ्गें तो बन्द कर दी गयीं ; किन्तु इतना विस्तृत भूगर्भ स्थित दुर्ग इतना दृढ़ बन सकता है, यह कल्पना अभी कठिनातासे की जाती है ।

मन्दिरोंकी चर्चा एक पृथक् विषय होगी, क्योंकि वह मूर्ति निर्माण कलासे सम्बन्धित है ; किन्तु सारनाथका स्तम्भ, दिल्लीकी कील (यज्ञयूप) ये सब पाश्चात्य विद्वानोंके लिए अभी एक समस्या हैं । सारनाथका स्तम्भ चुनारसे वहाँ तक कैसे गया, दिल्लीकी लौह कीलपर जङ्ग क्यों नहीं लगता और क्यों उसके ऊपरका कुछ भाग काट देनेपर भीतर जङ्ग लगने लगता है, जबकि उसपर न कोई पालिश है और न लौहका स्तर चढ़ाया गया है, यह बातें अभी समझमें नहीं आयी हैं ।

भूगर्भ स्थित भवन बनाना प्राचीन लोगोंके लिए सरल बात थी । नदियोंपर ही नहीं, समुद्र तकपर सेतु-निर्माण भगवान श्रीरामकी सेवाने सम्पन्न किया था । आजके पुरातत्त्ववेत्ता मानते हैं कि मूर्तियों और भवनोंकी

प्राचीनताकी यह पहिचान है कि वे जितने पुराने होंगे, उतने भारी, स्वच्छ कारीगरीके होंगे और उनमें पच्चीकारी, घुमाव उतने अधिक होंगे। इसका कारण वे बतलाते हैं कि मानव मस्तिष्क जितना जटिलतासे सरलताकी ओर आता जा रहा है, उतना ही उसका निर्माण सीधा होता जा रहा है। वे कहते हैं कि यह मनुष्यकी क्रमशः परिमार्जित होती रचना द्योतक है। लेकिन किसी अच्छे आधुनिक भवनको देखनेसे ज्ञात हो जायगा कि अब भी उच्च रचि गोल कमरों, घुमावदार कोणों, त्रिकोण खिड़कियों आदिसे ही व्यक्त होती है। विकासवादी कहते हैं कि विकास सरलतासे जटिलताकी ओर होता है और यह बात ठीक भी है। मनुष्यके मस्तिष्कका ह्रास हुआ है और हो रहा है। जहाँ भी वह तनिक भी विकासकी ओर बढ़ता है, वहीं उसकी रचनामें जटिलता आने लगती है।

गृह-निर्माणके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है कि प्राचीन समयसे भारतीय इस विद्यामें परम पटु थे। इसी प्रकार उद्यानकी बात है। पुष्पोंकी जातियाँ, उनके फूलनेका समय, पक्षियोंका स्वभाव, उनका उपयोग, यह सब भारतीय साहित्यमें इतना विस्तार पूर्वक वर्णित है कि आश्चर्य होता है। हिन्दुओंने ऐसे उपवन बनानेमें कभी कठिनाईका अनुभव नहीं किया, जो प्रत्येक ऋतुमें पुष्पित तथा फलोंसे भरे रहें। एक ही प्रकारके फल तथा पुष्पतरु पूरे वर्षभर फल-पुष्प देते रहें, यह विद्या भी उन्हें ज्ञात थी और उपवनमें क्रीड़ा-पर्वतका महत्त्व तो पाश्चात्योंने अब समझा है और अब भी उसे उस रूपमें नहीं ला सके जो भारतीय साहित्यमें वर्णित है।

प्रकृतिपर अधिकार

आज यह बात सोची जा रही है कि अतिवृष्टि तथा अवर्षणका नियन्त्रण कैसे हो। पुराने समयसे यज्ञोंके द्वारा वर्षा करा लेनेकी परिपाटी चली आती है। यज्ञशक्तिका परिचय अब तक भी पाश्चात्य जगत पर नहीं सका है; यद्यपि यज्ञके कुछ लाभ उन्होंने स्वीकार किये हैं। इस सम्बन्धमें पृथक् विचार करना उपयुक्त होगा, परन्तु यज्ञोंके लिए ही पदार्थ ज्ञानकी जो आवश्यकता है, वह प्राचीन पदार्थ ज्ञानको सूचित करती है।

पदार्थ ज्ञानके लिए उसके स्वभाव तथा स्वरूपका ज्ञान और उसका उपयोग जाननेपर पदार्थपर अधिकार प्राप्त होता है। 'मा असि प्रभा असि, असि' में मा—माप (लट्ठा-फीता) प्रभा—पैमाना और प्रतिभा—नक्शाका

वर्णन है। पदार्थके उपयोगके लिए ये तीनों आवश्यक हैं। विनय कुमार सरकारने लिखा है—‘वैदिक कालमें हिन्दुओंने न (पाई) को ज्ञात थी। उसका मूल्य-३.००४४ निकाला था। अत्युल्लेख्य लम्बकके वर्ण क्षेत्रका निर्णय करना, जबकि उसकी दो समान्तर भुजाओंकी लम्बाई तथा मध्य दूरी ज्ञात हो, हिन्दुओंको मालूम था। ‘सुख’ सूत्रोंमें रेखागणितका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन थीवो साहबने स्वीकार किया है और यही गणित यन्त्र निर्माणमें काम आता है।

प्राचीन साहित्यमें एक वायु यजुर्वेद पृथक् ही है। प्राचीन कालमें हिन्दू जाति यन्त्रोंको वायु शक्तिसे ही चला लेती थी। तेल, कोयला और लकड़ीका व्यय उस समय नहीं था। अब उन ग्रन्थोंके बहुत सूक्ष्मांश समझे जाते हैं। ‘नाड्या वायु संयोगादारोहणम्’ नलीमें वायुके द्वारा आरोहण होता है। नलीसे वायु निकालनेपर जल ऊपर चढ़ता है, इससे अधिक इस सूत्रमें और कुछ है, पर आज वह स्पष्ट नहीं हो पाता। ‘नोदना-पीडितात् संयुक्त संयोगाच्च’ प्रेरण देनेसे, दबावसे तथा दोनोंके संयुक्त संयोगसे भी नलीमें जलादि ऊपर चढ़ाया जा सकता है, यह पिचकारीका सिद्धान्त है।

यन्त्र

वैशेषिक दर्शनके ५।१।१५ सूत्रमें अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के संयोगसे सुईके घूमनेका वर्णन है। यह पुराने ध्रुव दर्शक (कम्पास) का वर्णन है। इस प्रकारके यन्त्रोंके बनानेके सम्बन्धमें एक शिल्प संहिता ही है—

‘पारदाम्बुज सूत्राणि शुक्ल तैल जलानि च ।’

उक्त संहिताके इस श्लोकमें श्वेत पारद, कमल तन्तु, जल, तेलके योगसे ताप मन्त्रपक (थर्मामीटर) तथा ऋतु मापक (वैरोमीटर) यन्त्र बनाने की विधि कही गई है। इसी प्रकार ज्योतिष ग्रन्थोंमें जल घड़ी, धूप घड़ी, वालुका घड़ी आदि बनानेका वर्णन है। शिल्प संहितामें दूर-दर्शक तथा सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र बनानेकी विधियां भी हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिए। सिद्धान्त शिरोमणिमें एक स्वयंवह यन्त्रका वर्णन है। कह नहीं सकते कि वह स्वतः चालित विमान है या बिना इंजिनका विमान अथवा कोई और यन्त्र। अब तक ऐसा कोई यन्त्र बन नहीं सका है। यन्त्रके सम्बन्धमें कहा गया है—

‘तुंग बोज समायुक्तं गोल यन् त्रंप्रसाधयेत् ।

गोप्यमेतत् प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह ॥’

‘पारदयुक्त गोल यन्त्र बनाना चाहिए । यह अत्यन्त गुप्त रखने योग्य यन्त्र स्पष्ट बताया गया । यह सर्वत्र जा सकता है ।’ कहना नहीं होगा कि उस समय तो शेष विधि सबको ज्ञात होनेसे वर्णनकी आवश्यकता नहीं थी, जैसे आज किसीको एक घड़ा ले लो कहनेमें घड़ेकी परिभाषा बताना आवश्यक नहीं। परन्तु जब कोई घड़ा क्या है, यही न जानता हो तो क्या किया जाय । परम्पराके लोपसे ये वाक्य आज अगम्य हो गये हैं ।

यन्त्रोंके सम्बन्धमें पहिले कह आये हैं कि उत्पादनके यन्त्रोंका अभिवर्द्धन प्राचीनकालमें अभीष्ट नहीं था । युद्धके यन्त्रोंमें कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे लेकर वैदिक ग्रन्थों तकमें दिव्यास्त्रोंका वर्णन है । शतघ्नी (तोप) भुगुण्डि (बन्दूक) अग्नि चूर्ण (बारूद) ये सब पाश्चात्य जगतने भी चीनसे बनाने सीखे और चीनने भारतसे । श्री मद्भागवत्में भौमासुरके द्वारा शतघ्नी प्रहारके वर्णनके साथ उसके नगर रक्षक ‘मुर’ द्वारा जो नगर रक्षके प्रबन्धका वर्णन है, वह वर्तमान विज्ञानके प्रकाशमें अब तक समझमें नहीं आता । मुरने नगर रक्षाका प्रबन्ध किया था, वहाँ बताया गया है कि नगरके चारों ओर बाहरसे भीतरकी क्रमशः पर्वत, दुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जल-दुर्ग, अग्निदुर्ग, धायुदुर्ग, मुरपाश और तब खाई थी । पर्वतोंके बीचमें वह नगर बसा होगा और पर्वताकार भित्तियाँ होंगी, यह समझा जा सकता है, इसके अनन्तर स्वयं चालित शस्त्रोंकी पंक्ति होंगी जो शस्त्रदुर्ग कही गई । जलदुर्ग खाई नहीं हो सकता, क्योंकि खाई अन्तमें वर्णित है । उत्तुङ्ग घूमती हुई समुद्रके जल स्तम्भ सी जल भित्ति, फिर प्रज्वलित अग्नि, फिर विषैली वायु और तब मुरपाश, यदि ऐसा मानें तो निरन्तर घूमने वाली जल भित्ति, सर्वदा प्रज्वलित अग्नि और अपनी सीमासे बाहर न फैलने वाली विषैली वायु एक समस्या है । मुरपाश क्या थे—कौन कह सकता है । इसके अनन्तर भी यत्र थे और कदाचित किसीकी पद-ध्वनिसे ही वे आघात करने वाले स्वतः चालित थे, क्योंकि श्रीकृष्णकी शंख ध्वनिसे वे नष्ट हो गये, ऐसा वर्णन है ।

महाभारत या रामायणका युद्ध वर्णन उठा लीजिए, दिव्यास्त्रों द्वारा जल, अग्नि, वायु ही नहीं, पर्वत, सर्प, पक्षी भी उत्पन्न हो जाते थे । राक्षस ऐसी विद्या जानते थे जो भ्रम पूर्ण दृश्य चाहे जब उपस्थित कर

सकते थे। अकस्मात् ही आकाशसे भस्म, रक्त, अस्थिकी वर्षा कर सकते थे। वे ऐसी कृत्रिम पुनर्लियाँ बना सकते थे जो किसी व्यक्तिके ठीक आकारकी हों और उसीके समान बोले और चेष्टा भी करें। रावणने माया सीताका इसी प्रकार निर्माण किया था। असुर अदृश्य भी हो जाते थे।

प्राचीन समयमें विमान थे, यह अब सिद्ध हो चुका है। पुष्पक विमान की कथासे प्रत्येक भारतीय परिचित है। यों तो विमानोंके वर्णन बहुत हैं; परन्तु शिव पुराणके त्रिपुरासुरोंके तीन नगर और भागवतका शल्यका सौभ विमान अद्भुत है। ये विमान पूरे नगर थे। ये आकाश, पृथ्वी जलपर समान रूपसे चल सकते थे। सबसे बड़ी बात यह कि ये पृथ्वीपर कभी-कभी उतरते थे। वैसे ही जैसे वर्तमान वायुयान रहते पृथ्वीपर हैं, पर उड़ते वायुमें हैं; वैसे वे सदा आकाशमें ही रहते थे। इच्छा होनेपर पृथ्वीपर या जलमें उतर सकते थे। आकाशमें एक स्थानपर महीनों स्थिर रह सकते थे और इच्छा होनेपर अदृश्य हो जाते थे। उन्हें कोई देख नहीं पाता था। इनकी गति शब्दसे भी तीव्र थी और इनको चलानेमें कोयला आदि कुछ जलाना नहीं पड़ता था। ये चलते समय शब्द भी नहीं करते थे। इनका विस्तार इतना था कि पूरा कलकत्ता नगर तो कम से कम उनमें अपने पूरे विस्तारके साथ आ ही सकता था। विमानोंके बनानेकी विधि भी शिल्प संहितामें है। विमानोंकी अनेक जातियाँ हैं। विद्वानोंका कहना है कि यदि प्रयत्न किया जाय तो 'सूत विमान' अब भी बन सकता है।

पुरानी बात जाने दीजिए। 'कल्याण'के योगांक्रममें 'सूर्य विज्ञान' सम्बन्धी निबन्धमें बताया गया है कि किस प्रकार स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराजने 'सूर्य विज्ञान' के अनुसार नये-नये पदार्थ बना देते थे। इस प्रकार उन्होंने 'वायु विज्ञान' से भी बहुत-सी चीजें बनायी थीं।

इस विषयको और न बढ़ाकर भी इतना तो बता ही देना ठीक होगा कि इतनी उन्नत जाति क्यों दूसरोंसे पराजित हुई? प्रारब्ध और भगवदिच्छाके अतिरिक्त सबसे बड़ा कारण था यहाँकी सरलता, धार्मिकता। दूसरोंने धूर्तता, कृतघ्नता और विश्वासघातसे ही भारतको पराजित किया और वह भी सफल न होते यदि भारतीय ही अपनोंके विपक्षमें खड़े न होते। हिन्दू सदा अपनोंसे ही पराजित किए गए। उन्हें कभी दूसरी जाति अपने बलपर परास्त करनेमें समर्थ नहीं हुई है।

हिन्दू समाज और पर्व

यह लोकोक्ति है कि 'हिंदुओंमें सात बार नी त्योहार हैं।' बात इससे भी कुछ अधिक ही है। कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो। कोई तिथि ऐसी नहीं, जो पर्व न हो। प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रिके सन्ध्यापर्व तो नित्य ही हैं। प्रत्येक दिन अपने ग्रहका पर्व है और प्रत्येक तिथि अपने देवताका। इनके अतिरिक्त देव, मानव-जयन्तियाँ, विजय-पर्व, संक्रान्तियाँ, नक्षत्र, योगादि अनेकों पर्व हैं। किसी-किसी तिथिमें तो पंद्रह पर्व तक पड़ जाते हैं।

पर्वका अर्थ है गाँठ—सन्धिकाल। हिंदू-पर्व सदा सन्धिकालमें ही पड़ते हैं। सन्ध्यासे लेकर बड़े-बड़े यज्ञ सब सन्धिकालमें होते हैं। इस सन्धिकालके कारण ही इनको पर्व कहते हैं। योगदर्शनाकारने बताया है कि जाग्र एवं सुषुप्तिके मध्यकी स्थितिमें मनका संयम करनेसे समाधिकी प्राप्ति होती है। ध्यानसे निरीक्षण करें तो निद्राकी समाप्ति तथा पूर्ण जागृतिके मध्यमें कुछ क्षण उन्नत-स्थितिके होते हैं। मनको अभी बाह्यबोध नहीं हुआ है और निद्राका अज्ञान भी नहीं है। यह स्थिति दृढ़—स्थायी हो जाय तो अज्ञानरहित और स्थूल शरीरकी आसक्तिसे हीन अन्तर्मुख दशा हो जायगी। अतः साधकके लिए ये क्षण अत्यन्त बहुमूल्य हैं। जैसे निद्रा और जागृतिके सन्धिकालमें मनको अन्तर्मुख होनेका एक निर्वन्ध अवकाश रहता है, वैसे ही प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र तथा दूसरे सन्धिकालोंमें भी स्थूलका बन्धन कुछ-न-कुछ शिथिल होता है। उस अवसरसे लाभ उठाकर अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करना ही पर्वका मुख्य उद्देश्य है।

जिस संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य ही अन्तर्मुख होना है, वह ऐसा एक भी अवसर छोड़ कैसे सकती है, जिसमें उसके प्रयत्नको थोड़ी भी नैसर्गिक सहायता मिलनेकी आशा हो। हमारा स्थूल शरीर, मन सब समष्टिके नियमोंसे प्रभावित हैं। ग्रह-नक्षत्रादिका हमारे बाह्य एवं आन्तरिक जीवनसे सुदृढ़ सम्बन्ध है। आकाशमें सूर्यपर सूक्ष्म धब्बे दीखनेपर रेडियोमें कितनी गड़बड़ी होती है, यह विज्ञानके साधारण विद्यार्थी भी जानते हैं। यह स्वाभाविक है कि जब दो शक्तियोंके विनिमयका सन्धिकाल होता है,

तब मध्यमें दोनोंके प्रभाव कुछ शिथिल हो जाते हैं। जैसे एक शासनके अन्त और दूसरेके प्रारम्भकी स्थितिमें होता है। ऐसे समय मनपर बाह्य बन्धन शिथिल रहते हैं। मनका निजी स्वरूप तो सात्त्विक है ही। विकार तो उसमें बाह्य प्रभावसे आते हैं। अतः जब भी बाह्य प्रभाव कुछ शिथिल हो मनको अन्तर्मुख करनेका प्रयत्न अधिक सफल होनेकी आशा रहती है। उस प्रयत्नका मनपर सामान्य प्रयत्नसे अधिक प्रभाव पड़ेगा, यह तो निश्चित ही है; क्योंकि प्रयत्न और मनके बीचके प्रभाव कुछ-न-कुछ ढीले हुए हैं। ऐसा कोई सुयोग छूट न जाय जो हमारे मुख्य उद्देश्यमें सहायक हो सकता हो। इसी दृष्टिसे प्रत्येक सन्धिकाल को पर्व माना गया है।

पर्व-कृत्य हैं स्नान, पूजन, जप, दान, हवन, ध्यानादि। इनमें से प्रत्येक मनुष्यकी बाह्यवृत्तिको अन्तर्मुख करनेके लिए समर्थ है और उसकी प्रेरणा देता है, यह सब मानते हैं। पर्वोंपर पूजा-विधान, दानकी भिन्नता तथा कौन-सा पर्व किस प्रकारके देवता और किस प्रकारकी आराधनाका है, यह तो शास्त्रोंमें देखने की बात है। यह पूजादि भेद सूक्ष्म विज्ञान है। कौन-सा पर्व, कौन-सा सन्धिकाल किस प्रकारका है, उस समय कौन-सी अधिदेव-शक्ति प्रधान रहती है, हमारा प्रयत्न किस प्रकार हो तो उसमें अधिक सफलताकी आशा है, यह सब ज्ञान ही पूजा, देवता, कर्म-भेदका कारण है।

प्रत्येक सन्धिकाल जहाँ मनकी अन्तर्मुखता-दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, वहीं शरीरकी दृष्टिसे सावधानी रखने योग्य भी। निद्रासे सहसा किसीको जगा देनेपर हानि होती है। ऋतुओंके सन्धिकालमें अनेक रोग होते हैं। उस समय संयमकी अधिक आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक सन्धिकाल एक प्रभावकी समाप्ति तथा दूसरेके प्रारम्भकी स्थिति है। ऐसे समय विशेष संयम न करनेसे हानिकी सम्भावना रहती है। विशेष ओषधि एवं आहार ऐसे समयोंमें लाभप्रद होते हैं। चिकित्साशास्त्र ऋतुओंकी सन्धियोंके समयके संयम, त्याग्य आहार एवं कर्म तथा लाभप्रद आहार एवं कर्मोंका विशद वर्णन करते हैं। इसी प्रकार पर्व भी सन्धिकाल हैं। उनमें भी दो प्रभावोंका संक्रमण-काल है। अतएव उनके लिए उस संक्रमण-कालके प्रभावकी दृष्टिसे कुछ कृत्योंका तथा पदार्थोंके सेवनका विधान तथा कुछ कृत्यों एवं पदार्थोंके सेवनका निषेध है। उनके विधानको पालन करनेमें लाभ तथा लालसङ्घन करनेसे हानि होती है, भले हम उस सूक्ष्म लाभ या हानिको

अनुभव न कर सकें। हम यदि किसी कारखानेके कोयले जलनेसे दूषित वायुका प्रभाव अपने ऊपर अनुभव नहीं कर पाते तो इसका अर्थ यह नहीं कि वायुमें प्रभाव नहीं या हमपर वह पड़ता नहीं है। सूक्ष्म प्रभाव सदा अज्ञातरूपसे ही अपना कार्य करते हैं।

मेरे एक मित्र सुना रहे थे कि उनके पड़ोसकी एक मुस्लिम माता अपने लड़केको पानीसे खेलते देखती तो रुंठ होकर कहती—‘तुम्हें ब्राम्हणके घर पैदा होना था। वहाँ नहाते-नहाते सड़ जाता।’ मनुष्यका जीवित शरीर सड़ता तो जलमें अविराम रहनेसे है, प्रक्षालनसे वह निर्मल होता है, यह बात मनुष्यको अब समझनी नहीं है; परन्तु इस तथ्यका जितना उपयोग हिंदू-जातिने किया है, वह अद्भुत है। हमारे शास्त्र जलको तीर्थ—पवित्र करनेवाला कहते हैं। त्रिकाल-स्नान, सन्ध्या, पूजादि सब कार्य जलसे ही सम्पन्न होते हैं। अतिथि-सत्कारमें कुछ न हो तो जल पर्याप्त है और देव-पूजामें भी। देव-पूजाके षोडशोपचारमें अधिक तो जलके ही उपचार हैं। पर्व तो जलाशयके द्वारा ही सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं। -

हिंदू-समाज अपने आवास जलाशयके समीप ही बनाता था। हमारे नित्य-कृत्य एवं पर्व आदि सबमें जलकी आवश्यकता है और स्नानादिके लिए विस्तीर्ण जलाशयको महत्त्व दिया गया है। यह सब जानते हैं कि पृथ्वीके समस्त स्थूल पदार्थोंकी अपेक्षा जल प्रभावका क्रमशः ग्रहण करता है। शीत या उष्णताका प्रभाव जितनी शीघ्रतासे पार्थिव पदार्थोंपर पड़ता है, उतनी शीघ्रतासे जलपर नहीं पड़ता। समुद्रतटके देशोंसे समुद्रके कारणही कठोर गरमी या सर्दी नहीं पड़ती। जैसे जल शीत या उष्णताके प्रभावको धीरे-धीरे ग्रहण करता है, वैसे ही नक्षत्रादिकोंके प्रभावको भी। इसलिए जलके द्वारा हम पर्वकालमें दो लाभ उठाते हैं। एक तो जलके कारण नक्षत्रोंके बदलते प्रभाव धीरे-धीरे पड़ते हैं, अतः सन्धिकालमें अन्तर्मुखताका अवकाश अधिक मिलता है और दूसरे प्रभाव धीरे-धीरे बदलनेसे शरीरमें विकृतिकी सम्भावना कम रहती है। जिन ग्रहणादि पर्वोंमें शरीरपर अधिक प्रभाव पड़ता है, उनमें पूरे पर्वकाल तक या विशेष-विशेष क्षणोंमें जलमें कटि या कण्ठ तक खड़े रहने अथवा डुबकी लगानेका निर्देश है।

कोई प्रभाव वह शारीरिक हो या मानसिक, सर्वत्र वह एक-सा कार्य नहीं कर पाता। जहाँ वह पड़ता है, उस स्थान, पदार्थ, समयके

प्रभावसे उसका रूप बदलता है। विकित्साशास्त्र भी ऋतु-सन्धिमें पृथक्-पृथक् देशों तथा व्यक्तियोंकी प्रकृति, शरीर-बल आदिका विचार करके ही संयम, ओषधि तथा आचारका विधान करता है। इसी प्रकार प्रत्येक पर्वके समय भी उसके अधिकारीका विचार होता है। कुछ पर्व किसी विशेष वर्गके लिए हैं। कुछ पर्वोंमें किसी वर्गके लिए एक आचारका विधान है और दूसरोंके लिए दूसरे आचारका। किसी पर्वके कुछ आचार एवं संयम विशेष वर्ग या विशेष अवस्थाके व्यक्तिके लिए अनिवार्य नहीं हैं। यह सब विधान अपने भीतर अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान रखता है। केवल कुतर्कसे प्रभावित होकर उसकी उपेक्षा करना हानिकारक है।

पर्वोंके भेद

कर्मकी भाँति ही पर्वोंके भी तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। कुछ पर्व ऐसे हैं, जिनका समय निश्चित है। सन्ध्यादिसे लेकर दीपावली, होली, एकादशी, चतुर्थी आदि ऐसे ही पर्व हैं। इन पर्वोंको नित्य-पर्व कहा जाता है। कुछ पर्व हैं जो किसी निमित्तसे आते हैं, जैसे ग्रहण, कुम्भ, पुत्र-जन्मोत्सव। ग्रह-नक्षत्रादिके योगविशेषसे या किसी प्रधान घटनासे पड़ने वाले ये पर्व नैमित्तिक हैं। ग्रह-शान्ति या कामना-विशेषसे कुछ व्रत, पूजन, उत्सव किए जाते हैं, जैसे श्रीमद्भागवतमें फाल्गुन शुक्लपक्षमें पुत्र-कामना वालेके लिए पयोव्रतका वर्णन है। ऐसे व्रत, पर्व कामना होनेपर ही किये जाते हैं, अतः काम्य कहलाते हैं।

पर्वोंके ऊपरके भेदोंके अतिरिक्त उनका दूसरे प्रकारसे भी भेद किया जाता है। कुछ पर्व, तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रहयोगके कारण मनाये जाते हैं, ये दिव्य पर्व हैं, कुछ पर्व विशेष देवनाओंके हैं और कुछ पितरोंके। गणेश-चतुर्थी, एकादशी आदि देव-पूजनके पर्व देव पर्व हैं और पितरोंके तर्पण, श्राद्धके समय पितृपर्व। कुछ कालपर्व हैं, जैसे सृष्टिकी प्रारम्भ-तिथि, युगके प्रारम्भकी तिथि, वर्षके प्रारम्भकी तिथि। कुछ जयन्ती-पर्व हैं। भारतमें मरण-दिवस नहीं मनाया जाता है और सामान्य पुरुषको चाहे उसका व्यक्तित्व कितना भी महान् हो, महत्त्व नहीं दिया जाता है। जयन्ती पर्व केवल भगवान्‌के अवतरों या उन महापुरुषोंके ही मनाये जाते हैं, जिन्होंने स्वयं भगवत्प्राप्ति करके समाजको इस ओर विशेष प्रवृत्ति दी।

इन देवत पर्वोंके पश्चात् प्राणिपर्व होते हैं, जैसे नागपञ्चमी, गोपाष्टमी। समाजके विजयपर्व, उत्थानपर्व और उपार्जनपर्व हैं। विजया-दशमी, किसी कार्यके प्रारम्भका महोत्सव तथा नवान्नेष्टि यज्ञ इन पर्वोंके क्रमशः उदाहरण हैं। व्यक्तिके अपने पर्व भी होते हैं, जैसे पुत्र-जन्मोत्सव, विवाहादि। पर्व चाहे जिस प्रकारके हों, उनमें दान, पूजन—ये दो बातें अवश्य रहती ही हैं और वे समय या अवस्थाओंके सन्धिकालमें ही मनाये जाते हैं।

पर्वोंका एक श्रेणी-विभाग उनमें होनेवाले कार्योंके अनुसार भी किया जाता है, कुछ पर्व उपासनापर्व होते हैं, कुछ व्रतप्रधान, कुछ यज्ञप्रधान और कुछ स्नानप्रधान। कुछ अनुष्ठानपर्व हैं और कुछ महोत्सवप्रधान। पिण्डदान या जप भी कुछ पर्वोंके प्रधान कृत्य हैं। इस प्रकारका विभाग बहुत व्यवस्थित रीतिसे करना सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पर्वमें एक कर्म प्रधान होकर भी दूसरे कर्म किये जाते हैं और अनेक पर्वोंमें कई कर्म प्रधान होते हैं। जैसे एकादशी रात्रि-जागरण एवं उपवास-प्रधान पर्व है; किन्तु जप, दान, पूजन, कीर्तन—ये सब इसमें प्रधान ही हैं। विशेषतः सङ्कीर्तन एवं भगवत्पूजन तो एकादशीके मुख्य कृत्योंमें हैं।

इसी प्रकार पर्वोंमें जातीय पर्व भी लोग मानते हैं; परन्तु ऐसे पर्व हैं, जिसे केवल एक जातिके लोग ही मनाते हों। अनन्तचतुर्दशी ब्राह्मण-जातिका, विजयादशमी क्षत्रियोंका, दीपावली वैश्योंका और होजिका शूद्रोंका पर्व कहा जाता है; किन्तु इनको यही जातियाँ मनाती थीं, ऐसा कभी नहीं हुआ। इन पर्वोंमें उन जातियोंका, जिनके ये पर्व कहे गये हैं, समाजमें विशेष सम्मान होना चाहिए, बस इस प्रमुखतासे ही ये जातियोंके पर्व कहे गये। पूरा हिंदू-समाज अनादिकालसे अपनेको एक शरीर मानता आया है। उसमें पार्थक्यकी भावना पृथक्-पृथक् पर्व, पृथक्-पृथक् आदर्श जैसी कोई वस्तु नहीं है। शरीरके अङ्गोंके समान अपने अधिकारके अनुसार सबके कार्य विभिन्न हैं, पर समष्टिरूपसे सब एक हैं। सबका लक्ष्य एवं आचारका आदर्श एक है। अतः सबके पर्व भी एक ही हैं।

दिव्यपर्व

संक्रान्ति, कुम्भ, वारुणी, अर्धोदय, ग्रहणादि दिव्य पर्व हैं। ये विशेष-विशेष ग्रह-नक्षत्रोंके योगके समय होते हैं। सूर्यकी संक्रान्तियाँ तो महीने

बनाती हैं। दो महीनेकी एक ऋतु और ऋतुओंके संक्रमणकालका प्रभाव तो चिकित्साशास्त्र बतलाता ही है। एक ऋतुकी दोनों महीनोंमें भी समानता नहीं रहती। सूर्य एक राशिसे दूसरी राशिपर जाते हैं तो ऋतुमें अन्तर आता ही है। शारीरिक दृष्टिसे इस अवसरके महत्त्वको समझना कठिन नहीं है। सूर्य हमारे शरीरमें नेत्रके देवता हैं। शरीरमें जो उष्णता है वह सूर्यसे ही आती है। बुद्धि भी सूर्यसे ही प्रेरणा प्राप्त करती है। इस प्रकार सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिमें जाना नेत्र, बुद्धि तथा विश्वकी समस्त ऊष्माको प्रभावित करता है।

जिस प्रकार सूर्यका सम्बन्ध हमारे शरीरसे है, वैसा ही चन्द्रमाका भी है। चन्द्रमा मनके देवता हैं, रसनेन्द्रिय और जलपर उनका प्रभाव है। चन्द्रमाकी क्षय एवं वृद्धिका समुद्रपर जो प्रभाव पड़ता है, उसीसे ज्वार-भाटा आता है। पदार्थोंमें तथा शरीरमें स्थित जलांशको तथा बाहरके जलको भी चन्द्रमा प्रभावित करते हैं। यद्यपि पार्श्वगत्य ज्योतिर्विज्ञान अभी इतना उन्नत नहीं हुआ कि वह सूर्य तथा चन्द्रके अतिरिक्त जो ग्रह तथा नक्षत्र हैं, उनके पृथ्वीपर पड़नेवाले प्रभावोंको ठीक-ठीक जान सके, फिर भी ग्रहोंका प्रभाव पड़ता है, वह वहाँके ज्योतिर्विद् भी मानते हैं। वे अपने दृष्टिसे विभिन्न ग्रहोंके प्रभावोंका वर्णन भी करते हैं। ये प्रभाव पृथ्वीके सभी भागोंपर एक-से नहीं पड़ते। जब पृथ्वीका जो भाग जिस ग्रहकी सीधी सन्निधिमें होता है, उसी भागपर उस समय दूसरे भागोंसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

कुम्भपर्व सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पतिके विशेष संयोगपर आता है। यह पर्व प्रत्येक तीन वर्षके लगभग अन्तरसे पड़ता है और क्रमशः प्रयाग, हरद्वार, उज्जैन एवं नासिकमें मनाया जाता है। एक स्थानपर बारह वर्षमें पुनः पड़ता है। इस कालके मध्यमें अर्धकुम्भपर्व और पड़ता है। इसी प्रकार वारुणीपर्व भी वरुण तथा दूसरे ग्रह-नक्षत्रोंके योगसे होता है। प्रत्येक पर्वके लिए मुख्य स्थान शास्त्रोंमें वर्णित है। कुछ ऐसे पर्व हैं जो उन स्थानोंमें ही प्रभाव प्रकट करते हैं और कुछ अपने स्थानोंमें अधिक तथा अन्यत्र कम प्रभाव रखते हैं। कुम्भपर्व तो निश्चित स्थानोंमें ही होता है; परन्तु ग्रहणके लिए काशी, प्रयाग—ये मुख्य स्थान होकर भी जो वहाँ नहीं पहुँच सकते, उनके लिए अपने स्थानपर या उसके पासके तीर्थमें ग्रहणकृत्यका विधान है; क्योंकि ग्रहणका प्रभाव सर्वत्र पड़ता है।

कुम्भपर्वके सम्बन्धमें जो पौराणिक आख्यान है, वह कल्पना है और पर्व नक्षत्रयोगके लाभकी दृष्टिसे है, ऐसी बात नहीं है। वह आख्यान ज्यों-का-त्यों अक्षरशः सत्य है और ऐसे ही आख्यान दूसरे पर्वोंके सम्बन्धमें भी हैं। दिव्य जगत् ही स्थूल जगत्का कारण है। अतः दिव्य जगत्की क्रियाएँ ही स्थूल जगत्की प्रथाएँ बनती हैं। स्थूल जगत् जब दिव्य जगत्का ही व्यक्त रूप है, तब उसमें ऐसी कोई बात हो नहीं सकती जो दिव्य जगत्में न हो। इसी प्रकार ये सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, वरुण, सर्पि, नक्षत्रादि केवल स्थूल पिण्ड नहीं हैं। वे उन देवताओंके लोक हैं जिनके नामसे उन्हें पुकारा जाता है। पृथ्वीके विशेष-विशेष पदार्थों तथा हमारे मानसिक भावोंसे उनका सम्बन्ध है। वे उन्हें प्रभावित, सञ्चालित, पोषित करते हैं। जैसे वरुणनक्षत्रका जल-तत्त्वपर प्रभाव है। अतएव इन ग्रह-नक्षत्रोंके संक्रमण, योग आदिके प्रभाव पृथ्वीपर पड़ते हैं और वह प्रभाव स्थूल जगत् तथा मनपर भी व्यक्त होता है। दैवत पर्व इस प्रभावके उपयोगी अंशका सम्यक लाभ उठाने तथा हानिसे बचनेका विधान करते हैं।

ग्रहण

दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको लेकर पाश्चात्य जगत्ने एक विवाद उपस्थित कर दिया है। पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है, यह पाश्चात्य सिद्धान्त है। यद्यपि पृथ्वीकी गति और आकृतिके सम्बन्धमें पाश्चात्य ज्योतिर्विदोंमें मतैक्य नहीं है और सापेक्षवादने उसमें एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है; परन्तु जनसाधारण अभी इसी पुरानी भ्रमपूर्ण धारणामें विश्वास करते हैं। इस धारणाके अनुसार ग्रहण पृथ्वी तथा चन्द्रमाकी छायाके कारण होते हैं। इस मतमें भी सूर्यग्रहणमें सूर्यका तथा चन्द्रग्रहणमें चन्द्रमाका पूरा प्रभाव संसारपर नहीं पड़ता और चन्द्रग्रहणके समय ज्वार-भाटोंका क्रम वैसा ही नहीं रहता, जैसा दूसरी पूर्णिमाको रहता है। इसी प्रकार सूर्य-ग्रहणका प्रभाव रेडियोपर पड़ता है। प्राचीन समयसे शास्त्र कहते हैं कि विद्युत्केन्द्र सूर्य है। 'विद्युत्सूर्ये समाहिता' तैत्तिरीय आरण्यकका यह विज्ञान रेडियो द्वारा अब जाना जा सका है। इस प्रकार ग्रहणका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता है, यह पाश्चात्य धारणासे भी समर्थित है, अतः ग्रहणके आचारके सम्बन्धमें मतभेदका कोई कारण नहीं है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र पृथ्वीको स्थिर मानते हैं। ग्रहणका कारण चन्द्रमाकी छायाके साथ चलनेवाला एक ग्रह है, जिसे राहु कहा जाता है।

यह ग्रह छायापुत्र कहा गया है। चन्द्रमाकी छायाके साथ रहने तथा अन्धकारपूर्ण होनेसे वर्तमान विज्ञान अपने यन्त्रोंसे इसे देखनेमें अभी सफल नहीं हुआ है।

सूर्यग्रहणके समय समस्त पदार्थोंके तथा शरीरमें स्थित उष्णता, विद्युतमें विकृति आती है। नेत्र तथा बुद्धिपर ग्रहणका प्रभाव पड़ता है। उस समय भोजनादिसे अनेक रोग हो सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रग्रहणके समय पदार्थोंके जलीय तत्त्व विकृत रहते हैं। उस समय आहार तथा असंयमसे कफ विकृत होकर रोगका कारण बन सकता है। मनपर चन्द्रग्रहणका प्रभाव पड़ता है; क्योंकि मनके देवता चन्द्रमा हैं। इसलिए ग्रहणके पूर्वसे, जबसे उसका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ने लगता है, आहारादि अनेक कार्य वर्जित हैं। उस समय जो घड़ेमें भरा जल या भोजन रक्खा हो, वह भी फिर उपयोग करने योग्य नहीं होता। मन तथा बुद्धिपर पड़े प्रभावसे लाभ उठानेके लिए जप-ध्यानादि विधान है। ग्रहणके समय किये गये जप, यज्ञ, दान प्रभृतिका सामान्यकालकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व वर्णित है।

देखा गया है कि गर्भिणी स्त्री यदि ग्रहणकी ओर देखती है तो गर्भास्थ शिशुके अङ्ग विकृत हो जाते हैं। यह प्रभाव सगर्भा पशु-जातियोंपर भी पड़ता है। गोबरमें ग्रहणके दुष्प्रभावको निवारित करनेकी शक्ति है। इसलिए ग्रहणकालमें गृह, वस्तु तथा जिन प्राणियोंको गर्भ हो, उन्हें गोबरसे वेष्टित कर देते हैं। सूर्यग्रहणमें नेत्रोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और कुछ परीक्षणोंसे सिद्ध हुआ है कि उस समय भोजन करनेसे हुआ अग्निमान्द्य रोग कठिनतासे जाता है और उस समय स्त्री-सहवाससे दोनोंकी नेत्र ज्योति क्षीण हो जाती है। अनेक बार अन्ये होनेका भी भय हो जाता है। दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको शास्त्रोंने भी बहुत महत्त्व दिया है। ग्रहणका प्रभाव तर्क एवं परीक्षणसे सिद्ध है। ग्रहणकालमें उच्छृङ्खल-आचारसे मानसिक अव्यवस्था, बुद्धि-विकार तो होता ही है, शारीरिक स्वास्थ्यकी भी बड़ी हानि होती है। अतः इस सम्बन्धमें सबको सावधान रहना चाहिए।

पुरुषोत्तम-मास

वर्षके नरहती पश्चात् एक चन्द्रमास बढ़ जाता है। यह पूरा महीना ही पर्व होना है। पूरे महीने संयम एवं उपासनाका महत्त्व सामान्यसे अधिक

है। जब चान्द्रमासके लगातार दो पक्षोंमें सूर्यकी संक्रान्ति नहीं पड़ती, तब वह एक मास अधिक हो जाता है। चन्द्रमाकी एक पूरी परिक्रमामें सूर्यका एकराशिसे दूसरीराशिका संक्रमण न हो तो पृथ्वीपर चन्द्रतत्वका बल बढ़ेगा। जल, मन, कफमें वृद्धिजन्य विकृति होगी। इसीसे यह महीना संयमका तथा पुण्यकालका है।

पुरुषोत्तममासमें काशीकी पञ्चकोशी परिक्रमा होती है। भगवान् शङ्करके मस्तकपर विराजनेवाले चन्द्रदेवका प्रभाव विश्वनाथपुरीपर अधिक पड़ता है, यह तो सहज स्वाभाविक है। चन्द्रग्रहणका भी स्नानादि-महत्त्व काशीमें ही अधिक है।

देव-पर्व

दिव्यपर्वोंके पश्चात् देवपर्वोंका स्थान है। हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात्रि होता है। दक्षिणायनके महीने देवताओंका रात्रिकाल है और उत्तरायण दिनका समय। इसलिए महत्त्वपूर्ण मङ्गल कार्य उत्तरायणमें होते हैं। इसी प्रकार एक महीनेके दोनों पक्षोंमें से शुक्लपक्ष देवताओंका कार्यकाल है और कृष्णपक्ष विश्रान्तिकाल। अधिकांश पर्व शुक्लपक्षमें पड़ते हैं।

कुछ तिथियाँ देवपर्व हैं और दिन तो अपने-अपने ग्रहोंके हैं ही। जिस दिन पृथ्वीपर जिस ग्रहका प्रभाव अधिक रहता है, वह दिन उस ग्रहके नामसे पुकारा जाता है। उस दिन उस ग्रहका व्रत, पूजन करनेसे उसकी शान्ति तथा अनुकूलता प्राप्त होती है। इसी प्रकारकी बात नक्षत्रोंके सम्बन्धमें भी है। गणेशचतुर्थी, एकादशी, प्रदोष आदि तिथियोंके देवताओंके विशेष पर्व हैं। हमारे जीवनमें किसी समय कोई विशेष घटना हुई हो तो उस समय हमें उस घटना और उस स्थलका स्वतः स्मरण होता है। इसी प्रकार जिस देवताके द्वारा किसी समय कोई महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, उस समय उसका ध्यान उस ओर जाता है। उस समय उसकी आराधनासे उसका सन्तोष शीघ्र प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त किस कालमें कौन-सी देवशक्ति भूलोकके अधिक सम्पर्कमें रहती है, यह ज्ञान देवशक्तियोंके विशद ज्ञानके बिना शक्य नहीं। भगवान् विष्णुका पर्व एकादशी है, भगवान् शङ्करका प्रदोष। इस प्रकार देवताओंके विभिन्न पर्व हैं। भगवान् शङ्कर या भगवान्

विष्णुकी महामहिमाके अनुरूप ही उनके पर्व दूसरे पर्वोंसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर्वोंका आचार, विधान, संयम, पूजादि उस देवशक्तिके अनुरूप होती है, जिसका वह पर्व है।

दिव्य पर्वोंकी भाँति देवपर्व भी सन्धिकालकी अपेक्षासे ही मनाये जाते हैं। जिस दिन पूरे दिन-रात्रि एकादशी रहती हो, उस दिन एकादशीका व्रत नहीं होता ! व्रत तो तभी होगा जब एकादशीमें दूसरी तिथिकी भी सन्धि हो। इसी प्रकार गणेश चतुर्थीका पूजन चन्द्रोदयके सन्धिकालमें विहित है। दूसरे भी पर्वोंकी यही देशा है।

पितृपर्व

आश्विन मासका कृष्ण पक्ष पूरा पितृपर्व है। यह मास पितरोंके दिनसे उनका मध्याह्नके समयका भोजनकाल है। इस समय उन्हें पिण्डका स्मरण होता है। इसके अतिरिक्त जिस दिन उनका शरीर छूटा हो, उस दिन भी उनको धराका स्मरण होता है। ऐसे समय पितृश्राद्धके हैं। इनके अतिरिक्त संक्रान्तिके अवसरपर तथा विशेष तीर्थोंमें जानेपर पितृश्राद्धका विधान है। संक्रान्ति-जैसे पर्वोंपर पितृलोकका धरासे सम्पर्क अबाध हो जाता है। राशि द्वारोंसे सूर्य हटकर दूसरे द्वारपर उस समय जाते होते हैं। इस कालमें पितृलोकका सूर्य एवं धरासे सम्पर्क रहता है। ऐसे ही विशेष-विशेष तीर्थोंका पितृलोकसे दूसरे स्थानोंकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। जैसे हमारे शरीरमें कुछ स्थानोंको मर्मस्थान कहा जाता है और वे मस्तिष्कके सीधे सम्पर्कमें होनेसे उन स्थानोंपर लगा आघात बहुत कष्टकर प्रतीत होता है, इसी प्रकार उन तीर्थों तथा समयोंमें दिये गये पिण्डसे पितरोंकी तृप्ति सहज होती है ; क्योंकि प्रभाव-ग्रहणके लिए वे सम्पर्कमें होते हैं।

काल-पर्व

जिस दिन सृष्टि हुई थी वह तिथि पर्व है। इसी प्रकार युगकी प्रारम्भिक तिथि पर्व है। वर्षकी प्रथम तिथि तो सभी देशों और जातियोंमें पर्व मानी जाती है। हिंदू-समाज अज्ञातक पर्व नहीं मानता। सृष्टिकी प्रथम तिथि तो सृष्टि एवं प्रलयकी भाँति अयनसम्पात्से सम्बन्ध रखती ही है, युगतिथि भी संक्रमण सन्धिकी तिथि है। हमारा प्राचीन संवत् वसन्तसम्पात्-

से प्रारम्भ होता था । सौरवर्ष संक्रान्तिसे और नाक्षत्रवर्ष भी नक्षत्रसंक्रान्तिसे ही प्रारम्भ होता है । चान्द्रवर्षका प्रारम्भ भी चन्द्रमाकी राशिसंक्रान्तिसे मानते हैं । वह चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे प्रारम्भ होता है । यही विक्रमीय संवत्सरकी आरम्भ तिथि है । किसी व्यक्तिके जन्म या विजयादिसे संवत् चलना भारतीय परम्परामें होता तो राम-नवमी और जन्माष्टमी तथा विजयादशमीसे महत्त्वपूर्ण जन्म एवं विजय-दिवस भारतमें दूसरे नहीं माने जाते, किंतु इनसे संवत्का प्रारम्भ नहीं होता ।

विक्रम संवत्का यह नाम क्यों पड़ा, यह ऐतिहासिकोंके सम्मुख एक विवादका प्रश्न है ; क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथमकी ही उपाधि विक्रमादित्य है । उनसे पूर्व विक्रम नामक सम्राट्की शोध इतिहास नहीं देता । उससे पूर्व तो मालवामें गणराज्य था, उस समय जब कि यह संवत् प्रचलित हुआ । 'मालव गणराज्यकी शकोंकी विजयरूप विक्रम प्रकाशके कारण संवत् प्रचलित हुआ और इससे यह विक्रम संवत् पूरी जातिके विक्रमका द्योतक है । पीछे चन्द्रगुप्त प्रथमने जब विक्रमादित्यकी उपाधि धारणकी, तब संवत्का नाम उनसे सम्बन्धित हो गया ।' यह आजकलके ऐतिहासिक अन्वेषकोंकी मान्यता है । इस मान्यतामें दोष यह है कि भारतमें इससे पूर्व कोई संवत् जाति या व्यक्तिके आधारपर चला हो, ऐसा उदाहरण नहीं है । शालिवाहनने विदेशियोंका अनुकरण करके अपना संवत् चलाया, पर उसे भारतमें आदर नहीं मिला । शक संवत्की भाँति विक्रम संवत् भी नाम या पराक्रमपर चला, इसकी अपेक्षा यह अधिक संगत एवं भारतीय परम्पराके अनुकूल तर्क है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको जो अनेक ग्रहयोग मिलते हैं, उनके अनुसार मालव गणराज्यके ज्योतिर्विदोंने इसे विक्रम-योग माना हो और उस योगमें युद्धयात्रा करके विजय पारसे उन्होंने इसे स्थायी संवत्का रूप दे दिया हो । जो भी हो, विक्रम-संवत्का प्रारम्भ भी अनेक ग्रहयोग एवं सन्धिकालसे ही होता है ।

जो लोग आपेक्ष कहते हैं कि भारतने यूनानियोंसे ज्योतिष सीखा, उनको सोचना चाहिए कि जिस जातिकी कालगणना सन्धिकालसे प्रारम्भ होती है, जिसके सब यज्ञ, महोत्सव, पर्व सन्धिकालमें होते हैं, यदि वह ग्रह-नक्षत्रोंकी सूक्ष्म गतिका ज्ञान नहीं रखती थी तो सन्धिकालका निर्णय कैसे होता था । बिना ठीक-ठीक सन्धिकालका ज्ञान हुए क्या उनमें पर्व एवं यज्ञादिका विधान किसी समाजमें बनना सम्भव है ? कालसम्बन्धी पर्व भी

संक्रमण कालके दिव्य पर्वोंकी भाँति हैं, अतः उनके प्रभावादिके सम्बन्धमें पृथक् कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

जयन्तियाँ और उत्कर्ष-दिवस

अभी कह आये हैं कि विक्रम संवत् किसी सम्राट् या गणराज्यका विक्रम प्रतीक हो, यह इसलिए अशक्य प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तियोंके नश्वर रूपकी तथा देश या जातिके भौतिक उत्कर्षकी कोई महत्ता नहीं है। जयन्तियाँ मनायी जाती हैं भगवान्‌के अवतारोंकी या उन महापुरुषोंकी जिनका स्मरण हममें भगवान्‌की स्मृति जाग्रत् करता है। भगवत्सन्निध्य-प्राप्त महापुरुषोंको तथा भगवान्‌के अवतारोंको छोड़कर दूसरे किसीकी जयन्ती मनाना शरीरको मुख्यता देना है, यश या भोगवृत्तिको प्रोत्साहित करना है।

भारतने रघु, दिलीप और भगवती गङ्गाको लानेवाले महाराज भगीरथकी जयन्ती नहीं मनायी। हम सत्ययुगसे चली आती नृसिंह—वामन जयन्तियाँ मना रहे हैं, अतः दीर्घकालके कारण विस्मरणका तो प्रश्न ही नहीं है। वाल्मीकि, कालिदास, वररुचि, वाराहमिहिरके ज्ञान हमारे पास सुरक्षित हैं। उनके यज्ञ एवं ज्ञान रूपका हमने आदर किया है; परन्तु उनके नश्वर रूपका हमारी संस्कृतिमें महत्त्व नहीं। उनके स्मारक और जयन्तियाँ हम नहीं मनाते।

इसी प्रकार हम महान् सम्राटोंके अश्वमेध दिवस भूल गये। विजयादशमी तो भगवती महिषमर्दिनी एवं भगवान् श्रीरामका पावन स्मरण है। उत्कर्ष तो भगवान्‌का स्मरण करने योग्य है। ऐसा उत्कर्ष, ऐसी जयन्ती जो हमें अन्तर्मुख करे। मनुष्य या जातिका उत्कर्ष, स्मरण मनुष्य या जातिको उसी भौतिक उत्कर्षकी प्रेरणा देगा, भोग एवं यश-वृत्ति बढ़ावेगा, बहिर्मुख करेगा।

असुरोंने भोग एवं शरीरको महत्ता दी। यश-इच्छा भी शरीरको लेकर ही है और देहात्मवादके असुरप्रवर्तक विरोचनने यशके लिए शरीरका त्याग कर दिया। बेबोलीनियाके पुराने राजाओंका जो विवरण प्राप्त हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि वे अपने नामके साथ असुर उपाधि लगाते थे। पाश्चात्य सभ्यता इसी बेबोलीनियाकी प्राचीन संस्कृतिका विकास है, यह

पाश्चात्य पुरातत्त्व एवं इतिहासके विद्वान् स्वीकार करते हैं, अतः पाश्चात्य सभ्यतामें यश एवं भोगके उत्कर्ष ही प्रधान हों और उनके स्मरण रखे जायँ, यह स्वाभाविक है। महान् विजेताओं, विजयों या विद्वानोंके स्मरण, स्मारक वहाँकी वृत्तिके अनुरूप हैं।

जातीय पर्व, जातीय उत्कर्ष, दिवस, कालिदास, वररुचि या प्रताप और गाँधी-जयन्ती, स्वतन्त्रता दिवस अथवा ऐसा ही कोई और दिवस, देशभक्तोंकी तिथियाँ, स्मारक—ये सब उत्सव भारतमें पाश्चात्य प्रभावसे आये हैं और वह भी अंग्रेजोंके प्रभावसे। जिनके यहाँ मृत्यु एक महान् घटना है, जो देहको सुरक्षित रखते हैं, वे तो मरण-दिवस मनावें यह ठीक है, परन्तु हमने भी उनकी देखा-देखी मरण-दिवस मनाना प्रारम्भ कर दिया, जबकि हमारे यहाँ मृत्यु कोई महान् घटना नहीं। वह भी नव-जीवनकी भूमिकामात्र है। इस प्रकारके अन्धानुकरणमें समाज आज नहीं देखता है कि इन नूतन पर्वोंसे जो प्रभाव उत्पन्न होता है, जिन प्रभावोंके लिए ही इनको प्रचलित किया जा रहा है, वे हमारी संस्कृतिके सर्वथा विपरीत हैं। वे हमें बहिर्मुख करते हैं।

प्राणि-पर्व

विश्वमें हम जिन्हें साधारण प्राणी मानते हैं, उनमें भी कुछ दिव्य प्राणी हैं। नाग और गौ ये दिव्य प्राणियोंमें हैं। जैसे ग्रामके अधिष्ठाता देवता और ग्राम-शक्तिकी पूजा ग्रामदेव (डीह) तथा ग्रामकालीके रूपमें अनादिकालसे भारतमें प्रचलित है, वैसे ही ग्रामनागकी पूजा भी चलती है। विवाहादि विशेष अवसरोंपर तो ये पूजित होते ही हैं, इनकी पूजाके पर्व भी हैं।

ग्रामदेव तथा ग्रामकाली तो ग्रामकी अधिष्ठात्री-शक्तियाँ हैं। हिन्दू-धर्म प्रत्येक पदार्थका अधिष्ठात्री-देवता मानता है। ग्रामनागके सम्बन्धमें यह जान लेना उचित है कि नगरमें यह शक्ति पूजित हो ऐसा विधान तो है; किन्तु नागपञ्चमीको नगरके लोग भी नगरसे बाहर जायँ नागपूजनके लिए, आदेश यही है। जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। ब्रह्माण्डमें हमारी पृथ्वीका धारण भगवान् शेष तथा दिग्गज करते हैं। ये गज भी नाग ही कहे जाते हैं। शरीरके धारक पञ्च-प्राण, स्थूल प्राण, अपान आदि प्राणोंसे

भिन्न नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय हैं। इनका वर्णन योगशास्त्रमें आता है। प्राणोंका भी एक नाम नाग है और उनकी आकृति सर्पाकार मानी जाती है। इस प्रकार ग्राममें भी नागोंका निवास होता है और ये ग्रामकी सूक्ष्म व्यवस्थासे अपरोक्ष रूपसे सम्बद्ध हैं।

मुझे अपना स्मरण है और मेरा अनुमान है कि प्रत्येक ऐसे व्यक्तिको इसका अनुभव होगा, जिसने ग्रामोंमें कुछ वर्ष व्यतीत किये हों कि वर्ष-कालके प्रारम्भमें ग्रामके किसी कोनेका नाग बोलता है। टनटनाती ऐसी दीर्घ ध्वनि होती है जो कम-से-कम एक मीलके घेरेमें स्पष्ट सुनी जा सके। ग्रामके लोग इसे नागकी ठनकार कहते हैं। एक या दो बार कुछ सेकेण्ड यह ध्वनि होती है। जिस कोनेमें ध्वनि हुई हो, उसके अनुसार वर्षा तथा मानव एवं पशु-स्वास्थ्यका भविष्य जाना जाता है, जो कि प्रायः ठीक ही प्रमाणित होता है।

दुर्भाग्यसे राजपूतानेकी नागपूजक जाति भी अपने आचारसे गिरकर हीनशक्ति होती जा रही है। अन्यथा ये लोग न तो कोई उपार्जन करते थे और न किसीका दान या उपहार स्वीकार करते थे। यहाँ तक कि किसीके कुएँसे जल पीनेपर दो पैसा कुएँपर छोड़ जाते थे। किसीको सर्प काटे तो उसकी चिकित्सा मन्त्रद्वारा करते थे और उसके यहाँ जल तक नहीं लेते थे। इन लोगोंका कहना है—‘प्रत्येक ग्राममें एक सर्पोंका राजा होता है। वह दूसरे सर्पपर बैठकर ही चलता है।’ चींटी, द मक तथा मधु-मक्खियोंमें जैसे ‘रानी’ होती है, सर्पमें वैसे राजा होना तो कठिन नहीं है। ये लोग बीन बजाकर उस राजाको संतुष्ट करते और वह अपने विलसे इन्हें स्वर्णके सिक्के दिला देता। सर्प एक-एक सिक्का लाकर सम्मुख डाल जाते। यही इनकी जीविका थी। अब भी इनमें दो-चार ऐसे वृद्ध पुरुष हैं, यह सुना जाता है।

गो-माता सर्वदेवमयी हैं। शास्त्र उनकी महिमासे भरे हैं। सचचाईसे गोमाताकी आराधना करके अभीष्ट प्राप्त करना कोई अद्भुत बात नहीं है। विशेष अवसरोंपर तो गोपूजन होता ही है, शास्त्रके अनुसार प्रत्येक हिंदू-गृहस्थके घरमें नित्य गोपूजन होना चाहिए। भोजनसे पूर्व गोग्रास निकालना तो नित्य-कर्म है। गो-माताकी पूजाका पर्व गोप्राष्टमी है और नागपूजाका पर्व नागपञ्चमी। ये पर्व तो अनादि हैं; परन्तु इनमें होनेवाली महत्त्वपूर्ण

घटनाएँ इन्हें नित्य नूतन बनाये रहती हैं। जैसे गोपाष्टमी श्रीकृष्णचन्द्रके गोचारणका प्रथम दिन है। श्यामसुन्दरने इस दिन गो-पूजन किया था।

मानव-पर्व

मानव-पर्व तीन प्रकारके होते हैं, एक तो ऐसे पर्व जो सामाजिक रूपसे मनाये जाते हैं, जैसे नवान्नेष्टि-यज्ञ। हिंदू-संस्कृति देव-संस्कृति है। प्रत्येक उद्योगका प्रारम्भ देव-पूजनसे और प्रत्येककी समाप्ति देव-पूजनसे होती है। उद्योग देवशक्तिके संतोषके लिए किया जा रहा है और उसीकी कृपासे वह पूर्ण भी होगा। आषाढ़में हल, बैल, क्षेत्रका पूजन करके कृषिका प्रारम्भ इसीका द्योतक है। उद्योगकी पूर्णतापर पुनः देव-शक्तिका पूजन होता है। किसान जिस दिन हल चलानेके लिए कार्तिकमें विराम प्राप्त करता है, वह उत्सव मनाता है। उद्योगका जो फल प्राप्त हो, वह देवताकी कृपाका प्रसाद है। मनुष्यको तो यज्ञशेषका भोजन करना चाहिए। नवीन अन्न काटनेसे पूर्व देव-पूजन होगा। देवताके लिए उसकी आहुतियाँ देकर ही वह हमारे उपयोगके योग्य बनेगा। अहंकार, भोगवृत्ति—इनको कहीं स्थान नहीं है।

दूसरे प्रकारके पर्व होते हैं व्यक्तिके जीवनसे सम्बन्धित। पुत्र उत्पन्न हुआ, विवाह हुआ, नवीन घर बनाया गया तो गृह-प्रवेश हुआ, ये सब व्यक्तिके पर्व हैं। इनमें भी व्यक्तिको वही व्रत, जप, हवन, पितर एवं देवताओंका अर्चन, ब्राह्मणोंका पूजन, दान आदि करना है। अपने इन उत्कर्षोंमें वह प्रमत्त न हो जाय, यह न मान ले कि यह बाह्य समृद्धि उपभोग बनेगी, उसमें गर्व एवं बहिर्मुखता न बढ़े, यह ऐसे उत्कर्षके अवसरोंपर अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरीय शक्तिकी कृपासे ही यह उत्कर्ष प्राप्त होते हैं और उनकी सार्थकता भगवान्की ओर लगनेमें ही है, यह उसी समय स्मरण करना आवश्यक है। राजतिलकसे लेकर सामान्य जीवनके उत्कर्ष तक सबमें समानरूपसे पूजनादिका विधान है।

एक प्रकारके और पर्व होते हैं, जिन्हें काम्य पर्व कहना चाहिए। किसी कामनासे किसी देवताकी मनौतीकी गयी, उसका पूजन, इसी प्रकार उद्देश्यविशेषसे किये गये पूजन-समारोह। सम्राटोंके राजसूय, अश्वमेध महायज्ञोंसे लेकर किसी झोंपड़ीके श्रद्धापूर्वक किये गये निष्काम कीर्तन भी इसीके अन्तर्गत हैं। ऐसे पर्वोंका कोई समय नहीं निश्चित है। हमारी कामना,

इच्छा, श्रद्धा ही इनका कारण है। पुराने ग्रन्थोंको छान डालिये, आपको ऐसा एक भी समारोह न प्राप्त होगा जब कि वह केवल मनोरंजनके उद्देश्यसे या किसी भौतिक उद्देश्यके प्रचारके लिए किया गया हो। चाहे भरतमुनिके नाटकोंका आयोजन हो या महाराज पृथुका प्रजा-सम्मेलन, सब एक प्रकारकी आराधना एवं सत्सङ्ग-गोष्ठी हैं। भोगके समारोह तो देवताओंके भोग-लोक या असुरोंके यहाँ ही शक्य है। मनुष्यका जीवन तुच्छ भोगोंमें व्यतीत करनेके लिए नहीं प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य वैदेशिक प्रभावसे पूर्व भारतीय मनोवृत्तिमें व्यर्थ मनोरंजन तथा लौकिक प्रचारके विषैले कीट प्रविष्ट नहीं हुए थे। हमारे समारोह भागवत-सप्ताह, यज्ञसत्र, पुराणसत्र, कथा-कीर्तन-पूजन उपदेशमय ही थे और इन समारोहोंमें सब प्रकारकी गान, नृत्य, वाद्य, चित्रादि कलाओंका इतना उच्च विकास हुआ है कि एक स्वरसे विश्वके कलामर्मज्ञ उसे मानव-शक्तिकी उच्चतम कला स्वीकार करते हैं। इतनेपर भी हमारी कला सदा देवताके लिए, ईश्वरीय शक्तिके लिए, अन्तर्मुखताके लिए ही रही। 'कला कलाके लिए' या 'कला उपयोगके लिए' कहनेवाले प्रकारान्तरसे 'कला वासनाके लिए' और 'कला मानवके लिए' कहते हैं। 'स्वान्तःसुखाय' में जो अन्तर्मुखताके दिव्य आनन्दका संकेत है, वह आजकी मानस-परिधिसे परे होता जा रहा है।

तीर्थ और पर्व

देहतत्त्वके सम्बन्धमें बताते समय यह कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका व्यक्त रूप है। समस्त पदार्थ संकल्प या भावजगत्के मूर्तरूप हैं। भावजगत् या देवजगत् जैसे पदार्थोंके रूपमें मूर्त हुआ है, वैसे ही स्थानोंके रूपमें भी। इसीलिए जैसे पदार्थोंके सम्बन्ध अपने मूल भावजगत् रूप देवताओंसे हैं, प्रत्येक पदार्थके अधिष्ठात् देवता हैं, वैसे ही स्थानोंके सम्बन्ध भी दिव्य जगत्से है। भावजगत्में राजस, तामस, सात्त्विक सभी प्रकारकी शक्तियाँ और उनके स्थान हैं। उनमें भी राजस और तामस ही अधिक हैं। पदार्थों और प्राणियोंमें हम इसीलिए सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक प्राणी थोड़े ही पाते हैं। मनुष्यकी संख्या विश्वके दूसरे प्राणियोंमें बहुत थोड़ी है। इसी प्रकारकी बात स्थानके सम्बन्धमें है। पृथ्वीमें पुण्य-भूमि तो बहुत थोड़ी है और वह भारतवर्ष है। सम्पूर्ण भारत ही पुण्य-भूमि, तीर्थ-भूमि है।

जैसे मनुष्य ही कर्मयोनि है, इसी योनिसे जीव भगवद्धामका सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है; वैसे ही भगवद्धामोंके सम्बन्ध भी भारतभूमिसे ही हैं।

जैसे भगवान्‌के अवतार इस पुण्यभूमिमें होते हैं, वैसे ही उनके अवतारके समय उनके दिव्यधामोंका भी प्राकट्य इस पृथ्वीपर हो जाता है। जहाँ-जहाँ भारतमें इस प्रकार भगवान्‌का प्रादुर्भाव हुआ, चाहे वह पूर्णचरित करनेके लिए हुआ हो या किसी महापुरुषको दर्शन देनेके लिए अत्यल्प कालको हुआ हो, प्रभु तो हमारे देशमें आनेसे रहे ; जैसे हमें जब किसी देवता या ऋषिके दर्शन होते हैं, तब उनके साथ उनका भाव देव भी व्यक्त रहता है, वे हमारे कल्पित स्थूल देशमें नहीं होते, वैसे ही भगवान्‌के साथ उनका नित्य देश भी व्यक्त होता है। जैसे भगवद्दर्शन-प्राप्त महापुरुष परमपावन हो जाता है, वैसे ही वह स्थूल देश जो चिन्मय देशका सान्निध्य पा चुका हो, पावन हो जाता है, ऐसे ही देश 'तीर्थ' कहे जाते हैं ; क्योंकि वे दूसरोंको पवित्र करनेकी शक्ति प्राप्त कर चुके हैं।

जब कोई व्यक्ति किसी तीर्थमें जाता है, तब वह उम तीर्थके पावनकारी प्रभावको प्राप्त करता है। चुम्बकका लोहेपर पूरा प्रभाव पड़े, इसके लिए आवश्यक है कि लोहेपरके जंगको दूर कर दिया जाय। शरीर या उदरको साबुन या ओषधिसे स्वच्छ करते समय हमें विशेष प्रकारके व्यवहारकी आवश्यकता होती ही है। इसी प्रकार हमपर तीर्थका पूरा प्रभाव पड़े, इस उद्देश्यसे तीर्थके प्रभावके अनुरूप वहाँके आचारका विधान शास्त्रोंमें है। उस आचारके उल्लङ्घनसे दोष एवं हानि भी होती है ; क्योंकि कोई प्रभाव हमपर पड़ रहा हो और हम उसके विपरीत चेष्टा करें तो हानि होना स्वाभाविक ही है।

प्रत्येक तीर्थ भिन्न-भिन्न भगवद्धामों या दिव्यलोकोंके प्रभावसे युक्त होता है। देवभूमियोंका वहाँसे सम्बन्ध होता है। अतएव वहाँ उस देवभूमिके अनुरूप कृत्य होते हैं। जैसे गया पितृलोकसे सम्बन्धित तीर्थ है। वहाँ दिये गये पिण्ड पितरोंको अक्षय तृप्ति देते हैं। जब कोई तीर्थयात्री अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, तब वह पूजनादि करके, प्रस्थान करता है। तीर्थमें जब तक वह रहता है, वह पूरा समय उसके लिए पर्वकाल है। उसे तीर्थमें निर्दिष्ट नियमोंका पालन करना पड़ता है। घर लौटनेपर वह पुनः पूजन, यज्ञादि करके यात्राको साङ्ग पूर्ण करता है। इस प्रकार तीर्थमें जानेपर पर्व होता है। इसके अतिरिक्त कुछ तीर्थोंके कुछ विशेष पर्वकाल हैं। जैसे प्रयागमें माघ मास। इन समयोंमें इन तीर्थोंका अपने नित्य-दिव्यधामोंसे विश्वकी गतिके कारण अधिक निकट सम्पर्क हो जाता है और ग्रहयोगके प्रभाव भी वहाँ अनुकूल रहते हैं।

जयन्ती आदि पर्व क्यों ?

अवतार या भक्त-जयन्तियाँ, विजयादशमीके समान उत्कर्ष-दिवस, प्राणिपर्व, मानवपर्व और पर्व क्यों कहे जाते हैं ? इनमें अन्तर्मुखताकी प्रेरणा है और इस दृष्टिसे ये आवश्यक भी हैं, यह तो ठीक ; किन्तु इनमें पर्वरूपता—सन्धिकाल क्या है ? बात यह है कि हमारे शास्त्रोंने सन्धिका परम उद्देश्य जीव एवं ब्रह्माकी सन्धि माना है । सन्ध्याका भी शास्त्रीय अर्थ है जीव-ब्रह्माकी सन्धि और योगका भी शास्त्रीय अर्थ यही है । इस आत्म-परमात्मैक्यके प्रयत्नके लिए जो काल प्रतिदिन निश्चित है, उसे सन्ध्या कहते हैं और जो काल नित्य न आकर किसी विशेष अवसरो, कारणोंसे उपस्थित होते हैं, उन्हें पर्व कहते हैं । सन्ध्या और पर्वके अर्थ प्रायः एक ही हैं । इसी प्रकार उन प्रयत्नोंका ज्ञान जो भगवान् तथा जीवकी एकताकी सिद्धिके लिए हैं, योग, उपासना या उपनिषद् कहते हैं । ये सब शब्द प्रायः एक ही अर्थके द्योतक हैं । स्वरूप-भेदकी सूचनाके लिए ही ये पृथक्-पृथक् हैं ।

दिवस एवं रात्रिका सन्धिकाल तो प्रातः एवं सायं ही होता है ; परन्तु सन्ध्याकृत्यका काल तो इन दोनों कालोंके अतिरिक्त मध्याह्न भी है । जैसे सन्ध्या-शब्दका लक्ष्यार्थ एक है—जीव-ब्रह्मात्म-सन्धि और वाच्यार्थमें प्रातः सायंकी सन्ध्याका काल प्रधान होनेसे एवं ठीक सन्ध्याकालमें सन्ध्या-कर्मका विधान होनेसे इसे सन्ध्या कहा गया, वैसे ही पर्वका लक्ष्यार्थ तो एक ही है । वाच्यार्थमें ग्रह-नक्षत्रादिके सन्धिकालोंकी प्रधानता होनेसे सबको पर्व कहा गया है । जो काम्यकर्मोंके पर्व होते हैं यज्ञादि, वे मुहूर्त देखकर होते ही हैं, इसी प्रकार गृह-प्रवेश तथा विवाहादि संस्कार भी मुहूर्त देखकर होते हैं और तीर्थयात्रा तथा प्राणिपर्व भी मुहूर्तोंसे निश्चित हैं । इन सबको तो सन्धिकालकी दृष्टिसे निर्धारित ही किया जाता है । पुत्र-जन्मादि बहुत थोड़े-से पर्व ऐसे हैं जो मुहूर्तोंकी सन्धिकी अपेक्षासे नहीं होते । ऐसे पर्व अव्यक्त एवं व्यक्त जीवनकी सन्धि तथा श्रम एवं परिणाम अथवा शोक-हर्षकी भावात्मक सन्धिके कारण पर्व कहलाते हैं ।

मेले

कुम्भ, संक्रान्ति, प्रयागका माघस्नान, ग्रहण आदिके कारण स्थान-विशेषका आध्यात्मिक महत्त्व हो जाता है । अतएव उन अवसरोंपर वहाँ दूर-दूरसे श्रद्धालु यात्री आते हैं । इनके अतिरिक्त विजयादशमी, शिवरात्रि,

रथ यात्रादि पर्वोंका जिन तीर्थोंमें विशेष महत्त्व है, वहाँ भी मेले लगते हैं। रथयात्रादि उत्सवोंको पूरे समारोहसे मनानेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है। मनुष्यके भीतर समारोह, धूम-धाम, कुतूहलकी एक स्वाभाविक वृत्ति है। किसी स्वाभाविक वृत्तिका दमन सबके लिए सहज साध्य नहीं होता। यदि वृत्तिका सुव्यवस्थित आधार न मिले तो वह विकृत होती है। प्रत्येक वृत्तिको बिना दमन किये ठीक मार्गमें लगाकर उससे लाभ उठाना ही सहज एवं श्रेष्ठ मार्ग है। देवयात्रा-महोत्सवादिके हमें उच्च प्रेरणा मिलती है, हमारी कुतूहल-वृत्ति तो तृप्त होती ही है, हम उसकी तैयारीमें दीर्घकाल-तक देवता या आराध्यके चिन्तनका लाभ भी पाते हैं। मेलोंमें श्रद्धालुओं एवं संतोंके दर्शनों, सत्सङ्गका लाभ जो महत्त्व रखता है, उसे समझा जा सकता है।

आज कहा जाता है कि भारतीय मेले विचार-विनिमय, ज्ञानके आदान-प्रदान एवं सांस्कृतिक लाभके लिए तथा सामाजिक उत्थानके लिए थे। आजकी भावनामें तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि भारतमें ज्ञान कभी अनिश्रित नहीं था। शास्त्र नित्य है और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका ज्ञान भ्रान्तिहीन है, इसमें यहाँ कभी सन्देह नहीं किया गया। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' की बात जिज्ञासुके लिए है और उसे निरन्तर सत्सङ्ग एवं मननकी प्रेरणा देती है। ऋषिगण परस्पर 'वाद' से नूतन ज्ञानका आविष्कार करते या दूसरेको प्रदान करते थे, ऐसी कोई बात नहीं। शास्त्र तो नित्य है। वे ईश्वरीय ज्ञान हैं। ऋषियोंकी ज्ञानप्राप्तिकी प्रणाली 'वाद' नहीं, समाधिमें मन्त्रदर्शन और जिज्ञासुको उपदेश है, 'वाद' तो उनके आश्रमके छात्र परस्पर करते थे। इसी प्रकार भौतिक उन्नति हिंदू-जातिके लिए कभी साध्य नहीं बनी, अतः उसके लिए साधन भी ढूँढ़े नहीं गये। मेले उसके साधन भी कभी नहीं थे।

मेलोंका मुख्य विधान तो पर्व तथा उस पर्वका जो उस स्थानविशेष-पर सूक्ष्म आध्यात्मिक लाभ है, उसे प्राप्त करना ही है। कुम्भ या ग्रहण तथा दूसरे पर्व जो कहीं मेलोंके रूपमें होते हैं, उनके वास्तविक पावन उद्देश्यको छोड़कर उन्हें मिलने-जुलने तथा प्रचारका साधन बतलाना तथा इस दृष्टिसे उनकी महत्ता मानना शास्त्रों, पर्वों तथा उनके उद्देश्यों—सबको अस्वीकार करना है। पर्वकी पावनताका लाभ उठाने आकर वहाँ जो

महापुरुषोंके सत्सङ्ग एवं उपदेश तथा शास्त्र-श्रवणका लाभ है, यह आनुषंगिक लाभ है। यद्यपि यह लाभ भी महान् है। इसकी महानता स्वयं शास्त्रोंने स्वीकार की है।

पर्वोंकी आवश्यकता और सुधार

पर्व किसी भी जातिके जीवन-चिह्न हैं। वे जातिको जाग्रत् रखते हैं और हिंदू-पर्व तो अपने भीतर गम्भीर प्राकृतिक तथ्य रखते हैं। पर्वोंके द्वारा संस्कृतिकी परम्परा रक्षित रहती है; साथ ही ग्रहणादि हिंदू-पर्व तो ऐसे हैं कि उन्हें मानवमात्रको ही मनाना चाहिए। उनको माननेमें सभीका लाभ है और उनकी उपेक्षामें मनुष्यकी हानि ही है।

वर्तमान समयमें नवीन पर्व चलाये जा रहे हैं और प्राचीन पर्व लुप्त होते जा रहे हैं। श्रीजानकीनवमी और श्रीराधाष्टमी-जैसे पर्व देशके बहुत थोड़े भागोंमें मनाये जाते हैं। रामनवमी और जन्माष्टमीकी छुट्टियाँ बन्द करनेकी भी चर्चाकी जानी है। इनके स्थानपर जो पर्व चलाये जा रहे हैं, उनमें पाश्चात्य भौतिकवादकी प्रेरणा है। शरीर, यश, वैभव, चाहे वह व्यक्तिका हो या समाजका, उसका स्मरण भौतिक प्रेरणा ही देगा। ऐसे पर्वोंके प्रचलनका उद्देश्य समाज, जाति या राष्ट्रकी भौतिक उन्नति ही मानी जाती है। शरीरको महत्त्व देनेके लिए ऐतिहासिक पुरुषोंकी जयन्तियाँ और स्मारक प्रचलित किये जाते हैं। यह सब प्रयत्न चाहे वे देखनेमें कितने भी मोहक हों, हिंदू-संस्कृतिकी परम्पराके प्रतिकूल हैं। हमारी संस्कृतिका लक्ष्यपथ ही उससे आच्छन्न होता है। उससे समाज दिग्भ्रान्त ही होगा।

जो प्राचीन सनातन पर्व हैं, वे आध्यात्मिक भावनासे ओतप्रोत हैं। उनमें ही हिंदू-संस्कृतिकी जीवन-प्रेरणा है। उनमेंसे जो लुप्त हो गये हैं या होते जा रहे हैं, उनको प्रचलित करनेकी आवश्यकता है। उनके वास्तविक मर्मको छोड़कर दूसरा अर्थ भी करना उनके उद्देश्यको नष्ट करना है। कुछ पर्वों और विशेषतः मेलोंमें समयके कारण विकार भी आये हैं। असंयम, आचार-च्युति तथा बहिर्मुखताके जितने कार्य या प्रलोभन मेलोंमें, पर्वोंपर मिलते हैं, सब विकृतियाँ हैं। उनका परिष्कार आवश्यक है; किन्तु उससे अधिक आवश्यक है पर्वकृत्योंका रक्षण, उनके उद्देश्यका ज्ञान, उनको लुप्त होनेसे बचाना।

भारतीय मनोविज्ञान

जीवनका—चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, मूल मन ही है। स्थूल शरीरकी जड़ता इतनी स्पष्ट है कि घोर देहात्मवादी भी देहके सुख-दुखादिकी विवेचनाका आधार मन ही मानता है। पाँच भौतिक देह तथा इतर जड़ पदार्थोंमें कोई भेद नहीं रह जाता, जब हम मनको देहसे पृथक् कर लेते हैं। धार्मिकताकी आधारशिला ही मन है। जितने भी धर्म हैं, सब मनके लिए हैं। अतएव किसी भी विचारधाराके विचारकको जब वह जीवनके सम्बन्धमें विचार करने बैठता है, मनका विवेचन करना ही पड़ता है। मनको छोड़कर जीवन कुछ है ही नहीं, जिसका विवेचन किया जा सके।

साधारण संस्कारोंको छोड़ दें तो मानव मनमें दो पुरातन प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। एक क्रूर प्रवृत्ति तथा दूसरी करुण प्रवृत्ति। आहार, सन्तानोत्पादन, निद्रा और विश्राम, आत्मरक्षण तथा आपत्तिसे भय, ये प्रवृत्तियाँ तो प्राणियोंके मनमें शरीरके सम्बन्धसे आती हैं। शरीरके पोषणके लिए आहार आवश्यक होता है। शरीरके सुखके लिए तथा वैसे ही शरीरोंकी वृद्धिके लिए काम प्रवृत्ति है। ऐसी ही प्रवृत्तियोंमें यश है यह भी शरीरको लेकर ही चलता है। भोजनादिके उद्योगसे श्रान्ति विश्राम चाहती है और पूर्ण विश्राम ही निद्रा है। शरीरकी रक्षाका उद्योग आत्म-रक्षण है और इस आत्म-रणक्षसे जो कार्य, स्थान, पदार्थ बाधक हैं, उनसे भय लगता है। इनके अतिरिक्त दूसरोंको कष्टमें देखकर हमें दया आती है तथा दूसरोंको कष्टमें देखकर हमें प्रसन्नता होती है। एक साथ ये दोनों वृत्तियाँ मनमें हैं। इनका सम्बन्ध अपने शरीरसे न होकर दूसरोंसे है। एक तीसरी वृत्ति भी है जो अपकर्म करनेपर ग्लानिका भाव उत्पन्न करती है। ये तीन प्रवृत्तियाँ मनकी शरीरसे—अपने शरीरके सुख-दुःखसे सम्बन्धित नहीं। अतः इन्हीं तीनोंमें कोई मनकी वास्तविक प्रवृत्ति होनी चाहिए। और उसीके द्वारा मनके ठीक स्वरूपको जानना साध्य होगा।

इतिहासमें हम पढ़ते हैं कि रोमकी पुरानी सभ्यतामें प्राण-दण्डके अपराधियोंको सार्वजनिक स्थानमें यातना देकर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।

कहीं अपराधको सिंहके पिंजड़ेमें डाल दिया जाता था, कहीं उसके हाथ पैरोंमें रस्सियाँ बाँधकर घोड़ोंकी पूँछमें वे रस्सियाँ बाँध दी जातीं और घोड़े विभिन्न दिशाओंमें दौड़ाये जाते । इस प्रकार यातना देनेके अनेक प्रकार थे । उस समयकी नागरिक जनता ऐसे दृश्य देखने एकत्र होती और देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती अब भी जङ्गलोंमें ऐसी मनुष्य जातियाँ हैं । जो मनुष्य-भक्षी हैं । ऐसे लोग अबभी प्रत्येक समाजमें पर्याप्त हैं, जिन्हें आखेटमें पशुको तड़पते देख आनन्द आता है । यह दूसरोंकी पीड़ामें आनन्द लेनेकी वृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविकसी दिखायी देती है । सभीमें थोड़ी बहुत है । जो जितना सुसभ्य एवं सात्विक होता है, उसमें यह वृत्ति उतनी क्षीण होती है । हम किसीको वर्षाके कीचड़में फिसलकर गिरते देखकर हँस पड़ते हैं, किसीकी असावधानीपर तालियाँ बजाने लगते हैं, यह नसी पाशव । वृत्तिका संकुचित रूप है । व्यंग तथा आक्षेप इसीके स्वादके लिए व्यक्त होते हैं । दूसरेकी असावधानी, अपटुता, खेद, लज्जादिमें रसानुभव करना मनुष्यमें इसी पशु-वृत्तिके अवशेषके रूपमें है ।

फ्रायडके मनोविज्ञानकी आलोचना

यूरोपमें मनोविज्ञानकी अनेक शैलियाँ हैं, परन्तु उनमें फ्रायडका मनोविज्ञान अधिक प्रख्यात है । यद्यपि यूरोपमें अब उसपर-से श्रद्धा उठती जा रही है ; पर भारतमें आधुनिक शिक्षित वर्ग उसीको प्रधान मानता है और उसीके अनुसार अपने सिद्धान्त एवं विचार निश्चित करता है । हमारे देशके विद्यालयोंमें भी फ्रायडके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ही पढ़ाये जाते हैं । फ्रायड मनके पाशवरूपमें विश्वास करता है । डार्विनके विकासवादको स्वीकार करके वह मानता है कि मनुष्य एक कृमिसे क्रमशः पशु आदि आकृतियोंसे विकसित होता इस रूपमें आया है । फलतः उसके मनका निर्माण भी पशु जैसा ही है । क्योंकि मानव-समाज सुसंस्कृत होता जा रहा है, अतः उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ समाजमें चरितार्थ नहीं हो सकतीं । भय, लज्जा तथा संकोचके कारण मनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको दबाना पड़ता है । इन दबी प्रवृत्तियोंके संस्कार अन्तर्मनमें चले जाते हैं और बराबर प्रकट होनेका अवसर ढूँढ़ा करते हैं । सामाजिक संस्कारोंसे संस्कृत बहिर्मन उन अन्तर्मनके संस्कारोंको दबाये रहता है । फलतः दोनोंमें अनवरत संघर्ष बना रहता है । इस संघर्षके फलस्वरूप उन्माद, चिड़चिड़ापन,

मूर्च्छादि अनेक रोग होते हैं। स्वप्नमें बहिर्मनका बन्धन न होनेसे अन्तर्मनके संस्कार प्रकट हो जाते हैं।

मनकी पशुताको उसका स्वरूप मान लेनेपर धर्म एवं सदाचार सम्बन्धी समस्त नियम समाजकी आवश्यकतावश आरोपित मात्र रह जाते हैं। मनोविज्ञानके इस सिद्धान्तमें परलोककी कोई सत्ता नहीं। इसके प्रचारका फल यह हुआ कि लोगोंमें धर्मके प्रति अनास्था हो गई। नैसर्गिक स्वभावके नामपर क्रूरता एवं अनाचारको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। संयम एवं सदाचार आडम्बर माने जाने लगे। उच्छृङ्खलता ही स्वाभाविक एवं गौरवास्पद बन गई। कला एवं साहित्यमें तथा जीवनमें भी अश्लीलता, असंयम क्रूरताको प्रोत्साहन मिला।

पाश्चात्य समाज तो भौतिकता प्रधान है; किन्तु भारतके धर्म प्राण वातावरणमें इस सिद्धान्तका प्रचार यहाँकी मानव जातिका दुर्भाग्य तथा कालके अतिरिक्त और कुछ नहीं। पाश्चात्य चाहे इस बातको न समझें, पर सामान्य भारतीय भी समझता है कि भारतमें ऐसे लोग बहुत हैं जो स्वप्नमें भी संयम सदाचार या सत्कार्य करते हैं। जिनके मनमें स्वप्नमें भी पशुता नहीं आती। ऐसा क्यों होता है? फ्रायडका मनोविज्ञान भारतकी इस साधारण अनुभूतिका उत्तर दे नहीं सकेगा। स्वप्नमें बहिर्मनका नियन्त्रण नहीं रहता, यदि अन्तर्मनमें बाहर आनेको निरन्तर संघर्षशील पशुता हो तो उसे उस समय बाहर आना ही चाहिए। यदि सदाचारादि संतर्कर्म केवल आरोपित कर्म हैं तो अन्तर्मनमें उनकी स्थिति क्यों? स्वप्नमें उनकी आवृत्ति कैसे? मनकी स्वाभाविक पशुताका क्या हुआ?

सीधी बात है कि फ्रायडने विकासवादके भ्रमपूर्ण सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया। मनमें परोत्पीड़नकी वृत्ति देखकर उसे वह मनका स्वरूप मान बैठा। यहीसे भूलोंकी परम्परा चल पड़ी। पुनर्जन्मका सिद्धान्त पाश्चात्य जगत्में मान्य न होनेसे मनकी नैसर्गिक पशुताका समाधान प्राप्त होना वहाँ सरल नहीं था, पर हम जानते हैं कि मनुष्य जन्म अनेक पशु-कीटादि योनियोंके पश्चात् जीवको प्राप्त होता है। उन सहस्र-सहस्र पशु योनियोंके संस्कार चित्तमें हैं। परोत्पीड़नकी वृत्ति भी मनुष्यमें उन्हीं पशु योनियोंके संस्कार स्वरूप है। इसी प्रकार अनेक प्रकारकी वैषयिक प्रवृत्तियाँ भी उसमें पाशव योनियोंके ही संस्मरण हैं।

परोत्पीड़नकी वृत्तिका फ्रायडने सचमुच विश्लेषण ही नहीं किया। उसने यह तो देखा कि मनुष्य अधिक दूसरोंके कष्टमें हर्षित होनेका स्वभाव रखते हैं, परन्तु उसने यह अन्वेषण नहीं किया एक स्वभावका प्रारम्भ कहाँसे हुआ। हम एक मनुष्यको, एक हाथीको, एक घोड़ेको, एक सिंहको किसको गिरते देखकर हर्षित हो सकते हैं, पर एक बच्चेको, एक कीड़ेको, एक छिपकलीको फिसलते देखकर यदि उसके चढ़नेके उद्योगमें हमारी महत्ता बुद्धि न होगई हो, हम हर्षित नहीं हो सकते। इसका अर्थ है कि हम अपनेसे अधिक या सामानके संकटमें ही रसानुभव करते हैं। अपनेसे हीन या क्षुद्रका संकट हममें करुणा जाग्रत करता है। यह दूसरी बात है कि कोई क्षुद्र अपने उद्योगके किसी अंशमें जब हमारी समता या स्पृहाका पात्र होता है तो उसका संकट भी हमें हर्षित करता है। इस निष्कर्षपर पहुँचनेपर हमें स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मनुष्यमें परोत्पीड़न से सुखानुभूतिकी भावना उसके आत्म रक्षणसे ही आई है। अपने प्रबल शत्रुओंका संकट हमें इसलिए आनन्दित करता है कि हममें अत्प्रयत्न रूप से भयकी भावनाकी निवृत्ति होती है। इसी प्रकार अपने समानसे हमें निरन्तर स्वार्थका संघर्ष करना पड़ता है। उसकी सुविधा हममें ईर्ष्या उत्पन्न करती है। अतः उसका संकट हमें सुखी करता है। इसी प्रकार परोत्पीड़न में रसानुभव मनमें आत्म रक्षण तथा ईर्ष्याके एक रूपमें ही आता है। यह भाव भी दूसरे भावोंके समान शरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। इसे मनका मूल स्वरूप मानना भ्रम पूर्ण है। मनुष्यमें विद्यमान पशुत्व उसे पिछले अनन्त पशु-जीवनोंका परिचय देता है, उसका नैसर्गिक रूप नहीं।

पाश्चात्य मनोविज्ञानकी मान्यताओंमें फ्रायड तो डार्विनके विकासवादका अनुगामी है ही, वहाँका मनके मूल रूपको सात्त्विक मानने वाला समुदाय भी विकासवादके प्रभावसे मुक्त नहीं है। पाश्चात्य मनोविज्ञानकी दोनों धाराओंकी भ्रान्तिका मूल है मनको दैसिक तत्त्व मान लेना। वहाँके वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यके मस्तिष्कमें कुछ रेखाएँ हैं, ये रेखाएँ जो बुद्धिमान होगा, उसके मस्तिष्कमें उतनी गहरी होंगी और वैसा ही जाल बनावेंगी। असभ्य जातियोंके मस्तिष्ककी रेखाएँ सीधी और कम गहरी होती हैं। बन्दरके मस्तिष्कमें थोड़ी-सी रेखाएँ होती हैं। निम्न कोटिके जीवोंके मस्तिष्क चिकना होता है। पाश्चात्य देशोंमें मस्तिष्ककी इन रेखाओंके अध्ययनके लिए बड़े बड़े विद्वानोंके मस्तक लाखों रुपये देकर खरीद लिए

जाते हैं और जब वे विद्वान मर जाते हैं, उनके मस्तिष्कको स्पिरिटमें रखकर रेखाओंका अध्ययन किया जाता है।

स्पष्ट है कि निम्न प्राणियोंमें बन्दर और बन्दरसे वनमनुष्य, उससे असभ्य मानव और फिर सभ्य जातियाँ उत्तरोत्तर बुद्धिमान हैं। ऐसी मान्यता लेकर चलने वाले वैज्ञानिक विकासवादको मानकर ही चलते हैं। इसीलिए वे मनके दो भाग भी करते हैं। मस्तिष्कके दो भाग होते हैं, एक स्वच्छ भाग और एक कुछ भूरा भाग। इस बाह्य भेदसे ही अन्तर्मेन एवं बहिर्मेनके विभागकी प्रेरणा मिली है।

मुख्य मूल

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक जहाँ इतनी बालकी खाल निकालते हैं, वहीं वे सामनेके प्रत्यक्ष सत्यको देखते तक नहीं, यह एक आश्चर्यकी बात है। जन्तुशास्त्रका विद्यार्थी भी जानता है कि मनुष्यके पश्चात् विश्वमें दूसरे नम्बरका बुद्धिमान प्राणी बन्दर नहीं है। बन्दरका नम्बर सातवां या आठवां है। दूसरा नम्बर चींटीका है। चींटियोंमें समाज व्यवस्था है, उनमें रानी, सेवक, सैनिक, खाद्य संग्रह विभाग, मकान आदि सब कुछ है। वे अपने समाजसे भिन्न चींटियोंको पहचानती है, उनसे युद्ध करती हैं, परस्पर सहायता करती है, बाँटकर खाती हैं और खाद्य प्राप्तिकी सूचना देती हैं। आपत्तिसे रक्षाके लिए उनका प्रयत्न बुद्धि पूर्वक होता है। वैज्ञानिकोंमें यह सर्वमान्य बात है कि चींटी विश्वका प्रबन्ध कर लेगी यदि मनुष्य जाति नष्ट हो जाय। चींटीमें ही दीमक आदि कई जाति हैं। चींटीके पश्चात् चूहे, मधुमक्खी, हाथी, कुत्ते आदिका नम्बर है। अब प्रश्न होता है कि चींटीके मस्तिष्क कहाँ है? उसमें रेखा जाल कहाँ है? उसके सिरके खोखलेमें तो आलपीनकी नोंकके बराबर जल रहता है। ठोस या गोंद-सा चिटचिटा द्रव्य भी वहाँ नहीं है। ऐसी दशामें मस्तिष्कका रेखा जाल वाला सिद्धान्त क्या अर्थ रखता है।

मन के सम्बन्ध में भारतीय विवेचन

भारतीय शास्त्र यह तो मानता है कि मन अन्तसे पुष्ट होता, किन्तु मनको नितान्त दैहिकतत्त्व नहीं माना जाता। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने मनको

दैहिक मानकर मस्तिष्ककी रेखाओंको ढूँढ़ना प्रारम्भ किया और भ्रान्त हुए। मृत्युके पश्चात् इन्द्रियोंके साथ मन भी जीवके साथ जाता है। वह सूक्ष्म शरीरका भाग है। जैसे नेत्र गोलक नेत्रेन्द्रिय नहीं है वैसे ही मस्तिष्क भी मनके कार्य करनेका स्थान है, मन नहीं है। जैसे नेत्रोंके काले, पीले, नीले, कुछ रक्तिम वर्णसे मनुष्यकी दृष्टिशक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, काली आंखों वाले नीली आंखों वालोंसे कम नहीं देखते, वैसे ही मस्तिष्ककी बनावटोंसे मनके कार्य पर प्रभाव नहीं पड़ता। अवश्य ही नेत्र गोलक दूषित हो तो नेत्र शक्ति बाधित होगी। ऐसे ही मस्तिष्क दूषित या विकृत हो तो मनके काममें बाधा पड़ेगी। रह गया मस्तिष्कका रेखा जाल। ये एक प्रकारकी झुरियाँ हैं, जो केवल इतनी सूचना देती हैं कि मस्तिष्कसे कितना काम लिया गया। हाथ, पैरमें काम करनेसे जैसे घठे पड़ते हैं, वैसे ही इनकी विद्यमानता कार्यकी सूचना दे सकती है, पर योग्यता या स्वरूपकी उसमें कल्पना भ्रम ही है। अतएव मनो विवेचनके लिए मस्तिष्क की झुरियोंको महत्त्व देना भ्रम उत्पन्न कर सकता है।

मनकी मूल प्रकृति क्या है? मन सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुआ है। उसकी मूल प्रकृति सात्त्विक है। रजोगुण एवं तमोगुणके दोष उसमें विकारके रूपमें आते हैं इसीलिए मनको शुद्ध करनेका आदेश सभी आध्यात्मिक साधनोंमें है। यदि मनका मूल स्वरूप शुद्ध न हो, तो उसे शुद्ध किया ही न जा सके। यूरोपमें जहाँ फ्रायडका पक्ष यह कहता है कि हम दूसरे पर दया इसलिए करते हैं, कि हमें उसकी स्थिति देखकर अपने कष्टकी स्मृति होती है, वहीं यूरोपमें ही दूसरे मनोवैज्ञानिक मनके स्वभावभूत सद्गुणोंमें विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि हमें दूसरेको कष्टमें देखकर अपने वैसे ही कष्ट तथा उसकी वेदनाकी स्मृति भले हो, किन्तु हमें स्वयं उस स्मृतिसे कोई कष्ट नहीं होता। हमारी दूसरेके कष्ट निवारणकी प्रवृत्ति तो स्वभावजन्य है।

बड़ी सीधी बात है—स्वभाव सहज होता है और विकारके लिए अवसर, सामग्री आदिकी अपेक्षा होती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, असत्य, चोरी, हिंसा सबमें कब? कैसे किस प्रकारका प्रश्न है। सबमें आशंका है। अतः ये स्वभावजन्य नहीं। सत्य, ब्रह्मचर्य, अक्रोध, अलोभ, अमोह, अचौर्य, अहिंसा, दया, क्षमा, सेवा, त्यागके लिए कब, कैसे किस प्रकार प्रश्न हो

नहीं। बच्चा झूठ बोलना सीखता है, पर सत्यमें क्या सीखना। जैसे अग्नि दूधते ही जला देती है। जल तत्काल भिगा देता है—इनमें कब कैसेका प्रश्न नहीं। इनसे बचकर इनके उपयोगके लिए कब कैसेका प्रश्न है। इसी प्रकार सत्य, अहिंसादि सद्गुण सहज स्वभाव हैं। दुर्गुण ही विकार है, अतः दुर्गुणों में आशंका होती है। चतुरता एवं अवसरकी अपेक्षा होती है।

अन्नसे मन बनता है। अतः मन अन्न सा-ही प्राकृत है। अन्न, जलादि प्रथम शुद्ध रहते हैं और धीरे-धीरे विकृत होते हैं। इसी प्रकार मन भी क्रमशः विकृत होता है। सभी जानते हैं कि बालक सरल निश्चय होता है। वह धूर्तता आदि धीरे-धीरे सीखता है। फायडका यह मनोविज्ञान कि मानव धीरे-धीरे मनोविकाश करके सुसंस्कृत हो रहा है, स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक है। आदि मानव सद्गुण सम्पन्न था धीरे-धीरे उसमें दुर्गुण आते गये, यही प्रकृति सम्भव नहीं है। आदिमें सतयुग और धीरे-धीरे कलियुग तक ह्रास यही आर्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

‘मनुष्यमें जो दुर्गुण हैं, वह उसने शरीरके स्वार्थसे प्रेरित होकर धीरे-धीरे सीखे हैं। परिस्थितियोंके संसर्गसे वे उसमें उसी प्रकार आये हैं, जैसे जलमें संसर्गसे विकार आते हैं। प्रत्येक मनुष्य प्रारम्भमें अपकर्म करके ग्लानिका अनुभव करता है। निरन्तर अफीम खाने वालेको अफीम कड़वी नहीं लगती, इससे अफीमके कड़वेपनका निषेध नहीं होता। ऐसे ही बराबर अपकर्म करते रहनेके परिणाम स्वरूप जब अन्तरकी भर्त्सना की अनुभूति नहीं होती तब उस आन्तरिक घृणाकी सत्ता बाधित नहीं होती। दूसरी ओर त्याग, दान प्रभृति सत्कर्म करके हृदयमें आनन्दकी अनुभूति होती है। इनके बराबर करते रहनेसे वह अनुभूति बढ़ती रहती है, लुप्त नहीं होती। नियम यह है कि स्वभावके विपरीत चेष्टा स्वभावके विपरीत चेष्टा स्वभावको लुप्त करती है, जैसे जल डालनेसे अग्नि शान्त हो जाती है, परन्तु स्वभावके अनुकूल चेष्टा उसे बढ़ाती है। शुष्क काष्ठ से अग्नि बढ़ती है। इस नियमसे स्पष्ट हो जाता है कि मनकी घृणा का—अन्तरकी अकुलाहटका लोभ करने वाले असत्कर्म मनके स्वभाव नहीं। सद्गुण ही मनके स्वभाव हैं, क्योंकि उनकी आवृत्तिसे आनन्दानुभूति बढ़ता है।’ इन आधारोंपर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंका दूसरा समूह जो पाश्चात्य जगत्में प्रतिष्ठा पा चुका है और टालस्टाय जैसे महात्मा जिसमें निष्ठा रखते थे, मनके दैवत पक्षमें विश्वास करता है।

मनो-विभाग

भारतीय ऋषियोंने अन्तःकरण चतुष्टय माना जाता है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों मिलकर अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय) कहलाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मनके केवल दो भाग करते हैं—ब्रह्ममन तथा अन्तर्मन। अन्तर्मन संस्कारात्मक है। हमारे यहाँकी चित्तकी परिभाषा और पाश्चात्य अन्तर्मनमें कोई अन्तर नहीं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ब्रह्ममनमें ही मन और बुद्धि दोनोंका अन्तर्भाव करते हैं। संकल्प-विकल्प करना मनका स्वरूप है, उस संकल्प-विकल्पमें किसे कार्यमें लाना चाहिए और किसे नहीं लाना चाहिए, यह बुद्धिका काम है। निर्णय करने वाली बुद्धिको हमारे शास्त्रोंने मनसे पृथक् माना है।

जाग्रत् अवस्थामें अन्तर्मन या चित्त कार्यशील नहीं रहता। स्वप्नावस्थामें चित्त कार्यशील रहता है। ब्रह्ममन सोता है। सुषुप्तिकी चर्चा करना ठीक नहीं, क्योंकि उस समय कोई अनुभव नहीं होता। इस प्रकार अनुभव वाली केवल दो अवस्थाएँ होनेसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंने मनके दो भेद ही माने हैं। स्वप्नकी एक ऐसी अवस्था भी पाश्चात्य चिकित्सकोंको उपलब्ध हुई है, जो साधारण स्वप्नावस्थासे भिन्न है। इस अवस्थाको रोग माना गया है। सोते-सोते मनुष्य उठ खड़ा होता है। मीलों यात्रा करता है। पत्र या लेख लिखता है और यह सब करते समय वह सोया रहता है। जब वह सचमुच जागता है, उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता कि उसने सोते समय क्या किया है। लेकिन सोते सोते उसने जो यात्रा की, लेख या पत्र लिखा, अथवा जो भी कार्य किया, उसमें कोई भूल नहीं हुई। वे सब व्यवस्थित हुए। ब्रह्ममन सुप्त था, इसमें सन्देह नहीं। अन्तर्मनमें केवल संस्कार हैं, उसमें व्यवस्था करनेकी शक्ति नहीं। ऐसी दशामें उस समयके कार्योंमें सुचारु व्यवस्था, विचार कैसे आये? मनके दोनों भेदोंके अतिरिक्त तीसरी शक्ति होनी चाहिए जो उस समय व्यवस्था स्थापित कर रही थी। भारतीय दर्शन उस शक्तिको 'बुद्धि' कहता है। पाश्चात्य ढंगका ही शब्द रखना हो तो उसे 'निर्णायक मन' कहा जा सकता है।

साधारण स्थितिमें जाग्रत् दशामें बुद्धि मनके साथ ही कार्य करती है। मनका स्वभाव-ही है बराबर सङ्कल्प-विकल्प करते रहना। बुद्धि उसके सङ्कल्प-विकल्पोंमें निर्णय सूचना एवं व्यवस्थाका कार्य करती रहती है।

जब मन सोता है, बुद्धि भी सो जाती है। वह भी मनके साथ थक जाती है। स्वस्थ साधारण समाजकी यही दशा है। कभी-कभी मनमें कोई संस्कार बड़ा प्रबल हो जाता है। मन कोई गम्भीर द्वेष, आसक्ति या आकुलताका प्रभाव चित्तपर छोड़ते समय बुद्धिको उससे प्रभावित कर देता है। फलतः एक प्रकारका मानसिक रोग हो जाता है। उस अवस्थामें मनके सो जानेपर बुद्धि पिछड़े कामकी भाँति उस संस्कारको पूरा करनेके प्रयत्नमें जाग्रत रहती है। चित्ताकी सहायतासे वह कार्यशील होती है। मानसिक रोगके अतिरिक्त मेस्मराइज्म या हिट्‌नोटिज्ममें जब कोई अपनी मानसिक शक्तिसे दूसरेके मनको सुप्त कर देता है, तब सुप्त व्यक्तिके चित्त का संचालन बुद्धि करती है। इसीसे सुप्त व्यक्ति प्रश्नोंका ठीक उत्तर दे पाता है और ठीक आदेशोंको ग्रहण करके उनका पालन करनेमें समर्थ होता है। अनेक बार देवतादि अलक्ष्य शक्तियाँ भी मनुष्यके मनको सूचित कर देती हैं या सोते समय उसकी बुद्धिको प्रभावित करके जाग्रत कर देती है। तब वह विचित्र कार्य करता है और पूर्णतः जाग्रत् होनेपर उसे उन कार्योंका स्मरण नहीं रह जाता। इस प्रकार बुद्धिका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रत्यक्ष है।

शरीरकी एक अवस्था समाधिमें होती है। योगीकी स्नायुओंमें रक्तका दौड़ना रुक जाता है और हृदयका काम बन्द रहता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको इस अवस्थाका ध्यान भी कदाचित् ही आवे, अतः इसका विवेचन वे न कर सकें तो आश्चर्य नहीं; किन्तु ऐसी अवस्था होती है, यह माननेमें किसी भारतीयको आनाकानीका अवकाश नहीं है। समाधि मानसिक एकाग्रताकी चरम स्थिति है। मनकी एकाग्रतासे रक्त एवं हृदयकी गति बन्द होती है तो मनके साथ उसका कोई-न-कोई सम्बन्ध होना ही चाहिए। भारतीय सिद्धान्त है कि कोई शारीरिक क्रिया मनके सहयोगके बिना सम्पन्न नहीं होती। इसीलिए मनकी सम्पूर्ण एकाग्रतामें शरीरकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार मनका जो अंश शरीरका संचालक है, उसे अहङ्कार कहते हैं। पाश्चात्य ढङ्गपर उसको 'संचालक मन' कहा जा सकता है।

शरीरमें तादात्म्यसे ही जड़ शरीरमें चेतनका आभास आनेसे उसमें क्रिया आती है। यह तादात्म्य शरीरमें 'अहं' रूप है। तादात्म्यके सर्वथा भावमें शरीर जड़-क्रिया हीन हो जायगा। इस दार्शनिक रीतिको अहङ्कारका

स्वरूप समझनेके लिए उपयोगमें न भी लें तो भी यह स्पष्ट है कि गाढ़ निद्रामें भी रक्तादिका संचालक कोई जाग्रत् रहता है। सुषुप्तिमें भी मच्छर आदिके काटनेपर हाथ दंश स्थानपर रक्षार्थ चला ही जाता है। सहसा अन्धकारमें किसी वस्तुपर पैर पड़कर हम चौंककर हट जाते हैं। पीछे यदि वस्तु भयप्रद न हुई तो उसे देखकर निश्चिन्त होते हैं। इस प्रकार मन (बहिर्मान) बुद्धि, चित्तसे पृथक् अहङ्कारकी सत्ता सिद्ध है।

भारतीय मनोविज्ञानका पाश्चात्य मतसे भेद

पाश्चात्य मनोविज्ञानसे भारतीय मनोविज्ञानका मूलमें ही इस प्रकार मौलिक भेद है। साथ ही मनके भेदोंके स्वरूपमें भी भेद हैं। मन जिसे कि पाश्चात्य जगत् बहिर्मान कहता है, उनकी दृष्टिसे शिक्षा, संग तथा अध्ययनका प्रभाव उसीपर पड़ता है। यहाँसे मन और बुद्धिमें अन्तर नहीं मानते। फलतः ज्ञान प्राप्तिके लिए उनके समीप दूसरोंसे ज्ञान प्राप्त करनेके अतिरिक्त अन्य साधन रह नहीं जाता। बाह्य संस्कार जो मनपर पड़ते हैं, वही ज्ञान रूप धारण करते हैं। ये संस्कार चाहे व्यक्तिसे पड़े, वस्तुसे पड़े या क्रियासे। बिना बाह्य सहायताके ज्ञान स्वतः उद्भूत होता है; यह बात उनके लिए अद्भुत है। यद्यपि इस प्रत्यक्ष सत्यको वे स्वीकार करते हैं कि एकाग्र मनमें अद्भुत ज्ञातव्य प्रकट होते हैं, पर इसका समाधान वे बाहर ही ढूँढ़ते हैं।

भारतीय शास्त्र मनका स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक मानते हैं। जाग्रत् अवस्था उसीका कार्य है। वह स्वरूपतः सावात्मक है, फलतः उसकी एकाग्रतामें 'व्यापक सच्चिदानन्दधन' का प्रकाश होता है। इसीलिए एकाग्रतामें बाह्य उपकरणोंसे अनपेक्ष ज्ञान उदित होता है। जाग्रत् अवस्थामें मनके साथ बुद्धिका साहचर्य भी रहता है। पागल तथा शिशुमें यह बुद्धि कार्यशील नहीं रहती। बुद्धि ही बाह्य समाज तथा अध्ययनादिके संस्कार ग्रहण करती है। वह राजस है। उसका कार्य ही है मनके संकल्प-विकल्पोंके सम्बन्धमें ठीक सूचना देना, विचार करना। चित्त संस्कारात्मक है। पाश्चात्य अन्तर्मन और भारतीय चित्तमें केवल इतना भेद है कि पाश्चात्य पुनर्जन्मपर विश्वास न करनेके कारण चित्तके जन्मान्तरके पाशव. या दैवत संस्कारोंमें-से किसी एक को उसका स्वरूप मान लेते हैं और उसमें इसी जीवनके संस्कार मानते हैं, पर भारतीय शास्त्र चित्तमें जन्म जन्मान्तरके

पशु, एवं देव सभी प्रकारकी योनियोंके संस्कार मानते हैं। इस जीवनके संस्कार तो उसमें हैं ही। चित्तका कार्य क्षेत्र स्वप्नावस्था है। वहीं उसकी प्रतीति प्रत्यक्ष होती है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अन्तर्मन या चित्तको मुख्यता देते हैं। उनके विचारसे वही मनका वास्तविक रूप है। भारतीय शास्त्र-चित्तकी अपेक्षा मनको प्रमुखता देते हैं। स्वरूपतः तो मन और चित्त एक ही हैं। वैसे मन एकाग्र होकर चित्तसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था सत्त्वगुणकी है। परन्तु चित्तकी संस्कार रूपता मनकी कृति है। मनने जो संस्कार ग्रहण किये, चित्तमें वही संग्रहीत हैं। चित्तके संस्कारोंका ध्वन्स भी मनके द्वारा ही होता है, अतः प्रधानता मनकी ही है।

अहंकारका विवेचन पाश्चात्य जगत्में भारतीय विधिसे हुआ ही नहीं। समाधि जैसी किसी अवस्थासे अपरिचयके कारण वे यहाँ तक पहुँच न सके। अहंकार ही मुख्य अङ्ग है। यह नित्य जाग्रत् रहता है। इसीके साहचर्यसे शरीर, मन, बुद्धिमें क्रियाएँ हैं। इसीके साहचर्यसे शरीर तथा मनके कार्य चित्तमें संस्कार रूपसे आते हैं। यदि शरीर तथा मनके कार्योंमें साहचर्य नहीं अहंकारका तो उन कार्योंके संस्कार चित्तमें न आवेंगे। साधनके क्षेत्रमें यही प्रधान है। चेतनका जड़में तादात्म्य ही इसका स्वरूप है।

मन-संकल्प और पदार्थ

प्रत्येक स्थूल कार्य या पदार्थ मूलमें संकल्प रूप हैं। आज यह बात हमारी समझमें कठिनतासे आती है ; किन्तु भारतीय शास्त्र बतलाते हैं कि आदि युग (सत्ययुग) में जब मनुष्यका संकल्प प्रबल था, तब उसके संकल्पसे ही अभीष्ट पदार्थ प्रकट हो जाते थे। इसी प्रकार संकल्पसे पदार्थका लोप भी होता था। जैसे-जैसे संकल्प शक्ति मनकी अपवित्रतासे क्षीण होती गई, स्थूल अभिव्यक्तिके लिए स्थूलका सहारा लेना आवश्यक होता गया। त्रेतामें यज्ञादिके द्वारा, पदार्थ पाये जाते थे। इसमें संकल्प मूर्त होनेके लिए मूर्त वस्तुओंका केवल सहारा मात्र लेता था, परन्तु आज तो स्थूल-मूर्तके लिए मूर्तपर ही मनुष्य निर्भर हो गया है। संकल्प नितान्त हीनवीर्य हो गया है। भौतिक विज्ञान मूर्तसे ही मूर्तको प्रकट करना है।

यह तो सामान्य बात है कि पदार्थ, जो हम प्रस्तुत करते हैं, पहिले हमारे मनमें होता है चित्रकारका सुन्दर चित्र उसके मनसे ही कागजपर आता है। वह रूप न कागजमें था और न रंगोंमें। इससे भी आगे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि दृढ़ संकल्पसे अविद्यमान पदार्थके रूप, रंग, आकार, रस, स्पर्श, शब्द सभी प्रत्यक्ष कराया जा सकता है। कुशल ऐन्द्रजालिक अपने अङ्गोंको काटता दिखाई पड़ता है। वह दूसरोंको अद्भुत फल, पुष्पादि देता है और उनमें गन्धादि भी प्रतीत होते हैं। पदार्थ न होनेपर भी ऐन्द्रजालिकके संकल्पने मूर्त रूप धारण कर लिया है वहाँ। यदि संकल्पमें स्थायित्व हो तो पदार्थमें स्थायित्व हो जायगा। जैसे वह पदार्थ कुछ क्षण दीखता है, वैसे ही घण्टों, दिनों और वर्षों दीख सकता है। इस प्रकार मूर्तजगत मानसजगतका ही रूप है, इसमें बहुत शंका-सन्देहको स्थान नहीं रहता। पाश्चात्य महान वैज्ञानिक आइन्स्टीनका सापेक्षवाद इसको छोड़कर और कुछ नहीं है कि संकल्पकी अपेक्षासे ही मूर्त रूप, रंग, परिमाणादिकी प्रतीति है। अन्यथा संसार कुछ है नहीं।

‘हम जैसे संकल्प या विचार करते हैं, हमारा जीवन तथा हमारा संसार हमारे लिये वैसा ही बनाता है। यह बात भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों मतोंके महापुरुष मानते हैं। इतनी गम्भीरतामें न जायें तो पुनर्जन्म में विश्वास रखने वालोंके लिए इतना समझना मोटी दृष्टिसे सरल है कि हमारे संकल्पोंके अनुसार ही कर्म होते हैं और फिर उन कर्मोंके अनुरूप ही जन्म मिलता है। इस प्रकार संकल्प ही शरीरके कारण बनते हैं। क्योंकि वृक्ष-लतादिसे लेकर पाषाणादि स्थावर भी जीवयोनियोंमें ही हैं, अतः जगत्का मूर्तरूप संकल्पोंसे ही निर्मित उसीका परिणाम है।

सङ्कल्प किस प्रकार होता है ? हम जो आहार करते हैं—उसीसे हमारे शरीरके प्रत्येक अङ्गोंका निर्माण होता है। आहारका सूक्ष्मांश ही मन बनता है। मनके अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा हैं और वही औषधियोंके भी पोषक हैं। अन्नादि औषधियोंमें चन्द्रमासे जो ज्योत्स्ना तत्व आता है, वही शरीरमें मन बनाता है। इस प्रकार जैसा आहार होगा मन भी वैसा ही बनेगा। जैसा मन होगा, सङ्कल्प वैसे ही करेगा। सङ्कल्पके अनुसार ही आगे जीवन बनेगा। फलतः आहार शुद्धिपर शास्त्र बल देते हैं। पर केवल आहारका ही प्रभाव पड़ता है सो बात नहीं है।

हमारे शरीरपर जैसे आहारके अतिरिक्त स्थान, वातावरण एवं संसर्गका प्रभाव पड़ता है, वैसे ही मनपर भी पड़ता है। जैसे शीत, उष्ण, रोगादिके कीटाणु स्थान, पदार्थ या व्यक्तिके संसर्गसे शरीरको प्रभावित करते हैं ; वैसे ही प्रत्येक पदार्थ एवं व्यक्ति चन्द्र तत्त्वसे ही पुष्ट है। वह चन्द्र या मनस्तत्त्व उसमें आकर उसके अनुरूप हो गया है। जैसे वायु सुगन्धित स्थानमें सुगन्धित तथा दुर्गन्धित स्थानमें दुर्गन्धि युक्त हो जाता है। विश्वमें यह सर्व सामान्य नियम है कि प्रत्येक पदार्थसे परमाणु बाहर निकलते रहते हैं और दूसरे परमाणु उसमें प्रवेश करते रहते हैं। फलतः हम अपने सान्निध्यमें आने वाले प्रत्येक पदार्थ, व्यक्ति या स्थलसे जैसा शारीरिक रूपमें प्रभावित होते हैं, वैसे ही मानसिक रूपमें भी प्रभावित होते हैं और उसे भी करते हैं। अच्छे शुद्ध सङ्कल्प व्यक्तिका साक्षात् सङ्ग न होनेपर भी उसके उपयोगमें आये पदार्थ तथा स्थल हमें अच्छे सङ्कल्पका प्रभाव देंगे। विपरीत व्यक्तिके संसर्ग या उसके संसर्गमें आये पदार्थ एवं स्थलोंसे वैसा प्रभाव प्राप्त होगा। भारतीय आचार शास्त्र इसी मनोवैज्ञानिक भित्तिपर स्थित है।

यदि मन ही संकल्प करता है तो हम ईप्सित संकल्प ही क्यों न कर सकेंगे ? बात ऐसी है कि भारतीय दर्शन मानता है कि मन संकल्प निर्माण नहीं करता। वह संकल्पोंका ग्रहण करता है। जैसे रेडियो यन्त्र शब्द उत्पन्न नहीं करता, शब्द ग्रहण करता है। अनन्त विचार स्तर हैं। मन जिस स्तरमें होता है उसीके सङ्कल्प ग्रहण कर लेता है। जितना अच्छा रेडियो यन्त्र होगा, उतनी दूरके शब्दको स्पष्टतासे ग्रहण कर सकेगा। इसी प्रकार जितना शुद्ध मन होगा, उतने सात्विक सङ्कल्पोंको ग्रहण कर सकेगा। तमोगुण अत्यन्त स्थूल, रज मध्यम तथा सत्व गुण सूक्ष्म है। अतः इन गुणोंके विचार स्तर भी वैसे ही स्थूल या सूक्ष्म हैं। मन जैसा सात्विक राजस या तामस होगा, वैसे ही विचारोंको ग्रहण करेगा। अतः शुभ सङ्कल्पोंके ग्रहणके लिए उसका सात्विक होना आवश्यक है। उसके लिए वैसा आहार, आचार तथा संसर्ग आवश्यक होगा।

मन सङ्कल्प ग्रहण करता है, उत्पन्न नहीं करता—यह बात तो 'परचित ज्ञान' योगसिद्धि सूचित करती है। यदि मन सङ्कल्प उत्पन्न करे तो उसका ज्ञान दूसरेको होनेके लिए कोई माध्यम नहीं होता, परन्तु किसीका मन जिस विचार स्तरमें है, उसी विचार स्तरमें

अपना मन पहुँचानेपर अपने मनमें वही विचार उठेंगे जो उसके मनमें उठते हैं। इस प्रकार उसके मनका ज्ञान हो जायगा। साथ ही यह भी देखा जाता है कि प्रबल सङ्कल्प व्यक्ति दूसरेके मनको प्रभावित करते हैं। मन मूर्त न होनेमें हाथ पकड़ कर कोई कार्य कराने जैसा बल प्रयोग वहाँ शक्य नहीं। परन्तु अपनी शक्तिसे उसे एक विचार स्तरमें रखना या ले जाना शक्य है। पहले बता आये हैं कि मूर्त विश्व सङ्कल्पका ही व्यक्त स्वरूप है। इस जगतके मूर्त रूपका कारण समष्टिके स्वामी ईश्वरका सङ्कल्प है। उस समष्टि कर्ताके सङ्कल्प स्तरोंमें हमारा जिस स्थानपर होता है, हमारे मनमें वैसा ही सङ्कल्प होता है। इस प्रकार हमारा सङ्कल्प मनके एक विचार स्तरमें रहनेका परिणाम है।

मनकी गतिका स्वरूप

मन कोई सङ्कल्प सहसा नहीं करता। क्योंकि वह विचार स्तरोंका ग्रहण करता है, विचारोंका उद्भव नहीं करता, अतः वह एक विचारसे दूसरे विचार तक किसी समताके माध्यमसे ही पहुँचता है। जैसे रेडियोकी सुई क्रमशः ही चलती है, वैसे ही मन एक सङ्कल्पसे दूसरे सङ्कल्पपर पहिले सङ्कल्पसे कोई न कोई समताका माध्यम लेता है। जैसे पीला पुष्प सङ्कल्पमें है तो पीला गाय, पीला वस्त्र, पीताम्बरधारी श्री कृष्ण या पीला मुख, कोई रङ्ग फिर कोई रोगी, इस प्रकार मनमें विचार शृङ्खलाके रूपमें चलते हैं। सहसा मन कहीं कूदता नहीं।

मनकी गतिका शृङ्खला पूर्ण धर्म-मनोनिग्रहके साधकके बड़े कामका है। पन जहाँ, जिस विचारमें है, वहाँसे उसे बलात् लानेमें कठिनाई होती है। ठीक मार्ग यह है कि जिस विचारमें लगा है, वहीसे अभीष्ट दिशामें उसे शृङ्खला पूर्वक लाया जाय। जैसे मन रुपया सोचता है। रुपया-लक्ष्मी और तब लक्ष्मी पति। इसी प्रकार पुत्रके चिन्तनमें है तो पुत्रका आदर्श-बाबा नन्दका पुत्र-भाव और उनके पुत्र नन्द नन्दन। इस प्रकार मनको लाना अधिक सरल तथा मनोवैज्ञानिक है।

मनो-निग्रहके इस प्रसङ्गमें अप्रासङ्गिक होनेपर भी इतना जान लेना ठीक होगा कि मन खाली कभी न रहेगा। उसका स्वभाव कार्य शील है।

अतः उसे कार्य न दिया जायगा तो वह व्यर्थ सङ्कल्प करेगा। साथ ही मन भी हठी बालक-सा धर्म रखता है। यदि बच्चेको घरमें बलात् बन्द कर दिया जाय तो वह छूटनेपर बेतहाशा भागेगा। मनपर बल प्रयोग प्रायः संयमके बाँधको पीछे तोड़ देने वाला ही सिद्ध होता है। अतः बल प्रयोगकी सीमा अभ्यासके रूपमें ही सफल होती है। मन अभ्याससे ही नियन्त्रित होता है। यों मन और प्राण (श्वास) का सम्बन्ध है और दोनों से एकके भी रुकने से दूसरेकी गति रुक जाती है।

मनके सङ्कल्पकी शृङ्खला पूर्ण परम्पराका ध्यान रखकरके भी पाश्चात्य विद्वान् क्योंकि आस्तिक नहीं, अतः सृष्टिमें मिलती जुलती आकृतियोंको देखकर, वे विकासवास्के भ्रममें पड़ गए। यदि सृष्टिमें किसी कारणसे बाध न रहें तो उनकी अस्थि मिलनेपर ये वैज्ञानिक अनुमान करेंगे कि किसी समय बिल्लियाँ छः फुटकी होती थीं। बात यह है कि भारतीय शास्त्र सृष्टिका ज्ञान कर्ता मानते हैं। उस स्रष्टाके पास भी मन है फलतः उसके सङ्कल्पमें भी सारूप्य शृङ्खला रहती है। फलतः उन सङ्कल्पोंसे अभिव्यक्त भौतिक पदार्थों एवं देहोंमें वह समता एवं सादृश्यका अंश लक्षित होता है।

मनके अहंकार युक्त सङ्कल्पोंका प्रभाव चित्तपर पड़ता है। चित्त एकांशमें तदाकार हो जाता है। इस प्रकार वह संस्कारात्मक आकृति चित्तमें अंकित हो जाती है। मन बराबर उससे स्मृति प्राप्त करता है। फिर वैसे ही कर्ममें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सङ्कल्पसे कर्म, कर्मसे संस्कार, संस्कारसे स्मृति और उससे पुनः कर्म, यह चक्र चलता रहता है। बुद्धि—उसका भी संस्कार प्रभावित करते हैं। बुद्धिका निर्णय भी मन अपनी स्वार्थकी सीमा तक ही स्वीकार करता है और उसे अपने रूपमें विचार करनेको विवश करता है। अन्यथा बुद्धि कभी धोखा नहीं देती। यदि बुद्धिको शरीराशक्तिसे तटस्थ होकर सोचने दिया जाय तो उसका निर्णय सदा भ्रान्तिहीन एवं कल्याणकारी होगा।

चित्तके संस्कारोंका यह चक्र तब तक तो है ही, जब तक चित्त या तो भाव प्राबल्यसे पूर्णतः द्रवीभूत नहीं हो जाता या अहंकार चित्तसे तादात्म्य पृथक् करके उसका आधार नहीं नष्ट कर देता। चित्त नाश ही जीवन-मरणसे छुटकारेका उपाय है। जब तक चित्तमें संस्कार हैं, संसारमें संसरण भी होगा। अतः इस सम्बन्धमें स्पष्ट विचार करना है।

हमारे मनमें एक सङ्कल्प आता है, केवल इसलिए कि हमारा मन एक समष्टिकर्ताके सङ्कल्प रूप एक विचार स्तरमें है। उस सङ्कल्पकी

प्रबलताके अनुसार कार्य होता है। इस प्रकार समष्टिकर्ताका वह सङ्कल्प मूर्त रूप धारण करता है। परन्तु उस सङ्कल्प और कार्यको हम अपना मान लेते हैं। अहंकारके इस साहचर्यसे उस कार्यका एक चिह्न, एक संस्कार हमारे मनमें रह जाता है। जैसे हमने एक स्थान देखा, उसे स्मरण रखवा, अब बार बार वहाँ जाएँगे। इस प्रकार मन फिर उसी विचार स्तरमें जाने तथा वैसे ही कार्य करनेका मार्ग बना लेता है। तमोगुण और रजोगुण तो काजल और धूलिकी भाँति हैं। अपवादोंको छोड़ दें तो उनकी प्रवृत्तिमें तो अहंकार रहेगा ही। वे तो चिपकेंगे ही। सत्वगुण ही शुद्ध है। अतः पूरी सावधानी रखनेपर सत्वगुणके कार्यों और सङ्कल्पोंमें ही निर्लिप्त रहनेकी सम्भावना अधिक होती है। प्रयत्न न होनेपर तो वह भी अहंकार युक्त होकर लिप्त होता ही है; परन्तु राजस, तामस सङ्कल्प अहंकारहीन हों, यह असम्भव प्रायः है। अतः मनकी सात्विकता तो प्रथम बांछनीय है।

एक कर्मका संस्कार जो एक ही पलमें होता है, उसका फल युगों तक भोगनेपर पूरा होता है। जैसे मनके एक दो क्षणके चिन्तनको लिखनेमें घण्टों लगते हैं। संस्कार तो सूक्ष्म बीज है। हत्या या चोरीमें कुछ क्षण लगते हैं, पर उनका दण्ड वर्षोंका है। यही बात शुभ कर्मोंकी है। इस प्रकार मनके सङ्कल्प विकल्पोंमें जहाँ भी अहंकार योग देता है, वहाँ उसका संस्कार चित्तपर पड़ जाता है। इस प्रकार चित्तमें संस्कारोंका अपार संचय है। उस संचयकी कोई सीमा नहीं। फलतः वह भोगकर समाप्त किया जा सकेगा, यह आशा भी नहीं, परन्तु उसके संचयका आचार अहंकार है। अहंकारने ही उन्हें एकत्र किया है और उसीके आधारपर वे हैं, अतः यदि अहंकार पृथक् हो जाय तो वे स्वतः समाप्त हो जाएँ। उनके नष्ट करनेका यही मार्ग है। एक व्यक्तिको बहुत मार्गोंका पता था। वह हमें अपने साथ स्थान स्थानपर ले जाता था। सहसा वह मर गया—अब? ऐसे ही मन संस्कारोंको आधार बनाकर विचार स्तरोंका ग्रहण करता था। मनका अस्तित्व उसे 'अहं' बुद्धिसे था। अहंकार गया तो मन गया और मन ही गया तो यात्रा कैसे चले?

“मनो गुणान्वं सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि बिलक्षणानि ।

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णां सृतयो भवन्ति ॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता हिरण्ययो मद्सख उद्विचष्टे ।

मनः सर्वाङ्गं परिगृह्य कामान् जुषन् निबद्धो गुण संगतोऽसौ ॥”

भागवत ॥

मन ही बलवान् गुणोंको उत्पन्न करता है। उन गुणोंसे विचित्र प्रकारके सात्विक, तामस एवं राजस कर्म हैं तथा उन कर्मोंसे वैसी ही योनियाँ प्राप्त होती हैं। निर्विकार इच्छाहीन आत्मा एकाग्रमनमें प्रकाशित होगी गुणके सङ्गसे मन उस आत्माके चिह्न स्वरूप अहंकारसे युक्त होकर गुणोंका साथ करके कामनाओंका उपभोग करते हुए बद्ध होता है।

“नायं जनो मे सुख दुःख हेतुर्न देवतात्मा ग्रह कर्मकालः।

मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥” भागवत।

‘मुझे सुख या दुःख देने वाले न दूसरे ये लोग हैं, न देवता हैं, न ग्रह हैं, न प्रकृति है और न समय है। इस सुख-दुःखका परम कारण मन ही कहा जाता है, जिससे संसार चक्र चल रहा है।’

पदार्थोंमें सुख-दुःख नहीं है, वे मनके भावपर निर्भर हैं, इसके विस्तारकी आवश्यकता नहीं है और यहाँसे आगे मनोविज्ञानका क्षेत्र भी नहीं है। कर्म, कर्म संस्कार तथा कर्म फल—ये कर्म शास्त्रके विषय हैं और कर्मनाश कर्म शास्त्रका लक्ष्य। मनोविज्ञानका क्षेत्र मनका स्वरूप और उसकी कार्यशैलीका परिचय देकर समाप्त हो जाता है। भारतीय मनो-विज्ञानका उद्देश्य मनोनिरोध है। एकाग्र संयत मन ही समस्त लौकिक-पारलौकिक विभूतियोंका आकर तथा मोक्षका उन्मुक्त द्वार है। अतः समस्त साधनोंका लक्ष्य मनकी एकाग्रता सम्पादित कर मनो निरोधकी पूर्णता प्राप्त करनेमें ही है।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतञ्च कर्माणि च सद्ब्रतानि।

सर्वे मनो निग्रह लक्षणान्ताः परोहि योगः मनसः समाधिः ॥”

भागवत।

— — — — —

वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं

मनोविज्ञान ही आस्तिकता और धर्मका प्राण है। पाश्चात्य मनोविज्ञानके भ्रान्त सिद्धान्तोंने लोगोंको धर्मकी ओरसे विमुख कर दिया है और आज सामाजिक बन्धनोंका उल्लङ्घन करके किया जानेवाला उच्छृङ्खल पाशव-व्यवहार, मानसिक दृढ़ता तथा वीरता माना जाने लगा है। मनुष्यने अपनेको पशु मान लिया है और उसका आदर्श पशु हो गया है।

स्वाभाविक घटितार्थों एवं प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे भी पक्षपात एवं अन्धानुकरणके कारण बुद्धिमानोंका समाज बहुत दिनों तक ऐसी भूलें कर सकता है, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। यद्यपि विकासवाद और उसके अनुयायी भौतिक मनोविज्ञानका बहुत अधिक खण्डन पाश्चात्य देशोंके ही सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकोंने किया है और जेम्स, ग्रीन तथा आइंस्टीन आदिने इसपर बड़ी-बड़ी पुस्तकें भी लिखी हैं, किन्तु भारतीय विद्वान् अब भी उसी माया-मरीचिकामें पड़े हैं और भारतीय पाठशालाओंमें अब भी वही भ्रामक मनोविज्ञान पढ़ाया जाता है।

प्रचलित पाश्चात्य मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य प्रारम्भमें जंगली था। वह असभ्य और दुर्बल था। उसके पास न लिपी थी, न भाषा और न सभ्यता। वस्त्रादि तो होंगे ही कहाँसे। धीरे-धीरे मनुष्यकी भाषा, सभ्यता और बुद्धिका विकास हुआ है तथा उत्तरोत्तर होता जा रहा है। हम अपने पूर्वजोंसे अधिक सुसभ्य, बुद्धिमान् एवं सुसंस्कृत हैं। मानव उत्तरोत्तर उन्नति ही करता जा रहा है।

इसके साथ ही यह मनोविज्ञान मनके दो भाग बतलाता है। एक अन्तर्मन और दूसरा बहिर्मन। प्रारम्भमें मनुष्यके बहिर्मनका नाममात्र रूप था। सभ्यताके साथ इस भागका विकास हुआ है। मनुष्य क्योंकि मूलतः पशु-स्वभावका प्राणी है और पशुयोनिसे ही विकसित हुआ है, अतः उसकी प्रवृत्तियाँ पाशविक हैं। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता जाता है, उसके सामाजिक एवं नैतिक बन्धन बढ़ते जाते हैं, उसकी पशुप्रवृत्ति सफल होनेका

Vinay Avasthi Sahib Bhuvan Vani Trust Donations

अवकाश नहीं पाता। लज्जा एवं भयके कारण मनुष्यके पाशविक संस्कार दबे रहते हैं। बहिर्मान सावधानीसे उन्हें बाहर आनेसे रोके रहता है। पर ये पाशविक संस्कार नष्ट नहीं होते। वे अन्तर्मनमें बने रहते हैं और बराबर प्रकट होकर अपनेको चरितार्थ करनेका प्रयत्न किया करते हैं। जितनी पाशविक वासनाएँ हम समाजमें चरितार्थ नहीं कर पाते लज्जा, भय एवं उच्च विचारोंके कारण, वे सब इसी भागमें बढ़ती रहती हैं। जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है तो उस समय बहिर्मान सोता रहता है। अन्तर्मनपर नियन्त्रण नहीं रहता, फलतः वे पाशविक वासनाएँ अपनेको उस समय प्रकट करती हैं। जब इन अन्तर्मनके पाशविक संस्कारोंका दबाव बढ़ जाता है तो मनुष्यका बहिर्मान उन्हें रोकनेमें असमर्थ हो जाता है। फलतः उन्माद-जैसे रोग होते हैं।

इस मतके अनुसार मनुष्यने आदि युगमें विजली चमकते, आकाशसे जल बरसते, ओले पड़ते, वनमें दावाग्नि लगते, आँधी चलते तथा उबार-भाटा समुद्रमें और नदियोंमें बाढ़ आते देखकर भयके कारण अज्ञानवश अज्ञात शक्तियोंको उनका कारण मान लिया। यही कल्पित अज्ञात शक्तियाँ कालान्तरमें मनुष्यकी बुद्धिसे विकसित होकर देवता और ईश्वर बन गये। इनको प्रसन्न करनेके लिए प्रार्थना, पूजा आदि जो आदियुगके मनुष्य करने लगे थे, वही आगे चलकर धर्म बन गया। उसकी विधि और नियम बन गये। इसीलिए इस मतके महापण्डित कहलानेवाले लोग बड़े गर्वसे कहते हैं 'ईश्वर मनुष्यका मानस पुत्र है। धर्म मानवकी दुर्बलताओंका संधी-भाव है।'

इस मनोविज्ञानका फल यह हुआ कि पढ़नेवाले नव-युवक यह माननेको विवश हो गये कि धर्मके साथ सदाचार, संत्यादि भी कल्पित हैं। वे आवश्यकताओंके कारण लज्जा और भयवश ही स्वीकार किये जाते हैं। इस प्रकार असदाचरण, असत्य, चोरी, हिंसा, विश्वासघात, परपीडनसे मनुष्यकी स्वाभाविक घृणा नष्ट हो गयी और सदाचारके नियमोंको तोड़कर व्यवहार करना मानसिक दृढ़ता तथा निर्भीकता माना जाने लगा। कविता, मूर्ति एवं चित्रकला प्रभृतिका आदर्श वासनात्मक अश्लीलता बन गयी। कलाके आकर्षणका हेतु एवं उद्देश्य वासना माना जाने लगा।

गताङ्कमें प्रकाशित 'आवर्तवाद' शीर्षक निबन्धमें यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार विकासवादका सिद्धान्त भ्रममूलक है। डॉविन

विभिन्न जीवोंकी एक काल्पनिक परम्परा ढूँढ़नेमें किस प्रकार भ्रान्त हुआ और सम्मुखके बड़े-बड़े प्रमाणोंको भी नहीं देख सका। इसी प्रकार यह भी बताया जा चुका है कि मानसिक विकास माननेवाले इतना स्थूल प्राकृतिक नियम भी नहीं देख पाते कि जल जब बरसता है, शुद्ध होता है। वह क्रमशः विकृतिको प्राप्त करता है। इसी प्रकार भी विकारोन्मुखी, अधोगामिनी है। वह विकसित होनेका गुण नहीं रखती। अब हम यहाँ यह देखेंगे कि किस प्रकार विकासवादके फेरमें पड़कर वर्तमान पाश्चात्य मनोविज्ञान प्रत्यक्ष घटितार्थोंसे नेत्र बन्द किये हैं।

जब कि मनोविज्ञान यह कहता है कि अन्तर्मन हमारी पशु-प्रवृत्तियोंसे पूर्ण है। उसमें वही वासनाएँ निहित हैं, जिन्हें हम सामाजिक बन्धनोंके कारण चरितार्थ नहीं कर पाते। ये वासनाएँ सदा बाहर आनेका प्रयत्न करती रहनी हैं। ऐसी दशामें उसे यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्येक मनुष्य स्वप्नमें केवल अपनी पाशविक वासनाओंको ही चरितार्थ होते देखता है। क्योंकि स्वप्नमें बहिर्मनके सुप्त हो जानेपर अन्तर्मनपर नियन्त्रण रहता नहीं। अन्तर्मन मनुष्यके मूल स्वभाव अर्थात् पाशविक प्रकृतिके संस्कारों तथा निरोधकी गयी वासनाओंसे पूर्ण है। ये वासनाएँ प्रकट होनेके सतत प्रयत्नमें रहती हैं। फलतः ऐसा मनुष्य हो नहीं सकता, जो स्वप्नमें सत्कार्य या सद्बिचार करे।

स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष इस उपर्युक्त बातका विरोधी है। कम-से-कम भारतमें तो ऐसे इतने मनुष्य हैं, जिनकी गणना करना कठिन है। ये लोग स्वप्नमें भी धर्मका आचरण करते हैं उपासना करते हैं। जाग्रतकी भाँति ही दुर्विचार एवं अधर्ममूलक कार्योंसे घृणा करते हैं। कुछ तो स्वप्नमें भगवद्दर्शन तक करते हैं।

यदि मनुष्यका मन स्वरूपतः पाशविक हो और उसमें केवल उच्छृङ्खल वासनाओंका ही अन्तर्भाव हो तो यह कभी सम्भव नहीं कि वह स्वप्नमें सत्कार्य एवं सद्बिचार करे। देखा यह जाता है कि जो अत्यन्त असदाचारी रहा है, वह भी थोड़े ही दिनोंके सत्संग एवं सत् प्रयत्नसे सुधर जाता है। न केवल बाह्य आचरणमें सुधर जाता है, अपितु वह स्वप्नमें भी अपने पुराने सदाचारके लिए पश्चात्ताप करता और सत्प्रयत्न करता है। इसका अर्थ यह है कि मन मूलतः पाशविक नहीं है। वह विकृत हुआ

है और उसे शुद्ध किया जा सकता है। हमारे शास्त्रोंने मनकी उत्पत्ति अहंकारके सत्त्वांशसे मानी है। वह सत्त्वस्वरूप है। सद्गुण, धर्म तथा आस्तिकता उसका स्वभाव है। अधर्म एवं असदाचार एवं वासनाएँ उसमें संगदोषसे विकृत होनेके कारण आयी हैं। इसीलिए इनको 'विकार' कहा जाता है। प्रकृति भी इसी नियमकी साक्षिणी है। जल पहले शुद्ध रूपमें बरसता है और फिर विकृत होता है। निर्मलता, शीतलता, सुस्वादुपन उसके स्वभाव हैं, स्वरूप हैं। मैल, दुर्गन्ध तथा खागपन उसमें दूसरी वस्तुओंके संयोगसे विकृत होनेके कारण आया है। इसीलिए जलको शुद्ध किया जा सकता है।

हम इतिहासमें देखते हैं कि एक समय भारतमें गृहोंमें ताले नहीं बन्द होते थे। मनुष्य चोरी, झूठ, विश्वासघातकी कल्पना तक नहीं कर पाता था। नारियोंमें सतीत्व साधारण बात थी। असदाचारका अपनाना मनुष्यके लिए एक भयङ्कर आश्चर्यजनक दुर्घटना थी। आज ढूँढ़नेपर कहीं-कहीं ही हमें सच्चे सदाचारी एवं सत्यवादी मिलते हैं। संयम और सदाचारका उपदेश देना पड़ता है और उनका पालन करनेवाला महापुरुष माना जाता है। हम साधारण मनुष्यसे आशा करते हैं कि वह झूठ तो बोलेगा ही, अवसर पड़नेपर चोरी, अनाचार तथा विश्वासघात भी करेगा और आज यह स्वाभाविक हो गया है। मनुष्य अपनी मानसिक एवं शारीरिक दोनों शक्तियोंमें अपने पूर्वजोंसे हीन हुआ है और उत्तरोत्तर प्रत्येक पीढ़ीमें होता जा रहा है।

इन प्रत्यक्ष सत्योंसे नेत्र नहीं बन्द किया जा सकता। ये बताते हैं कि केवल पानी ही विकृत नहीं होता। सम्पूर्ण प्रकृति ही बराबर विकृत होनेका स्वभाव रखती है। प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है। शास्त्र इसी बातकी घोषणा करते हैं। आदियुग सत्ययुग था। आदियुगका मानव शरीरसे सबल, हृदयसे धर्मात्मा एवं संयमी तथा सदाचारी, मनसे दृढनिश्चयी, दयालु, परदुःखकातर, निःस्वार्थ एवं निर्भीक तथा बुद्धिसे प्रबल प्रतिभाशाली तथा बहुज्ञ था। सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति थी आदिमानवमें। धीरे-धीरे उसकी सभी शक्तियोंका ह्रास हुआ। सत्ययुगसे त्रेता, द्वापर होते कलियुग आ गया।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि विद्याका साधारण नियम भूलना है। बढ़ना नहीं है। यहाँ भी प्रकृतिकी वही अधोगामिनी गति स्पष्ट होती है।

आपने जो कुछ पढ़ा या सीखा है, वह बराबर पढ़ने, सीखने और अभ्यास करनेकी अपेक्षा करता है। आपने जो अध्ययन किया है, वह स्वयं तनिक भी नहीं बढ़ता। नवीन अध्ययनों तथा प्रयत्नोंके परिणाम उसमें सम्मिलित करते हुए ही आप उसका भण्डार बढ़ा सकते हैं। अध्ययनजन्य शिक्षाका स्वभाव है भूलना। यह नित्यका मनुष्यका अनुभव है कि वह जितना सीखता है, उसमेंसे अधिकांश भूल जाता है और बराबर भूलता रहता है। सीखे हुए ज्ञानको स्मृतिमें रखनेके लिए उसे बार-बार दुहरानेकी आवश्यकता पड़ती है और इतनेपर भी कुछ अंश तो भूल ही जाता है।

इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं सीख पाता। वह अपने आसपासके व्यक्तियों तथा घटनाओंद्वारा सिखाया जाता है। जैसे पशुका बच्चा उत्पन्न होते ही अपनी आवश्यकताकी चीजें सीखे आता है, वह दूध पीना, चलना, तैरना, दौड़ना जानता है, वैसे मनुष्यका शिशु नहीं कर सकता। मानव-शिशुको दूध पीना भी सिखलाना पड़ता है। मानव सिखाया न जाय तो जलमें तैर नहीं सकेगा। वृक्षपर चढ़ नहीं सकेगा। वह बोल और पैरोंसे चल तक नहीं सकेगा। उसे तो सब दूसरोंद्वारा सिखाया जाता है।

भेड़ियोंद्वारा पालित बच्चे कई बार मिले हैं। कई बच्चे तो बारह-चौदह वर्षके हो गये थे। ये न तो दो पैरोंसे चल सकते थे और न बोल सकते थे। इनके सब आचरण भेड़ियेके समान थे। ये कच्चा मांस खाते और गुराते थे। इसी प्रकार लंदनके चिड़ियाखानेमें एक बालक रक्खा गया था। वह अरबमें हिरनोंके झुंडमें मिला था। वह हिरनोंके समान बोलता, छलाँग भरता और घास चरता था। एक बार वह चिड़ियाखानेसे भाग गया। दो मोटरोंको दौड़ाकर उसे कठिनतासे पकड़ा जा सका, क्योंकि वह चालीस मील प्रति घंटेकी गतिसे छलाँगें मारता भागा जा रहा था।

इन उदाहरणोंके अतिरिक्त गूँगोंके उदाहरण तो हैं ही। जो नितान्त बधिर होता है, वह अवश्य गूँगा होता है। ऐसे गूँगे तो मिले हैं, जो सुन लेते हैं; परन्तु ऐसे बहिरे एक भी नहीं मिले, जो पूरे बधिर हों और बोल सकें। अधिकांश गूँगे केवल इसलिए गूँगे हैं कि वे पूर्णतः बधिर हैं। क्योंकि उन्होंने शब्द सुना नहीं, अतः बोलना सीख न सके। वैसे उनके मुखके बोलनेके यन्त्र ठीक हैं। अब अमेरिकाने एक ऐसा विद्युत-यन्त्र

बनाया है, जिसे कानमें लगानेसे बहिरे सुन सकेंगे। प्रयोग करके देखा गया है कि इसके द्वारा सुनायी पड़नेके कारण गूँगे बोलने लगते हैं।

ये सब उदाहरण बतलाते हैं कि मनुष्य स्वयं कुछ भी करनेमें असमर्थ है। उसे सब कुछ दूसरोंसे सीखना पड़ता है। यह सीखा हुआ ज्ञान भी भूलता ही है। वह विकसित नहीं होता। यदि मनुष्य स्वयं भाषा या ज्ञानका विकास या उत्पादन करनेमें समर्थ होता तो मनुष्यकी उत्पत्तिसे अब तक होनेवाले वज्रवधिर गूँगे न रहते। उनके वाग्यन्त्र ठीक थे और अवश्य अब तक उन्होंने अपनी कोई-न-कोई भाषा बना ली होती।

यदि मनुष्य स्वयं ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता और भाषा तक नहीं बना सकता तो वह प्रकृतिके संघर्षमें जीवित कैसे है? उसने कहाँसे सीखा इतना ज्ञान, जो उसे आज विश्वपर तथा प्रकृतिपर भी कुछ अंशमें शासन करनेमें सक्षम बना रहा है? उसे आदिमें कौन यह ज्ञान और भाषा सिखाने आया था?

इस बातका उत्तर तो इसी प्रकार पाया जा सकता है कि आजके युगमें भी जो बिना पढ़े तथा दूसरोंसे सीखे भी कबीर, तुकाराम-जैसे अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक रहस्योंको प्रकट करनेवाले हो गये हैं, उन्होंने यह ज्ञान कहाँसे और कैसे पाया? जिस प्रकार, जिससे उन्हें ज्ञान मिला, आदिमानवका भी वही शिक्षक और वही शिक्षा-पद्धति हो सकती है।

आदिमानवने कैसे ज्ञान पाया? इससे पूर्व यह देख लीजिए कि ज्ञान आदिमानवने ही पाया या उसका विकास हुआ है। यह बात सत्य भी है या नहीं कि मूलज्ञान आदिमानवको ही प्राप्त हुआ था। मनुष्य-जाति उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं कर सकी है। उसमेंसे अधिकांश हम भूले ही हैं और इसी भूलके कारण हमारा वर्तमान ज्ञान अव्यवस्थित तथा भ्रमोत्पादक हो गया है।

जहाँ तक ज्ञानका सम्बन्ध है, वह विचाररूप होता है और भाषाके द्वारा व्यक्त होता है। ज्ञानका परस्पर विनिमय भाषाके द्वारा ही होता है। बिना भाषाके ज्ञान किसी दूसरे तक पहुँचाया नहीं जा सकता। अतएव यदि आदिमानव पूर्ण ज्ञानी था तो उसके पास एक सम्पूर्ण भाषा भी रही होगी।

क्योंकि उसने जहाँसे और जिससे ज्ञान प्राप्त किया होगा, उसीसे उसे भाषा भी मिली होगी। बिना भाषाके वह ज्ञान प्राप्त ही कैसे कर सकता था।

यदि यह सत्य है कि हमारा ज्ञान आदियुगसे तनिक भी बढ़ा नहीं है, वह केवल भूला और विकृत ही हुआ है, तो यह भी सत्य होगा कि मनुष्यकी भाषा भी उसी युगकी होगी। उसमें भी कुछ बढ़ा न होगा। वह भी अस्त-व्यस्त तथा विकृत ही हुई होगी। यह ज्ञान और भाषाके विषय परस्पर आश्रित हैं, अतः हम उनपर एक साथ ही विचार करेंगे।

यूरोपके भाषा-तत्त्ववेत्ताओंकी कुछ सम्मतियाँ देना उपयुक्त होगा। प्रोफेसर मैक्समूलरका कहना है—‘मनुष्यकी भाषा ध्वनि अथवा पशुओंकी बोलीसे नहीं बनी।’

इसका अर्थ है कि भाषाके सम्बन्धका ज्ञान मनुष्यने पशुओंसे या प्रकृतिमें होने वाले पत्थरके गिरने, बिजली, जल, अग्नि प्रभृतिके शब्दों-ध्वनियोंसे नहीं सीखा। आगे प्रोफेसर पाट कहते हैं—‘भाषाके वास्तविक स्वरूपमें कभी किसीने परिवर्तन नहीं किया। केवल बाह्यस्वरूपमें परिवर्तन होते रहते हैं। आदि युगसे पीछेकी किसी मानवजातिने एक धातु भी नया नहीं बनाया। हम एक प्रकारके वही शब्द बोल रहे हैं, जो सर्गारम्भमें मनुष्यके मुखसे निकले थे।’

आप भी सोचकर देख लीजिए कि विश्वमें मानवने शब्दोंको यौगिक करने और विकृत करनेके अतिरिक्त क्या एक भी ऐसा शब्द बनाया है, जिसका पहलेसे व्यवहार न होता रहा हो और उसके अर्थको पहलेसे मनुष्य न जानता हो। जो सांकेतिक शब्द बनते हैं, वे भी पुराने ही शब्दोंके संकेत होते हैं। यह कैसे सम्भव है कि एक अर्थ और उसका विचार मानव न जानता हो और उसे बना ले तथा दूसरे उसे समझ भी लें। सांकेतिक शब्द भी तभी समझे जाएँगे, जब वे किसी पूर्वसे आते विचारको व्यक्त करें। उन विचारोंके लिए संकेतसे पूर्व भी शब्द होंगे ही। संकेत तो उस शब्दका एक रूप हुआ। नया शब्द नहीं।

प्रोफेसर मैक्समूलर स्पष्ट कहते हैं—‘मेरा मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भाषा मनुष्यकी बनायी हुई नहीं है। मैं अफलातूनसे सहमत हूँ कि शब्द अनादिकालसे बने-बनाये हैं। मैं इसमें इतना और जोड़ देना चाहता हूँ

कि शब्द अनादि कालसे आये हैं और वे आये हैं ईश्वरकी ओरसे ।' आगे भाषाओंकी विभिन्नताके सम्बन्धमें वे कहते हैं—'निस्सन्देह मनुष्यकी मूल भाषा एक ही थी ।'

एंड्रौजैक्सन डेविस इस बातको और स्पष्टरूपसे बताते हैं—'भाषा, जो एक सार्वजनिक एवं आन्तरिक साधन है, स्वाभाविक एवं अनादि है । भाषाके मुख्य उद्देश्यमें कभी उन्नतिका होना सम्भव नहीं । क्योंकि उसके उद्देश्य सर्वदेशीय और पूर्ण होते हैं । उनमें किसी भी प्रकार परिवर्तन हो नहीं सकता । वे सर्वदा अखण्ड और एकरस होते हैं ।'

कॉलरिक महोदय कहते हैं—भाषा मनुष्यका एक आत्मिक साधन है ।' इसे ज्ञानसे अभिन्न स्पष्ट करते हुए आर० सी० ट्रीनिच० डी० डी० का मत है—'ईश्वरने मनुष्यको बुद्धिके समान वाणी भी दी है; क्योंकि मनुष्यका विचार ही शब्द है, जो बाहर प्रकाशित होता है ।'

इस भाषा और ज्ञानके मूल स्रोतके अन्वेषणमें मैक्समूलर साहब यहाँ तक पहुँचे कि उन्होंने स्वीकार किया है कि—'आदि सृष्टिसे लेकर अब तक कोई भी वित्कुल नया धर्म हुआ ही नहीं ।' इसी सत्यको एंड्रौजैक्सन डेविस अपने शब्दोंमें कहते हैं—'वास्तवमें कभी कोई मनुष्य मूल प्रकाशक नहीं कहला सकता ।'

अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि सम्पूर्ण मानव-समाजकी आरम्भिक भाषा एक ही थी और वह थी वैदिक भाषा । विश्वकी समस्त भाषाएँ उसके विकृतरूपोंसे निष्पन्न हुई हैं । चाहे पौरस्त्य कहें या पाश्चात्य, यह बात समझमें आनी ही चाहिए कि मनुष्य जब भी अपने विचार प्रकट करता है, उसके लिए उसके पास पहलेसे ऐसे शब्द होते हैं, जिन्हें दूसरे समझते हैं । यदि ऐसा न हो तो मनुष्यके विचार प्रकट करनेका कोई अर्थ न रह जाय । शब्दोंको छोड़कर वह विचार प्रकट कैसे करे और उसे सभझे कौन ? इसी प्रकार जब भी शब्द उच्चरित होते हैं, उनका अर्थ पहलेसे निश्चित होता है । अर्थहीन शब्द बोलना मूर्खताका द्योतक है । इस प्रकार शब्द और उसके अर्थका परस्पर वैसा ही सम्बन्ध है, जैसे बीज और वृक्षका । दोनों से एक भी बनाया नहीं जा सकता । दोनों आरम्भसे हैं ।

मनुष्यका सम्पूर्ण ज्ञान विचाररूप ही है। वह भाषाके द्वारा ही व्यक्त होता है। अतः भाषा और उसके अर्थोंको अनादि कहते ही हमें मान लेनेको विवश होना पड़ता है कि मनुष्यका ज्ञान भी अनादि है। यदि एक भी मूल शब्द और उसका अर्थ मानवने नहीं बनाया है तो इसका अर्थ है कि एक भी नवीन विचार और ज्ञान आदि युगसे अब तक मानव उद्भूत नहीं कर सका है। क्योंकि नवीन ज्ञान और विचार नये अर्थद्योतक शब्दोंसे व्यक्त होते और नये शब्दोंका निर्माण तो सम्भव ही नहीं है। उन्हें हम दूसरोंको समझावेंगे कैसे। नये शब्द तो तभी समझे जाएँगे, जब वे पुरानोंके पर्याय मात्र अर्थात् एक विकृत रूप हों और लोग उसका अर्थ पहलेसे जानते हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यकी भाषाके साथ उसका ज्ञान भी आदियुगसे चला आता है। उसका विकास नहीं हुआ है। वह आरम्भसे पूर्ण है। उस ज्ञान तथा भाषामें क्रमशः विकार आया है और इसीसे उसके सहस्रों भेद हो गये हैं। जब वह बढ़ा नहीं है तो भूला तो अवश्य ही है। क्योंकि यह नियम है कि विकृत होने वाली वस्तु क्षीण होती जाती है। फलतः आजका मानव-ज्ञान आदि युगसे बहुत अधिक क्षीण हो गया है। इसीलिए उसमें बहुत भ्रम एवं प्रवादोंको स्थान मिल सका है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा बना है कि बिना सिखाये वह कुछ भी सीखता नहीं। भाषा-तत्त्वविदोंका कहना है कि मानव-भाषा पशुओंकी भाषा तथा प्रकृतिकी ध्वनियोंसे नहीं बनी। अर्थात् मनुष्यने पशुओं और प्रकृतिसे शब्द सीखकर उनके अर्थ कल्पित नहीं किए। क्योंकि ऐसा करनेमें अनेक लोगोंकी कल्पना एक पदार्थके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् होती। कोई रोटीको 'धव-धव' नाम देता तो कोई 'पट-पट' और कोई 'किच-किच'। इस प्रकार कभी सम्पूर्ण भाषा बन नहीं सकती थी। जब भी भाषा मनुष्यको मिली, वह अपने अर्थके साथ प्राप्त हुई। इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यने सम्पूर्ण भाषा और समस्त ज्ञान एक साथ प्राप्त किया। यह मानवको किसने सिखाया ?

विकासवादके भ्रमसे पृथक् होकर जब हम माननेको बाध्य होते हैं कि सर्वाङ्गपूर्ण भाषा और समस्त ज्ञान मनुष्यको आदिमें ही प्राप्त हुआ तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उसकी प्राप्ति या शिक्षा किसी सम्पूर्ण ज्ञान-स्वरूपसे ही हुई होगी।

बिना सम्पूर्ण ज्ञान-स्वरूपके परिपूर्ण भाषा और सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान देता कौन ?

तब क्या ज्ञान-स्वरूप परमात्माने मनुष्यको प्रकट होकर ज्ञान सिखाया ? हम जानते हैं कि ऋषियोंका कहना है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है और उसे परमात्मासे ही ऋषियोंने प्राप्त किया। वेद शब्दका अर्थ ही है ज्ञान। वेदोंमें मन्त्र हैं। मनन शब्दसे मन्त्र बना है। उन मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि हैं और यह बात बता देती है कि मानवने ईश्वरीय ज्ञान कैसे प्राप्त किया।

आरम्भमें मानव-मन विकृत नहीं था। मनका मूलरूप सात्त्विक है। आदि युगमें वह सम्पूर्ण सात्त्विक था। सभी अध्यात्मशास्त्र एक स्वरसे स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण निर्मल एवं शुद्ध मनमें परमात्माकी ज्योति प्रकट होती है। आदि मानवने अपने निर्मल एवं शुद्ध हृदयमें परमात्माका साक्षात् किया। उस समय उसके हृदयमें दिव्य वाणी प्रकट हुई। जिस ऋषिने समाधिमें इस प्रकार जिस मन्त्रको उपलब्ध किया, वह उसका द्रष्टा कहा गया। अर्थात् वह उसे देखने वाला हुआ। वह स्वयं निर्माता नहीं है।

उस दिव्य वाणीपर अपते शुद्ध हृदयमें उस ऋषिने मनको एकाग्र किया। इस प्रकारकी एकाग्रतासे उसने उसका अर्थ जाना। इसी मननके कारण उस ईश्वरीय वाणीको मन्त्र कहते हैं। हमें जान लेना चाहिए कि ज्ञान स्वरूप परमात्मा सर्वव्यापक हैं। उनमें परिपूर्ण ज्ञान है। विशुद्ध हृदयमें उनका साक्षात्कार होता है। उन ज्ञानस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके समस्त ज्ञान हृदयमें प्राप्त किए जा सकते हैं। ऐसा ज्ञान ही पूर्ण भ्रमहीन और शाश्वत होता है। तुकाराम प्रभृति संतोंने अपठित होनेपर भी इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त किया था। ज्ञान-प्राप्तिका यह मार्ग मानवके लिए सर्वदा अनावृत्त है। आज भी इस मार्गसे वही वैदिक ज्ञान पाया जा सकता है। क्योंकि ज्ञान जो सत्य-स्वरूप है, सदा पूर्ण, एकरस और निर्विकार होता है और वह परमात्मामें ही पूर्णरूपसे निवास करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यकी आदि-भाषा, जो सम्यक्-पूर्ण थी, और मनुष्यका सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान मनुष्यको वेदके द्वारा प्राप्त हुआ है। वेद ईश्वरीय वाणी हैं और उनके मन्त्रोंको विशुद्धतम हृदय ऋषियोंने समाधिकी स्थितिमें सुना है।

सृष्टि एवं प्रलय चक्र

पाश्चात्य विज्ञान तो भौतिक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। उसके अनुसन्धानका आधार पुरानी ठठरियाँ, खनिज द्रव्य, पाषाण एवं धातुएँ हैं। यह एक स्वतःसिद्ध बात है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और परिवर्तित होनेके क्रममें पदार्थोंका रूपान्तर हो जाया करता है। अरबों वर्षोंमें ठठरियाँ, पाषाण, लौहादि कितने परिवर्तित हो जायँगे, कहना कठिन है। अतएव ऐसे स्थूल परिवर्तन एवं विनाशशील पदार्थोंको अन्वेषणका आधार बनानेपर भ्रान्ति सहज सम्भव है। वैज्ञानिकोंने प्रथम तो सृष्टिकी आयु कुल दो सहस्र वर्ष अनुमान की। धीरे-धीरे वे दस सहस्र वर्ष तक गये और अब रेडियमके अनुसन्धानने आश्चर्यमें डाल दिया है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीकी आयु अरबों वर्ष होनी चाहिए। भारतीय सर्वज्ञ महर्षियोंने प्रथम ही सृष्टिकी कुल आयु २,१६,००,००,००० वर्ष बतला दी है और उसमें १,६५,५८,८५,०७२ वर्ष व्यतीत हुए हैं। पञ्चांगोंपर यह सृष्टि सम्बत् बराबर छपा करता है। अभी सृष्टिकी आयु २०,४१,१४,६२८ वर्ष और शेष है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक प्राचीन घटनाओं एवं पदार्थोंको यथासम्भव कम प्राचीन सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। उनका अन्वेषण पृथ्वीको कुछ सहस्र वर्षोंका निर्माण मानकर चलता है। फल यह होता है कि भारतीय शास्त्रों एवं शास्त्रीय घटनाओंको समझनेमें वे असफल होते हैं। वास्तविक कालको कम करनेका प्रयत्न बहुत-सी बातोंका अर्थ समझनेमें उन्हें असमर्थ कर देता है। वे नाना कल्पित अर्थोंका आरोप करते हैं और घटनाओंको अव्यवस्थित कर डालते हैं।

शास्त्रोंके वर्णनको समझनेके लिए हमें उसके प्रत्येक अंशको ज्योंका त्यों सब स्वीकार करके ही उसका विवेचन करना चाहिए। सृष्टिकालके सम्बन्धमें ही वैज्ञानिक अब आर्ष समयके लगभग पहुँच गये हैं और उनमें जो उदार विचारके हैं, वे अनुभव करने लगे हैं कि इतिहासादिके सम्बन्धमें अब इस नवीन दृष्टिकोणसे विचार करनेकी आवश्यकता है।

भारतीय काल-प्रमाण नीचेकी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा । इससे यह भी देखा जा सकता है कि ऋषियोंने कालको किस सूक्ष्मतम सीमा तक विभक्त किया था । जितनी देरमें सुई वेगपूर्वक मारनेसे कमल पुष्पके दलको वेध दे उस सूक्ष्म समयको 'लव' कहा जाता है । भारतीय कालमानकी सबसे छोटी इकाई 'लव' है ।

३० लव—१ त्रुटि, २ त्रुटि—१ काल, २ काल—१ मात्रा, १८ मात्रा—१ काष्ठा १/४ से०, ३० काष्ठा—१ कला, ३० कला—१ क्षण, ६ क्षण—१ नाडी, २ नाडी—१ मुहूर्त—४५ मि०, ४ मुहूर्त—१ प्रहर (याम) ३ घण्टा, ८ प्रहर—१ दिनरात्रि, १५ दिनरात्रि—१ पक्ष, २ पक्ष—१ मास, २ मास—१ ऋतु, ३ ऋतु—१ अयन, २ अयन—१ वर्ष—

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि भारतमें चान्द्र, सौर, बार्हस्पत्य, प्राजापत्य एवं ब्राह्म—ये ज्योतिषके पाँच सिद्धान्त हैं । इनमें भेद इतना ही है कि ये उत्तरोत्तर जटिल एवं सूक्ष्मतम विवेचन करनेवाले तथा ठीक परिणाम बताने वाले हैं । इन्हें ज्योतिषकी पाठशालाकी ५ कक्षा कह सकते हैं । ब्राह्म ज्योतिष अत्यन्त जटिल है । उसमें 'लव' तकका विचार होता है । आजकल चान्द्र एवं सौर इन दो सिद्धान्तोंका प्रचार है । शेष लुप्तप्राय हो गये हैं । चन्द्रमाके अनुसार ३६० दिनका और सूर्यके अनुसार ३६५½ दिनका वर्ष होता है । नीचे युगोंका कालमान सूर्यके वर्षोंमें दिया गया है ।

सृष्टिका एक क्रम ४३,२०,००० वर्षोंका होता है । इतने वर्षोंके पश्चात् पुनः सृष्टि-चक्र, पुराने क्रमपर आ जाता है । इन वर्षोंमें सृष्टि निरन्तर अधोमुखी रहती है । ह्रासके प्रधान भेदोंसे इस अवधिको चार भागोंमें विभक्त करते हैं । यही भाग युग कहे जाते हैं । इन युगोंका क्रम इस प्रकार है—

सत्ययुग—१७,२०,००० वर्ष
सत्ययुगका सन्ध्या काल—८,००० वर्ष
त्रेतायुग—१२,६०,००० वर्ष
त्रेताका सन्ध्याकाल—६,००० वर्ष
द्वापर युग—८,६०,००० वर्ष
द्वापरका सन्ध्या काल—४,००० वर्ष
कलियुग—४,३०,००० वर्ष

कलियुगका सन्ध्याकाल—२,००० वर्ष

महायुग या चतुर्युग—४३,२०,००० वर्ष

इकहत्तर महायुग या चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरोके मध्यमें एक सत्ययुगके बराबर सन्धिकाल होता है। एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। मन्वन्तरोके नाम हैं १. स्वायम्भुव, २. स्वरोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सार्वणि, ९. दक्ष-सार्वणि, १०. धर्मसार्वणि, ११. रुद्रसार्वणि, १२, रौच्य, १३. भौत्यक। इन चौदह मन्वन्तरोमें से इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। प्रत्येक मन्वन्तर ३०,६७,२०,००० मानव वर्षका होता है। सब मिलाकर ४,२६,४०,८०,००० वर्ष और सन्धि कालोंके २५,६,२०,००० वर्ष, इस प्रकार ४,३२,००,००,००० वर्षका एक कल्प होता है। यह एक सहस्र महायुगों (चतुर्युगियों) का समय, जिसमें चौदह मन्वन्तर हैं, ब्रह्माजीका एक दिन है। इसीको सृष्टिकाल कहते हैं। अथर्ववेदमें इसका निर्देश है—

शतं ते युत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृष्णः ।

८।१।२१

अर्थात् दस लक्ष तकके विन्दु रखकर उसके आगे क्रमशः दो, तीन और चार लिखनेसे सृष्टिकाल हो जाता है। हमारी सृष्टिकी आयु ४३२ करोड़ वर्ष है।

एक कल्प ब्रह्माजीका एक दिन है। इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस प्रकार अपने दिनोंके अनुसार ब्रह्माजीकी आयु सौ वर्ष है। ब्रह्माजीका यह दूसरा परार्ध चल रहा है। अर्थात् वे पचास वर्षसे अधिकके हो चुके हैं। ब्रह्माजीकी आयु पूर्ण होनेपर महाप्रलय होता है। मानव वर्षोंमें ३५,००,००,००,००,००,००० पैंतीस नील वर्षों तक ब्रह्मलोककी स्थिति रहती है।

आदिमें केवल शान्त प्रकृति थी। सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुण उसमें साम्यावस्थामें थे। सहसा प्रकृतिमें क्षोभ हुआ। यह क्षोभ चेतन तत्त्वके सान्निध्यके कारण हुआ था। इसी क्षोभको महत्तत्त्व कहते हैं। क्षोभ गतिके रूपमें व्यक्त हुआ। गति—आकर्षण एवं विकर्षण रूप ही है नित्य। उसीको अहंकार कहते हैं। 'अहं' और 'त्वं' यह भेद प्रतीति ही अहंकारका स्वरूप है। अहंकारमें तीनों गुणोंके कारण तीन भेद हुए। सात्त्विक, राजस और तामस।

प्रकृतिमें क्षोभजन्य नाद ही प्रणवकी अर्धमात्राका नाद है। उस अर्धमात्रासे तीनों मात्राएँ उत्पन्न हुई। यही अहंकारके त्रिधा भेदका नाद है। इन तीन मात्राओंसे शेष समस्त स्वर एवं व्यञ्जननोंकी उत्पत्ति हुई। ये स्वर एवं व्यञ्जन कल्पित नहीं हैं। ये प्रत्येक तत्त्वके बीज हैं। उसी बीज नादसे उस तत्त्वकी अभिव्यक्ति हुई। इस प्रकार नागरी लिपिका सम्बन्ध सृष्टि तत्त्वके बीजोंसे है। उसकी ध्वनि मूलरूपसे नादके रूपमें प्रकृतिमें व्याप्त है। इतर भाषा वर्णोंके समान वे कल्पित नहीं हैं। अतएव उनमें परिवर्तन करना अज्ञता तो होगी ही, तत्त्व-साधनाके मूलाधारको ही नष्ट करनेका प्रयत्न भी होगा।

अहंकारके प्रत्येक भेद तीन रूपोंमें परिणत हुए। सात्त्विक अहंकारसे चन्द्रमा, मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अहंकारसे बुद्धि, ब्रह्मा, कर्मेन्द्रियाँ, तामस अहंकारसे प्राण, रुद्र तथा पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न हुई। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि चन्द्र, सूर्य या रुद्र आदि देवता न तो सूर्यादि दृश्य ग्रह रूपमें तब तक थे और न उस ग्रहके अधिष्ठाता देवताके शास्त्रवर्णित शरीरके रूपमें। इन रूपोंमें तो वे पीछे आये। उस समय अधिष्ठाता देवता रूप सूर्यके जीव-तत्त्वकी अभिव्यक्ति मात्र हुई थी।

पञ्च तन्मात्राओंमें उत्पत्तिका क्रम है। शब्द तन्मात्रासे आकाश, उससे स्पर्श तन्मात्रा और इस तन्मात्राका स्थूलभूत वायु, वायुसे रूप तन्मात्रा और उसका स्थूलभूत अग्नि, अग्निसे रस तन्मात्रा और उसका स्थूलभूत जल, इसी प्रकार जलसे गन्ध तन्मात्रा और उसका स्थूलभूत पृथ्वी उत्पन्न हुई। ये पञ्च महाभूत विशुद्ध रूपमें थे। पीछे ये परस्पर पञ्चीकृत^१ हुए और तब जो तत्त्व पञ्चीकरणमें मुख्य था, उसका व्यक्त रूप दृश्य जगत्में उस नामसे अभिव्यक्त हुआ।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्राएँ एवं महाभूतादिमें-से प्रत्येककी उत्पत्ति त्रिधा है। उस तत्त्वका बीज, उसका अधिष्ठाता देवता जीव रूपमें और वह तत्त्व। बीज तो नाद रूप है।

१ दृश्य आकाशमें चार पञ्चमांश आकाश और शेष एक पञ्चमांशमें बाकी चार तत्त्व हैं। इसी प्रकार वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदिके इस दृश्य पञ्चीकृत रूपमें चार पञ्चमांश भाग तो उस तत्त्वका है और शेष एक पञ्चमांशमें अन्य तत्त्व हैं।

अधिष्ठाता देवता चेतन तत्त्व है, जिसके आधारपर वह तत्त्व प्रतिष्ठित है और तत्त्व वस्तुतः उस देवताका शरीर है। देवताका देव शरीर तो सूक्ष्म देह है और तत्त्व शरीर स्थूल देह। बीज उसका कारण देह है।

सभी तत्त्वादिकोंकी उत्पत्तिसे भी सृष्टिक्रम चला नहीं। अन्ततः वे उस सर्वेशकी अचिन्त्य योगमाया शक्तिसे एकत्र हुए। उनका घनीभाव अण्डाकार हो गया। यही ब्रह्माण्ड बना। इस ब्रह्माण्डमें चेतन तत्त्वने प्रवेश किया—वही 'विराट् पुरुष' कहे जाते हैं। यह ब्रह्माण्ड था कहाँ? अनन्त ब्रह्मद्रवमें। दिव्य धामोंके बाहर जो विरजाका अनन्त ब्रह्मद्रव रूप शाश्वत प्रवाह है, उसीमें ब्रह्माण्ड स्थिर है। ब्रह्माण्डके भीतर प्रविष्ट परमात्मतत्त्वने अपनेको श्रीनारायण रूपमें साकार किया। उनके शरीरसे अनन्त जल प्रकट हुआ, इसीसे वे 'नारायण' कहे जाते हैं। अपने ही एक स्वरूप शेषकी शय्या बनाकर वे उसपर उस जलमें शयन करते रहे। उनकी दिव्य योगमाया शक्ति महालक्ष्मीके रूपमें उनके चरणोंको दवाती रहीं। उन्हीं नारायणकी इच्छासे उनकी नाभिसे एक कमल प्रकट हुआ। अब प्रथम उस कमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए। ब्रह्माजीका चेतन तत्त्व तो प्रथम ही व्यक्त होकर अण्डमें प्रविष्ट हुआ था, अब वह देव शरीरके रूपमें व्यक्त हुआ। इसके आगेकी ब्रह्मसृष्टिका पुराणोंमें पर्याप्त विस्तार है। ब्रह्माजीने तप किया। उन्होंने अपने अन्तःकरणमें नारायणका साक्षात्कार किया। वहीं उन्होंने पूर्वकल्पकी सृष्टिको देखा और उसे व्यक्त करने लगे।

ब्रह्माजीने मानसिक सृष्टिकी। प्रथम उनके मनकी जैसी सात्त्विक, राजस, तामस अवस्था थी, उस प्रकारकी अभिव्यक्ति होने लगी। ब्रह्माजी कुछ नूतन नहीं बना रहे थे। पुरा कल्पकी सृष्टि उनके मनके संकल्पके माध्यमसे व्यक्त हो रही थी। उनका संकल्प अव्यक्त अमूर्त जीवोंको व्यक्त मूर्त रूप देता जाता था।

प्रजापतिगण, सनकादि ऋषि, यक्ष, राक्षस, नाग, रुद्र ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिके विस्तार हैं। सन्ध्या, ऊषा, आदिके अधिष्ठातृ देवता भी उन्हींसे व्यक्त हुए। अन्तमें उनके शरीरसे मनु एवं शतरूपा प्रकट हुए। यहाँसे मैथुनी सृष्टि चली। मनुकी कन्या देवहूतिजीका विवाह कर्दमजीसे हुआ और कर्दमजीकी कन्याएँ महर्षि कश्यपको विवाह दी गयीं। अधिकांश जड़ चेतन सृष्टिकी उत्पत्ति कश्यपजीसे हुई।

कश्यपजीसे नानाविधि सृष्टि कैसे हुई ? यह प्रश्न केवल इसलिए उठता है कि हम इस सत्यको अब समझनेमें असमर्थ हो गये हैं कि स्थूल अभिव्यक्त संकल्पका ही मूर्त रूप है। क्योंकि हमारा संकल्प हीनवीर्य हो चुका है, अतः हम बिना मूर्तकी (पदार्थकी) सहायताके मूर्त (पदार्थ) का निर्माण करनेमें असमर्थ हो गये हैं। लेकिन जब संकल्प वीर्यवान् था तो उसे मूर्त होनेके लिए मूर्त (पदार्थ) की सहायता अपेक्षित नहीं थी। आज भी इतना तो स्वीकार ही किया जाता है कि माताके चिन्तनका प्रभाव गर्भस्थ सन्तानकी आकृतिपर पड़ता है अतः जब संकल्प पूर्ण शक्तिशाली था तो महर्षि कश्यपकी पत्नियोंकी भावनाके अनुसार उनकी सन्तानें हुई, इसमें तर्कके लिए स्थान ही कहाँ रहता है।

यह सृष्टिका मूलक्रम है। ब्रह्माजी जब उत्पन्न होते हैं तो सृष्टि इसी क्रममे होती है लेकिन यह तो महाप्रलयके पश्चात्की सृष्टिकी बात है। पृथ्वीपरके समस्त जड़-चेतनात्मक जगत्का अन्त तो प्रलयमें ही हो जाता है। महर्षियोंने एक सिद्धान्त किया है कि जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। यदि विचारपूर्वक इस बातका विश्लेषण करें तो ब्रह्माण्डकी सृष्टि-प्रलय समझनेमें कठिनाई न होगी। महाप्रलयके पश्चात्की ऊपर वर्णित सृष्टि तो शरीरकी उत्पत्ति है। माताके उदरमें अण्डसे शरीरकी उत्पत्ति जैसा ही क्रम है ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका। वह योगमाया और वह ब्रह्माण्डका निवास ब्रह्मद्रव-माताका गर्भाशय—इनकी विवेचना पृथक्की जा सकती है। यह दिव्य धाम का विषय है। शरीरकी उत्पत्तिके पश्चात् जैसे हमारे दिन-रात्रि होते हैं, वैसे ही ब्रह्माजीके भी दिन-रात्रि होते हैं। वही व्यक्त जगत्में सृष्टि-प्रलय बनते हैं।

हमारे दैनिक जीवनमें बहुत कुछ समता है और कुछ अन्तर भी पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक कल्पकी सृष्टिमें बहुत अधिक साम्य होता है और कुछ वैषम्य भी। पुराणोंमें कल्पभेदसे कथाभेद वही अन्तर सूचित करता है। वैसे जैसे हम नित्य वही प्रातः कृत्य, स्नान, भोजनादि करते हैं, वैसे ही प्रत्येक कल्पोंमें सृष्टिक्रम भी एक-सा चलता है। वही प्रजापति, मनु, अवतार, जीव—इस प्रकार बहुत साधारण अन्तरसे एक कल्पका इतिहास दूसरे कल्पमें आवृत्ति करता है। 'यथा पूर्वमकल्पयत्' में शास्त्र यही बात कहते हैं।

हमारे सोनेपर इन्द्रियाँ मनमें और मन अन्तःकरणमें लीन हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्माजीके शयन कालमें देवता उनके मनमें प्रवेश कर जाते

हैं, फलतः देवताओंका अधिष्ठान न पाकर स्थूल भूत जड़से पड़े रहते हैं। जैसे हमारे सोनेपर इन्द्रिय गोलक संज्ञा शून्य रहते हैं, वैसे ही। पृथ्वी नष्ट नहीं होती वह केवल जलमग्न हो जाती है। इस प्रकार जल-प्रलयका वर्णन पुराणोंके अतिरिक्त बाइबिल और यहूदियोंकी पुरानी धर्म-पुस्तकमें तथा कुरानमें भी है।

प्रलय कैसे होता है ? मनःतत्त्वका बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण है। स्थूल जगत्में सहसा आदित्यका तेज बढ़ जाता है। फिर ममूद्र उमड़ पड़ते हैं और धरातल डूब जाता है। नक्षत्र-मण्डल तक डूब जाते हैं—अन्धकारमें। महाप्रलयके समय बात यहाँ तक नहीं रहती। उस समय भगवान् शेषके मुखसे अग्नि प्रकट होती है, वह ब्रह्माण्डको भस्म कर देती है। प्रचण्ड वायु उस भस्मको बिखेर देता है। युगों तक चलकर अन्तमें प्रलय-वृष्टि होती है और समुद्र उमड़ते हैं। ब्रह्माण्डकी भस्म-जड़में घुल जाती है। जल गन्ध तन्मात्राको विलीन कर लेता है। जल स्वतः सूखता है और अग्निमें रस तन्मात्रा लीन हो जाती है। अग्नि शान्त होता है, रूपा तन्मात्रा वायुमें लीन हो जाती है। वायुकी गति बन्द होनेपर स्पर्श तन्मात्रा आकाशमें समाप्त होती है। आकाश शब्दमें, शब्द अहंकारमें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ और देवता भी अपने कारण अहंकार महत्त्वमें और मात्राएँ नादमें लीन होती हैं। नाद शान्त होता है, महत्त्वका क्षोभ नष्ट हो जाता है, प्रकृति साम्यावस्थामें आ जाती है। यही महाप्रलय है।

कल्पान्तमें प्रलयके समय भूः, भुवः, स्वः लोकके प्राणी ही नष्ट होते हैं। महः लोक नष्ट तो नहीं होता, किन्तु अत्यन्त तप्त हो जाता है। तपोलोक भी रहने योग्य नहीं रहता। सनकादि ऋषि वहाँसे जनलोकमें चले जाते हैं उस समय। महाप्रलयके समय तो ब्रह्माजीका सत्यलोक—ब्रह्मलोक भी नष्ट हो जाता है। उस समय ऋषि आदि कारक पुरुष तथा वे पुरुष जो देवयान मार्गसे ब्रह्मलोक पहुँचे होते हैं, ब्रह्माजी द्वारा ज्ञान प्राप्त करके उन्हींमें प्रविष्ट हो जाते हैं और ब्रह्माजीपर निर्वाणमें प्रवेश कर जाते हैं। जो जीव यज्ञादि कर्ममें ब्रह्मलोक गये होते हैं, वे सामान्य जीवोंकी भाँति दूसरी सृष्टिमें पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यह प्रलय एवं सृष्टिका चक्र चलता रहता है।

देहतत्व

‘शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्’ क्योंकि हिन्दू समाजमें जो कर्म, धर्म नहीं हैं, उन्हें करना ही नहीं चाहिए, यह मान्यता है, अतएव शरीरको समस्त धर्मोंका प्रथम साधन बताया गया है। समस्त कर्मोंका प्रथम साधन शरीर है, यह बात जो धर्मसे पृथक् करणीय कर्म मानते हैं, उनके लिए ही कही जा सकती है। आदि कालसे मनुष्योंकी दो प्रकारकी प्रवृत्ति रही है। एक वर्गने शरीरको ही साध्य मान लिया। उपनिषदोंके अनुसार देहात्मवादकी यह परम्परा विरोचनसे प्रारम्भ हुई। असुरोंने शरीरको ही आत्मा माना। शरीर सुख ही लक्ष्य बना। मरनेके पश्चात् भी शरीर सुरक्षित रखा जाने लगा। यही धारणा नास्तिक दर्शनका आधार हुई। शरीरके नाशसे जीवका नाश माना गया। ‘ऋणं कृत्वा घृतं पिव’ को सिद्धान्त बताया गया। आजका अधिकांश समाज देहात्मवादी है। साम्यवादी तो इस बातको स्पष्ट ही कहते हैं; परन्तु आस्तिक कहलाने वाले हम सब भी असत्य, घूसखोरी, धोखादिका आश्रय शरीर सुखके ही तो लेते हैं। शरीरके नाशके पश्चात् भी कुछ अवशेष रहता है, इसपर पक्का विश्वास हो तो अधर्म हो कैसे सकता है।

आसुरी भाव-धारासे भिन्न हिन्दू भाव-धारा यह है कि शरीर साध्य नहीं है, परन्तु वह उपेक्षणीय भी नहीं है। शरीर साधन है। यह स्थूल शरीर नाशवान है; किन्तु इसके द्वारा अनश्वर स्थितिकी प्राप्ति होती है। शरीरकी पवित्रता, रक्षादि इस दृष्टिसे शरीरके लिए न रहकर लक्ष्यके लिए, उनके अनुकूल आवश्यक होती है। शरीरके सुखकी उतनी ही चेष्टा उचित होती है, जितनीसे शरीर ठीक कार्यक्षम रहे। मृत्युके पश्चात्के संस्कार भी जीवकी स्थितिको लक्ष्यमें रखकर किये जाते हैं।

जो मरणोत्तर जीवनपर विश्वास नहीं करते, उनके सम्मुख भी शरीरका प्रश्न है। वे भी शरीर विज्ञानको महत्व देते हैं और जो आस्तिक हैं, उनके लिए भी शरीर प्रथम साधन है। हमारे सम्मुख यह स्थूल शरीर ही सर्व प्रथम आता है। विश्वमें अनेक प्रकारके प्राणी हैं और सबकी शरीर रचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। स्थूल शरीरकी बाह्य एवं आन्तरिक

रचनाका विस्तार चिकित्सा शास्त्रमें पर्याप्त हुआ है। स्नायु, अस्थि, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, चर्म, गोम आदि ही का संघीभाव यह शरीर है। इन सबकी संख्या, स्थिति, कार्य, आकृति आदि चिकित्सा शास्त्रमें ही देखा जा सकता है। इस दृष्टिसे शरीरोंकी बाह्य आकृति एवं भीतरी रचनामें भेद चाहे जितना हो ; परन्तु उनके मूल तत्व एक ही हैं। समस्त शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशके तत्वोंसे बने हैं। सबमें भोजन, पाचन, मलोत्सर्ग, संवेदन एवं परम्परा संवर्धनकी क्रियाएँ चलती हैं। इस प्रकार स्थूल शरीरोंमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

प्राणियोंमें जो भेद है, वह शरीर-रचना और चेतनाकी अभिव्यक्तिका है। शरीर-रचनाका भेद तो गौण है ; क्योंकि जैसे मिट्टीके सब खिलौने आकर भेद रखनेपर भी मिट्टीकी दृष्टिसे एक हैं, वैसे ही शरीरोंके मूल पदार्थ भी एक ही हैं। चेतनाके सम्बन्धमें वर्तमान विज्ञान अभी तक कोई वर्गीकरण नहीं कर सका है। शास्त्रोंने चेतनाके सोलह अंश माने हैं और विश्वमें उनकी अभिव्यक्तिकी सीमा बताई है। इससे पूर्व स्थूल पदार्थोंके पाँच वर्गीकरण किए हैं। ये पंचकोश कहे जाते हैं। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और अन्न—ये कोशोंके आधार हैं जो क्रमशः सूक्ष्मसे स्थूल होते जाते हैं। मूलतः आनन्दमय तत्व ही नित्य सत्ता है और वह विभु है। उसीसे विज्ञान आदि क्रमशः स्थूलत्वको प्राप्त हुए हैं। अन्न अर्थात् स्थूल पदार्थ प्राणात्मक है, वह वायु तत्वोंका ही घनी भाव है, यह विज्ञान आज मान चुका है। पदार्थोंके विश्लेषणमें वह कुछ गेसों, एसिड या अन्तमें विद्युत् ही पाता है। 'सिद्धियों' के सम्बन्धमें बताया जा चुका है कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत मनोमय है। आइन्स्टीनका सापेक्षवाद भी यही कहता है। पदार्थोंका अस्तित्व हमारे संकल्पोंकी अपेक्षासे है।' इस मनोमय तत्वसे ऊपर विज्ञान एवं आनन्दकी अनुभूति तो हो सकती है, परन्तु उनका विश्लेषण शक्य नहीं।

पंचकोश तथा षोडश कला

विश्वकी समस्त जड़ प्रतीत अन्न है। यह स्थूल सत्ता आहार है किसी-न-किसी चेतन पदार्थका। इसमें जब चेतनाकी एक कला अभिव्यक्त होती है तो अन्नमय कोषका विकास होता है। जितने भी उद्भिज (वृक्ष, तृणादि) हैं ये अन्नमय कोषके विकास हैं। इनमें वही एक चेतना कला है।

स्थूल पदार्थ (मिट्टी आदि) इनके आहार हैं। ये श्वासोच्छ्वास करते हैं और अन्तः संवेदन रखते हैं, यह बात विज्ञानने भी अब स्वीकार करली है।

अन्नमय कोषसे आगे चेतनाकी दो कला विकसित हुई प्राणमय कोषमें। स्वेदज प्राणी तथा अनेक अमीबा आदि सूक्ष्म जल जीव इसी वर्गके हैं। इनमें चेतना-जीवन बाह्यरूपमें प्रकट हुआ। जैसे वृक्षोंसे खटमल आदि प्राणमय कोषके प्राणी नहीं बने हैं, वैसे ही प्राणमय कोषके प्राणियोंसे मनोमय कोषके जीवोंका विकास नहीं हुआ है, यह बात ध्यानमें रखनेकी है। मछलियां और इसी वर्गके कुछ अंडज प्राणी मनोमय कोषके हैं। चेतनाकी तीन कलाके प्रादुर्भावसे इनमें मनोशक्तिका आविर्भाव हुआ। ये संकल्प-विकल्पको व्यक्त कर सकते हैं। चेतनाकी चार कला पक्षिवर्गके उच्च प्राणियों और पशुओंमें प्रकट हुई। इनमें विज्ञानमय कोष आलोकित हुआ। छोटा होनेपर भी चींटी इसी वर्गका प्राणी है। ये सब प्राणी कुछ न कुछ बुद्धि पूर्वक कार्य करनेकी शक्ति रखते हैं।

अन्तिम आनन्दमय कोशका विकास मनुष्यमें हुआ। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने आनन्दको हास्यके शब्द द्वारा प्रकट कर सकता है। दूसरे पशु आदि मनुष्यकी भाँति क्रोध, दुःख तो शब्द करके प्रकट कर सकते हैं, परन्तु हँस नहीं सकते। जैसे वृक्षोंमें चेतना अव्यक्त है, वैसे ही हास्य उनमें अव्यक्त रहता है। अपनी उछल-कूदसे ही वे अपनी प्रसन्नता प्रकट कर पाते हैं। अन्नमय कोष—उद्भिज ही इन शेष कोषोंके प्राणियोंके आहार हैं। जितने बाह्य चेतना सम्पन्न प्राणी हैं, जिन्हें जीव कोटिमें लिया जाता है, वे सबके सब उद्भिजों या दूसरे जीवोंके शरीरके आहारसे जीवित रहते हैं। मनुष्यमें पहुँचकर स्थूल तत्त्वका विकास पूर्ण होगया। अन्न (पदार्थ) की इतनी ही उत्पत्ति सम्भव है। मनुष्यमें वन्य मूर्ख जातियोंसे लेकर महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष तथा विश्व विख्यात कलाकार एवं वैज्ञानिक होते हैं। प्रतिभाका यह भेद चेतनाके तारतम्यसे है। चेतन तत्त्व की पाँचसे लेकर आठ कला तक मनुष्यमें विकसित होती है। जहाँ जितनी चेतनाका प्रादुर्भाव होता है, वहाँ उतनी ही विशेषता व्यक्त होती है।

पाँच भौतिक शरीर चेतनाकी आठ कला तक ही व्यक्त कर सकता है। वैसे सम्पूर्ण, अखण्ड, एकरस चेतन तत्त्व सर्वव्यापक है; परन्तु जहाँ जिस पात्रमें जितनी योग्यता है, वह उसे उतना ही व्यक्त कर सकता है।

सूर्यका प्रकाश सर्वत्र समान होनेपर भी पत्थर, जल, शीशे आदिमें तारतम्य से ही प्रतिबिम्बित होता है। जैसे कौन सी धातुका तार कितनी विद्युत् का वहन करेगा, यह निश्चित है और उससे अधिक विद्युत् से वह नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य शरीरकी भी क्षमता है। चेतन तत्व तो शक्तिरूप है। वह इस जगतके स्थूल पदार्थोंमें आठ कलासे ऊपर व्यक्त हो नहीं सकता। कोई महापुरुष जब उसमें तादात्म्य करता है तो आठ कला तककी शक्ति तो प्रकट होती है; परन्तु तादात्म्य अधिक बढ़नेपर शरीरमें क्षमता नहीं उसे सह सके। अन्ततः पाँच भौतिक पदार्थोंका ही तो शरीर है। फल यह होता है कि सप्तम भूमिकाकी स्थितिमें पहुँचनेपर शरीर गिर जाता है। जो लोग अवतार विग्रहों और महापुरुषोंमें भेद नहीं समझ पाते, उन्हें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि महापुरुषोंका शरीर पाँच भौतिक होता है, इसीसे उसके द्वारा शक्तिके प्रकट होनेकी सीमा-निश्चित है। अन्यथा तो शास्त्र भी सन्त एवं भगवानमें अभेदका प्रतिपादन करते हैं। अवतारोंके श्री विग्रह पाँच भौतिक नहीं होते। उनके शरीर चिन्मय, नित्य, अविकारी हैं। इसीलिए आराधना, उपासना अवतार विग्रहोंकी ही शास्त्र विहित है।

अग्निपर जहाँ आवरण हों, वहाँ तो अग्निकी शक्तिका प्राकट्य उस आवरणकी शक्तिके अनुसार होगा। शीशेसे ढकी अग्नि, लोहेसे ढकी या भस्मसे ढकी विभिन्न शक्ति केवल आच्छादनकी दृष्टिसे प्रकट करेगी; किन्तु जब अग्निपर से आच्छादन दूर कर दिया गया तो अग्निकी शक्ति तो पूर्णतः व्यक्त हो गई। अब तो जिस आधारपर वह व्यक्त हुई, उसके अनुसार उसकी शक्ति प्रकट होगी। जितना इन्धन होगा, वह उतना प्रभाव प्रकट करेगा। इसी प्रकार जब भगवान् अवतार विग्रह धारण करते हैं तो उनमें पूर्ण शक्ति ही होती है। वहाँ शक्तिका तारतम्य जीवोंकी भाँति नहीं है। वहाँ तो जितना कार्य उस अवतारमें करना था, जिन भक्तोंकी भावनाओंसे प्रभु प्रकट हुए, उनके अनुसार ही शक्तिका प्रयोग हुआ। वहाँ कलाका तारतम्य केवल यह बतलाता है कि प्रभुने किस अवतारमें कितनी शक्तिका विश्वमें उपयोग किया। उनमें तो शक्तिका तारतम्य होता नहीं। अवतार विग्रहोंमें सम्पूर्ण षोडश कलाकी शक्ति होनेपर भी वह आवश्यकतानुसार नौसे लेकर अधिक भी व्यक्त होती है।

मूलतत्त्व सच्चिदानन्दधन है। अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें अपने नित्य दिव्य धाममें आनन्दधनरूपसे विराजता है। उस आनन्दधनकी अङ्गकांति ही

चिन्मय ज्योति है और वही वहाँकी सत्ता है। वह सत्-चित् आनन्द नित्य एक रूप है। योगी हठ योगसे शरीर प्राणके द्वारा सत्ताका अवलम्बन करके उसे प्राप्त करता है। ज्ञानी उसके अखण्ड, निर्विकार ज्ञानरूपका चिन्तन करता वे और भावुक हृदय उसके आनन्दधनरूपकी नित्य माधुरीमें निमग्न होता है। उसीका यह रूप जगतमें अभिव्यक्त है। उसकी योग-मायाके प्रभावने हमारी अन्तःदृष्टिपर एक लीलावरण डाल दिया है। अपने नित्य सखा जीवसे उसकी यह आनन्द क्रीड़ा है। हम इस क्रीड़ामें मुग्ध होकर विश्वको नित्य मान बैठे हैं।

यह पदार्थ आकृति एवं नामकी दृष्टिसे तो कल्पित हैं ही, केवल इनमें सत्ता है। यह सत्ता उसीका सत्त अंश है। इस सत्ताको ही पदार्थ, अन्न आदि नाम दिया जाता है। विज्ञानने सिद्ध कर दिया है कि पदार्थोंका वर्तमान स्थिर रूप एक भ्रम है। वह तो गति रूप हैं। परमाणु भी गत्यात्मक विद्युतके घनीभाव हैं। गति ही प्राण है। वही अधिक उन्नत होकर इच्छा (मन) तथा विवेक (विज्ञान) रूप होता है। विचारसे इच्छा और इच्छासे गति यह बात समझनेमें बहुत कठिन नहीं है। आजकलके वैज्ञानिकोंमें सर ओलिवर लॉज जैसे प्रमुख वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं 'विश्वकी समस्त गति केवल जड़का स्वतः प्रयत्न नहीं है। किसी अज्ञात चेतनकी इच्छा ही इस गतिका संचालन करती है।' इस प्रकार उसी नित्य तत्त्वका चित् अश विज्ञान है जो क्रमशः मन एवं प्राणकी गतिके रूपमें व्यक्त हुआ और इनका मूल है। आनन्द—यह अंश तो अविकृत है। ज्ञानका दुरुपयोग होता है, मन अनर्गल चिन्ताएँ करता है, प्राण शक्तिका भी दुरुपयोग होता है और पदार्थोंके—सत्ताके दुरुपयोगके लिए तो मनुष्यने कमर ही कस ली है; किन्तु आनन्द तो हृदयकी एकाग्रताका धर्म है। भ्रान्तिवश आनन्द प्राप्तिके साधनोंका दुरुपयोग तो होता है, आनन्दको विकृत रीतिसे पानेका प्रयत्न किया जाता है; परन्तु आनन्द स्वयं जब उपलब्ध होता है, वह एकाग्रताकी अनुभूति है। उसका निर्देश शक्य नहीं।

पदार्थोंकी सत्तामें कोई दोष नहीं, उसमें दोष तो मनुष्यके उपयोगने उत्पन्न किए। इसी प्रकार विचार निर्दोष होते हैं; यदि वे हमारी आसक्ति एवं वासनाओंसे प्रभावित न हों। उनकी गति सत्यकी ओर है। आसक्ति ही उन्हें विकृत करती है। आनन्द तो हृदयकी एकाग्रतामें उपलब्ध होता

ही है। उसकी उपलब्धि के साधन ही विकृत किये गये हैं। इस प्रकार स्थूल देह के पञ्च कोषों के मूल आधार सत्, चित्त एवं आनन्द तत्त्व भौतिक रूप में भी अविकृत, निर्दोष हैं; क्योंकि वे सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध तत्त्व के ही व्यक्त रूप हैं। यदि ऐसा न हो तो वह चेतन तत्त्व इनमें व्यक्त ही नहीं हो पाता; क्योंकि नितान्त विपरीत धर्मों का परस्पर संयोग एवं संसर्ग हुआ नहीं करता।

सूक्ष्म शरीर

देहात्मवाद तो इस स्थूल शरीर को ही सब कुछ मानकर सन्तुष्ट हो जाता है; किन्तु धर्म का आधार तो मरणोत्तर जीवन ही है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि जीवन इस शरीर तक ही सीमित नहीं है। क्योंकि अनेक ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनका समाधान दूसरे जीवन का सम्बन्ध माने बिना हो नहीं सकता। पूर्व जन्म की स्मृति रखने वाले बालक तथा अद्भुत प्रतिभाशाली बालक तो हैं ही, मनुष्य के शरीर में जन्म से या पीछे जो पशुओं के चिह्न कभी-कभी प्रकट हो जाते हैं, ये भी पूर्व जन्म के प्रमाण हैं।

स्थूल शरीर के छूट जाने पर क्या रहता है? इसका सीधा उत्तर यह है कि स्थूल शरीर को छोड़कर देख लीजिए। स्वप्न में स्थूल शरीर तो छूट जाता ही है। वहाँ मन, इन्द्रियाँ दि सभी तो रहती हैं। सभी पदार्थों का उपभोग भी वहाँ होता है, केवल स्थूलता मात्र नहीं है। अतः सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चौबीस तत्त्व तथा चेतना ये शास्त्र ने माने हैं और स्वप्न में इन्हें हम प्रत्यक्ष पाते हैं। केवल स्थूल पञ्चभूत स्वरूप यह स्थूल शरीर है। यह जैसे निद्रा में पड़ा रहता है, वैसे ही मृत्यु में भी यही छूट जाता है। पहिले वैज्ञानिक स्थूल शरीर के इन्द्रिय गोलकों से इन्द्रियों को स्वतन्त्र नहीं मानते थे; परन्तु अब वे इसे स्वीकार करते हैं कि स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ वस्तुतः उस इन्द्रिय के कार्य करने का क्षेत्र ही है। ऐसे व्यक्ति मिले हैं जो हाथ, पैर या पीठ से लगा देने पर नेत्र बन्द करके पुस्तकें पढ़ सकते हैं। इसका यही अर्थ है कि उनकी नेत्रेन्द्रिय नेत्रों के गोलकों के अतिरिक्त उन अङ्गों से भी अपना कार्य करने लगी है। नेत्रेन्द्रिय पृथक् माने बिना इन विचित्र पुरुषों के कार्य का कोई समाधान ही नहीं है।

मरणोत्तर जीवनके सम्बन्धमें विचित्र कुतूहल इसलिए उठते हैं कि हम अपने स्थूल शरीरमें स्थित सूक्ष्म शरीरको तथा उसके धर्मको ठीक समझ नहीं पाते। सूक्ष्म शरीरका स्वभाव, स्थूल शरीरसे उसका सम्बन्ध, ये दो बातें समझ लेनेपर फिर मरणोत्तर जीवन कोई रहस्य नहीं रह जाता। जीवनमें हम देखते हैं कि हमें पदार्थोंके उपभोगकी इच्छा होती है, उनकी प्राप्तिका प्रयत्न होता है, उनके उपभोगसे तृप्ति होती है। यह सब क्रियाएँ सूक्ष्म शरीरकी हैं। स्थूल शरीर तो प्रयत्न एवं उपभोग करता है और पदार्थके स्थूल गुण या दोषसे प्रभावित होता है। जिन पदार्थों, स्थानों, व्यक्तियोंके हम सम्पर्कमें आते हैं, उनका स्थूल प्रभाव जो स्वास्थ्यकर, पोषक या रुग्ण करने वाला होता है, वह स्थूल शरीरपर पड़ता है और उनके सूक्ष्म प्रभाव सात्विक, राजस या तामस सूक्ष्म शरीरपर पड़ते हैं। हम जैसे सङ्गमें रहते हैं, हमारे मनपर वैसे प्रभाव पड़ते हैं। अन्नके अनुसार भी मन बनता है। जैसा अन्न खाया जायगा, मनमें वैसे भावोंकी वृद्धि होगी। किसी स्थानपर मनमें पवित्र विचार आते हैं और किसीपर अपवित्र। किसी समय मन प्रसन्न हो जाता है और किसी समय अलस या खिन्न। ये सब प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर पड़ते हैं।

मृत्युके पश्चात् जीवका स्थूल शरीर छूट जाता है। इसलिए स्थूल शरीरके प्रभाव भी उससे छूट जाते हैं; परन्तु सूक्ष्म-शरीर तो तब भी रहता ही है। अतः इच्छा, प्रयत्न, तुष्टि, रोष, खेद आदि भी रहते हैं और व्यक्ति, स्थान, समय आदिके जो सूक्ष्म प्रभाव स्थूल शरीरमें ग्रहण करता था, वह भी ग्रहण ही करेगा। प्रश्न केवल माध्यमका रह जाता है। जब हमारा स्थूल शरीर है, हमारा सूक्ष्म शरीर स्थूल पदार्थोंका प्रभाव इस शरीरके माध्यमसे ही ग्रहण करता है। इस स्थूल शरीरको अपना मान लेनेसे प्रभाव ग्रहणके लिए यह शरीर माध्यम बना है। स्थूल शरीरमें भी जैसे अनेक कार्य हम प्रतिनिधिके द्वारा चलाते हैं और प्रतिनिधिमें अपनत्व होनेसे उसके सम्मान या अपमानसे हमारे सूक्ष्म शरीरमें सन्तोष या रोष-दुःखके प्रभाव होते हैं, वैसे ही मृत्युके पश्चात् स्थूल शरीर छूट जानेपर सूक्ष्म शरीरको अपनी तुष्टिके लिए प्रतिनिधिकी आवश्यकता होती है। विश्वमें प्रतिनिधि सदा वह होता है जो योग्य हो, विश्वासपात्र हो, जिसमें हमारा ममत्व हो। मृत पुरुषका जिनमें जैसा ममत्व है, वे उसका वैसा ही प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

हम संसारमें स्थूल पदार्थोंसे दो प्रकारसे प्रभावित होते हैं, एक तो भावके कारण और दूसरे पदार्थके रूपसे। मृतात्माकी तुष्टि भी पदार्थके रूप एवं भावपर ही निर्भर है और क्योंकि उसके पास स्थूल शरीरका माध्यम नहीं, वह किसी दूसरेके स्थूल शरीरके प्रतिनिधित्वसे ही इसे ग्रहण करेगा।

श्राद्ध

जो सन्तोष, सुखादि हम इस जीवनमें पाते हैं, वह मृत्युके पश्चात् भी पाही सकते हैं, क्योंकि स्थूल शरीरके अतिरिक्त तो सब सूक्ष्म शरीरके उपकरण हमारे साथ ही रहते हैं। अब एक बात प्रतिनिधिकी रह जाती है। क्योंकि स्थूल शरीर जो भोगका माध्यम था, रह नहीं जाता। प्रतिनिधि बनानेका मनोविज्ञान ही यह है कि हम उसमें सब गुण चाहते हैं। स्वयं हममें चाहे जितने दोष हों, परन्तु प्रतिनिधिमें दोष होंगे तो हम उसे स्वीकार न करेंगे। इसीलिए शास्त्रोंमें श्राद्धमें आमन्त्रित ब्राह्मणके लक्षण दिये हैं। उसमें शारीरिक या मानसिक दोष न होने चाहिए। अन्यथा मृतात्मा उसे प्रतिनिधि माननेमें खेदका अनुभव कर सकती है। श्राद्ध करनेका अधिकार उन्हींको होता है, जो कुल आदिके कारण उसका पात्रता रखते हैं। यह बात सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीरके सम्बन्धके कारण है। इसे आगे स्पष्ट करेंगे।

हमारे लिये आज अविचारके खाद्याखाद्यका विचार महत्वपूर्ण नहीं रह गया है और इसीसे हमारे मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्यकी हानि हो रही है; किन्तु मृतात्माको क्या देना चाहिए, किस प्रकार देना चाहिए यह शास्त्रोंमें सूक्ष्म विधान है। स्थूल शरीरके लिए जैसे देश, ऋतु, शरीरकी अवस्थाके अनुसार यहाँ हमारा विस्तृत आहार-विज्ञान है, वैसे ही श्राद्धके समय ही पितरोंको देने योग्य पदार्थोंका विवेचन है। उनके देश, काल, स्वभाव, स्वरूपके अनुसार ही आहार उनके लिये लाभप्रद हो सकता है। सूक्ष्म शरीरके लिए आहारकी आवश्यकता है यह तो आप यहाँ उपवास करें तो पता लग जायगा कि आहारके अभावमें मन-प्राण कैसे शिथिल हो जाते हैं। आहारका सूक्ष्मांश जैसे यहाँ मनको पुष्ट करता है, वैसे ह पितरोंकोतृप्त करता है, पदार्थका स्थूल रूप तो स्थूल शरीरका भोग है। अतः उसका तो न सूक्ष्म शरीर यहाँ उपभोग करता और न मृतात्मा कर सकता।

श्राद्धके काल और स्थानके सम्बन्धमें इतना ही जानना पर्याप्त है कि आहारके लिए सबका समय निर्धारित होता है और पितरोंका काल हमारे

भिन्न है। इसी प्रकार स्थान-निर्णय इस दृष्टिसे होता है कि भूलोकके कौनसे स्थान पितृलोकसे सम्बन्धित हैं। क्योंकि मृत पुरुषका वहाँसे सम्बन्ध जितना पुष्ट होगा, उतना ही वह तुष्टि ग्रहण कर सकेगा।

स्थूल शरीरके साथ सूक्ष्म शरीरका अत्यन्त प्रगाढ़ भाव-सम्बन्ध है। स्थूल शरीरकी हानिसे हम अपनी ही हानि मानते हैं। जो स्थूल शरीरके इस स्नेह सूत्रको त्यागकर जीवनमें ही मुक्तात्मा नहीं हो गये हैं, उनके लिए मृत्युके उपरान्त भी शरीरका मोह छोड़ना सरल नहीं होता। मोह तो मनका धर्म है और जैसे वह शरीरसे पृथक् पदार्थोंमें होता है, वैसे ही शरीरमें भी। अतः सूक्ष्म शरीर इस शरीरसे पृथक् हो जाय, इसीसे वह छूटता नहीं। मृत पुरुषकी आसक्ति स्थूल शरीरके अवशेषोंसे रहते हैं। इसी आसक्ति सूत्रसे तान्त्रिक उनको आकर्षित करके वशमें करते हैं। अतः शरीरको भस्म कर देने और अवशेषोंको तीर्थमें प्रवाहित कर देनेका शास्त्रोंने आदेश दिया है।

सूक्ष्म एवं स्थूल देहका सम्बन्ध

स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध एक तो रक्त-संस्कार जन्य है माता-पिताके संस्कार तथा वंशगत संस्कार पुरुषमें आते ही हैं। इन संस्कारोंकी रक्षा और वृद्धिके लिए जातिकी रक्षा आवश्यक होती है। वर्ण संकरता तथा जाति संकरतामें विकृति आती है। इस प्रकारका जो वंशज सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरका अपने कुटुम्बसे है, वह मरणके उपरान्त भी बना रहता है। किस पीढ़ीमें, किस सन्ततिमें कितना संस्कार आवेगा, यह एक सूक्ष्म विज्ञान है। इसीके आधारपर श्राद्ध करनेका अधिकार प्राप्त होता है। हिन्दू समाजमें सम्पत्तिका विभाजन श्राद्धके इस अधिकारपर ही अवलंबित है। जिसने भी सम्पत्तिका उपार्जन किया, उसका उसपर पूर्ण स्वत्व है। उसके न रहनेपर जो लोग उसे पिण्डदानका जैसा अधिकार रखते हैं, उसी अनुपातसे उनमें उसकी सम्पत्ति विभाजित होनी चाहिए। शास्त्र तो कहते हैं कि जो लोग मृत पुरुषकी अन्त्येष्टि तथा श्राद्ध नहीं करते, उनसे मृत-पुरुषकी सम्पत्ति शासकको छीन लेनी चाहिए। वह सम्पत्ति उनके उपभोग के साथ मृत पुरुषकी तृप्तिके लिए है। पुरुषका प्रभाव अपनी कन्या सन्तानकी अपेक्षा पुत्रमें अधिक आता है, अतः पुत्र ही पिण्डदान और सम्पत्तिका अधिकारी होता है।

स्थूल शरीरसे हमारा दूसरा सम्बन्ध संस्कार जन्य होता है। पति-पत्नीका सम्बन्ध संस्कार जन्य है। संस्कारोंके द्वारा अपनत्व स्थापित होनेपर एकके सुख-दुखका अनुभव दूसरेको भी होता है। दत्तक पुत्रका विधान भी संस्कारके द्वारा ही सम्पन्न होता है। दत्तकका अपना गोत्र परिवर्तित हो जाता है और वह उस कुल-गोत्रका हो जाता है, जिसमें दत्तक आया है। उसे यहाँ पिण्डदानका अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह कर्म मन्त्र-शक्तिसे सम्पन्न होते हैं। जैसे डाक्टर एक शरीरमें दूसरे शरीरका रक्त चढ़ा देता है, वैसे ही मन्त्र-शक्ति यह परिवर्तन करती है। जैसे रक्त चढ़ानेमें अनुकूल रक्त ही लिया जाता है, वैसे ही दत्तक भी अपने ही कुल एवं गोत्रका लिया जाता है। यदि दूसरे कुल-गोत्रका या जिन दत्तकोंका आदेश शास्त्रमें है, उनसे भिन्न दत्तक लिया जायगा तो उसे पिण्डदानका अधिकार प्राप्त न होगा। वह पिण्डदान करे भी तो मृतात्माका उससे सम्यक् सम्बन्ध न होनेसे पिण्डसे तुष्टि न होगी। इस प्रकार दत्तक लेनेका मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा।

तीसरा सम्बन्ध भावका होता है। हम जैसे विश्वमें मित्र बना लेते हैं और उनके सुख-दुःखसे प्रभावित होते हैं, वैसे ही मरणोपरान्त भी हमारी वह आसक्ति बनी रहती है। जिनके कुल गोत्रमें कोई नहीं है, उनके सम्बन्धी या मित्र उनको पिण्डदान कर सकते हैं, ऐसे आदेश हैं। इसके अतिरिक्त जैसे मन्त्र, औषधि तथा इच्छा शक्तिसे यहाँ हम किसीको प्रभावित कर सकते हैं, वैसे ही प्रबल सङ्कल्पके द्वारा मृतात्माको प्रभावित किया जा सकता है। मन्त्र तथा औषधियोंके प्रभाव भी उसपर पड़ते हैं।

हमारा स्थूल शरीर साथ हो या न हो, सूक्ष्म शरीर तो जैसा है, वैसा ही रहेगा। आज सूक्ष्म शरीरसे जगतका जितना सम्बन्ध है, उसमें केवल स्थूल शरीरके नाशसे उसकी सहायता न रह जायगी। आज भी जहाँ हम स्वतः कार्य नहीं चला पाते, वहाँ दूसरोंसे कार्य लेते ही हैं। अवश्य ही स्थूल शरीर न रहनेपर दूसरोंको प्रेरित करना सरल नहीं होता। दूसरे स्वयं अपना कर्तव्य समझकर श्राद्धादि करें तो मृतात्माकी प्रसन्नता एवं आशीर्वादके लाभ तो उन्हें वैसे ही प्राप्त होते हैं, जैसे जीवित व्यक्तिके; परन्तु जैसे जीवित व्यक्ति भी दूसरोंको सङ्कल्पसे हैं किसी कार्यके लिए प्रेरित कर सकें, ऐसी प्रबल सङ्कल्प शक्ति किसी किसीमें ही होती है, वैसे ही मृतात्माके पास केवल सङ्कल्प ही प्रेरणाका साधन है और उसके द्वारा सफल प्रेरणा देनेकी शक्ति सबमें नहीं होती।

स्थूल शरीरका स्वरूप

जहाँ संकल्पके कारण स्थूल शरीरको प्रभावित करनेकी बात आती है, वहीं स्थूल शरीरके वास्तविक स्वरूपको जानना आवश्यक हो जाता है, जो कि संकल्पमय है। सिद्धियोंका विवेचन करते समय पदार्थके संकल्पमय रूपकी विवेचना की गई है। जैसे हमारे स्वप्नके समस्त देह एवं पदार्थ संकल्पमय हैं, वैसे ही जगत भी संकल्प ही है स्रष्टाका। जैसे पसीनेसे एक बार खटमट उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी सन्तति परम्परा चलती है, वैसे ही शरीरका मूल भी संकल्प है और अब शरीरसे सृष्टि परम्परा चल रही है। संकल्प सूक्ष्म शरीरका धर्म है, अतः यह स्थूल देह हमारे सूक्ष्म शरीरकी ही स्थूल आकृति है। उसीके अनुरूप संकल्प स्थूल हो गया है, जैसे एक चित्र दर्पणमें छोटा या बड़ा हो जाना है।

सूक्ष्म शरीरके संकल्पका ही यह परिपाक स्थूल शरीर है, यह बात तब और भी सिद्ध हो जाती है, जब हम सिद्धियोंकी ओर ध्यान देते हैं। एक योगी कायव्यूह बनाता है, अर्थात् एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित हो जाता है। उसके सब शरीर एकसे हैं। एकसे कार्य करते हैं। एक चित्र जैसे अनेक दर्पणोंमें प्रतिम्बित होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर अनेक स्थानोंपर संकल्पके कारण मूर्तिमान हो गया। अब यदि आप डाक्टर शोध करें तो प्रत्येक शरीरमें आपको अस्थि, चर्म, रक्त, मांस प्राप्त हो जायगा। योगी चाहे तो उनमें से किसी शरीरको मृत करके छोड़ सकता है।

कायव्यूहके अतिरिक्त योग सिद्धियोंमें लघिमा, महिमा, अणिमा, गरिमा, अन्तर्धानादि हैं। शरीरसे यह हड्डी, मांस, रक्त कहीं चला नहीं जाता; परन्तु शरीर हल्का, भारी, छोटा, बड़ा या अदृश्य हो जाता है। भौतिक विज्ञान यह कैसे समझेगा? योगीका अपने संकल्पपर अधिकार होता है। वह जैसा दृढ़ संकल्प करता है, शरीर वैसा ही हो जाता है। इच्छा-नुसार वह मनुष्य हाथी, चींटीके रूप क्षणोंमें बदल सकता है। शरीरका रंग बदलना या अवस्था बदलना तो साधारण बात है। संकल्पमय ही जब देह है तो जैसा संकल्प दृढ़ होगा, वैसा देह बन जायगा।

आइन्स्टीनने सिद्ध किया है कि वस्तुमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, रंग आदि गतिकी अपेक्षासे हैं। आप भी जानते हैं कि शरीरसे सहस्रों परमाणु बराबर निकल रहे हैं और सहस्रों उसमें प्रविष्ट हो रहे हैं। शरीर

परमाणुओंके प्रवाहमें एक वैसी ही आकृति है, जैसे जल प्रवाहमें आवर्त । परमाणुओंका प्रवाह यहाँ इसी आकारमें क्यों है ? एक चुम्बकके चारों ओर लौह कण रख दीजिए, वे उससे चिपक जायँगे, परन्तु उनके चिपकनेपर भी उनकी आकृति चुम्बककी आकृति ही बनावेगी । यह शरीर ऐसा क्या आधार रखता है कि निरन्तर गतिशील परमाणु यहाँ यही आकार बनाते हैं ? यह आधार है प्रारब्ध और प्रारब्ध कर्म-संस्कार ही तो हैं । संस्कारोंके मनमें उदय संकल्प रूपको छोड़कर और क्या हो सकता है । हमारे प्रारब्धके अनुसार सृष्टिकर्तके संकल्पके आधारपर परमाणु प्रवाहमें एक आकृति बनी है, जिसे हम स्थूल देह कहते हैं । क्योंकि यह देह प्रारब्धके आधारपर है, अतः कुछ काल स्थायी है । योगीका भी मुख्य रूप तो स्थायी होता है । लेकिन कुछ कालके लिए वह संकल्प बलसे एक परमाणु प्रवाहकी आकृतिका विभाजन करके दूसरी आकृति बना देता है । उसका संकल्प शिथिल होते ही फिर पहिली आकृति बन जाती है । जैसे जलमें हम अपनी क्रियासे स्वाभाविक आवर्तमें परिवर्तन कर देते हैं और क्रिया शान्त होनेपर वह पुनः बन जाता है । इस प्रकार हमारा यह अस्थि मांसका शरीर संकल्पात्मक है । इसलिए इसका कोई भाग (अस्थि आदि) बचा रहे तो वह सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्धित रहता है, क्योंकि वह संकल्पका ही व्यक्त रूप है, जो अब तक अवशिष्ट है ।

देह शुद्धि

जहाँ तक औषधादिसे देह शुद्धि और प्राणायाम, नेती-धोती आदिसे नाड़ी शुद्धिका सम्बन्ध है, बात बहुत सीधी है । शरीरमें मलोंका एकत्र होना और उनका संशोधन सभी समझ सकते हैं । देहशुद्धि होती है मन्त्रोंके द्वारा । भूत शुद्धि और न्यासके द्वारा जो देह शुद्धि होती है, वही आज सामान्य जन समझ नहीं पाते । यह सब ब्राह्मणोंका खटारा लगता है । क्या कोई शब्द उच्चारण करके किसी अङ्गके स्पर्शसे वह अङ्ग शुद्ध हो जायगा ? यह तर्क इसलिए उठता है कि शरीरके पाँच भौतिक रूप तक ही हमारी दृष्टि है । शरीरका संकल्पमय रूप समझ लेनेपर यह तर्क उठना ही नहीं चाहिए ।

पदार्थ संकल्प स्वरूप हैं । संकल्प शब्द रूप हैं । बिना शब्दके कोई संकल्प मनमें आता ही नहीं । शब्द नित्य हैं, भावस्तरोंके ही शब्द हैं और उन भावोंके अधिष्ठाता देवता हैं । थोड़ेमें देवता मन्त्र मूर्ति हैं । दिव्य जगत्की शक्तियोंसे हम शब्दके माध्यमसे ही सम्बन्ध स्थापित कर सकते

हैं। इसीसे मन्त्र देवमूर्ति कहे गये हैं। मन्त्र, यन्त्र, पूजा-पाठके ग्रन्थ ये सब देवमूर्ति हैं। पूज्य हैं। क्योंकि उनमें मन्त्र हैं और उनकी ध्वनियाँ ही नहीं, अक्षराकृतियाँ भी उस क्रममें चिन्मय हैं। यन्त्र तो आकृति ही होता है। आकृति चाहे अक्षरकी हो, पदार्थकी हो, यन्त्रकी हो, स्थूल शरीरकी हो, उसका व्यक्त रूप अव्यक्त संकल्पसे ही बना है। आप बिना संकल्पके एक आकृति नहीं बना सकते। संकल्प शब्द रूप हैं; अतः शास्त्रीय विधानमें अमुक क्रिया करते समय अमुक मन्त्रका पाठ क्यों करना चाहिए, यह बात समझमें आनेकी है। उस क्रिया या आकृतिका देवता जिस शब्दसे सम्बन्धित है, वह आकृति उसी शब्दका मूर्त रूप है। मन्त्रपाठके द्वारा हम उस देव शक्तिको वह आकर्षित करते हैं।

जैसे पदार्थों एवं क्रियाओंके साथ मन्त्रपाठ वहाँ देवताका आकर्षण करता है, वैसे ही शरीरमें भी मन्त्र न्यास देवताका आकर्षण करता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' देवता बनकर देवताका पूजन करना चाहिए; क्योंकि विजातीयका अन्नग्रहण हम नहीं करते तो देवता कैसे करेंगे। न्यासके द्वारा शरीरमें देवस्थापन होता है। न्यासका अर्थ है रखना। मन्त्र मूर्ति देवताओंको अपने अंगोंमें स्थापित करनेकी क्रिया ही न्यास कहलाती है।

इस प्रकारके मन्त्र न्यास तथा सविधि संस्कारका प्रभाव तो पड़ता ही है; परन्तु वह इतना सूक्ष्म है कि स्थूल चित्त होनेसे उसकी अनुभूति नहीं होती। जैसे कुशल गायक ही आलापमें स्वर भेदकी रसानुभूति कर पाता है, साधारण लोगोंको उस 'आं आं' में कुछ विशेषता प्रतीत नहीं होती, वैसे ही मन्त्र संस्कारके प्रभावको भी स्थिर निर्मल चित्त ही अनुभव करता है। शरीर जब कम्पनमय परमाणुओंका घनीभाव है तो उसपर शब्दका प्रभाव पड़ेगा ही, हमें तो यह नियम समझ लेना चाहिए। इसीसे न्यासके पश्चात् कर्मका अधिकार प्राप्त होता है। द्विजाति संस्कारसे दूसरा जन्म माना जाता है और वेदका अधिकार प्राप्त होता है। इन संस्कारोंसे विशेष शक्ति न आती हो तो उनके पश्चात् अमुक कर्मका अधिकार न प्राप्त हो। संस्कार भी सबके सब समय नहीं हो सकते। जैसे औषधादिसे शरीर शुद्धिके समय शरीरकी प्रकृति तथा बलका विचार करके औषधिका निश्चय करना पड़ता है, वैसे ही संस्कारके लिए भी पात्रका निश्चय करना पड़ता है। अनधिकारीका संस्कार सम्पन्न करानेपर जो मन्त्र प्रभाव होगा, वह उसकी शक्ति-प्रकृति आदिके विपरीत होनेपर हानिकर भी हो सकता है। सूक्ष्म रूपसे लाभ करनेके स्थानपर हानि हो, यह किसीको अभीष्ट नहीं

हो सकता। जैसे हम प्रतिद्वन्दिता वश सबल पुरुषके योग्य जुलाब नहीं लेते, वैसे ही अपनेसे सक्षम वर्गके संस्कारोंका आग्रह भी हमें नहीं करना चाहिए। ऐसा आग्रह विचार शीलताका परिचायक नहीं है। वह हानिप्रद है।

भाव देह

जैसे स्रष्टाका संकल्प हमारे स्थूल देह एवं पदार्थोंके रूपमें व्यक्त हुआ है, वैसे ही हमारा संकल्प हमारे स्वप्नके संसारका कारण होता है। सिद्ध पुरुषका प्रबल भाव जिन आकृतियोंको उत्पन्न करता है वे भी भाव-शरीर ही हैं। अत्यल्प कालके लिए बाजीगर भी भाव-चित्रोंकी प्रतीति करा सकता है। बाजीगरके दिखाये दृश्योंमें सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धियोंसे वही भेद है जो वास्तविक पुरुष और सिनेमाको बोलते, चलते चित्रमें।

हम अपनी भावनासे एक मूर्तिका ध्यान करते हैं। ध्यानमें आई वह मूर्ति भाव मूर्ति है। जैसे हमारे ध्यानकी वह मूर्ति भावमूर्ति है, वैसे ही समष्टिमें भावमयी मूर्तियाँ हैं। हमारी भावमूर्ति जैसे हमारे स्थूल देशसे भिन्न संकल्प या भाव देशमें स्थिर है, वैसे ही भावमूर्तियाँ हमारे देशसे भिन्न भाव लोकमें हैं। भावलोक स्थूल देशमें सर्वत्र व्यापक और उससे परे भी है, यह आप अपने भावके लिए स्थानका विचार करें तो स्पष्ट जान लेंगे।

जब हमारा स्थूल शरीर साथ नहीं रहता तो हम स्वप्नके भाव लोकमें रहते हैं। इसी प्रकार स्थूल शरीरकी मृत्युके पश्चात् भी जीव भाव लोकमें ही जाता है। स्वर्गादि भाव लोक हैं और देवताओंके सभी वर्ग भावमय देहसे युक्त हैं। स्थूल देशमें हवाई जहाजसे इन लोकोंको ढूँढ़ना वैसा ही प्रयास है, जैसे कोई बालक स्वप्न देखकर स्वप्नलोककी खोज करे। क्योंकि जब देवता किसीको दर्शन देते हैं, तब भी वहाँ रहने मात्रसे दूसरा उनके दर्शन नहीं पा सकता।

हम संसारमें भावदेहका साक्षात् दो प्रकारसे करते हैं। एक तो जिनसे हमारा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, उनकी भावनाएँ हमारे मनमें स्वतः जागृत होती हैं। अनेक बार आत्मीयोंके संकट या मृत्युके समय दूर देशमें उनके साक्षात् दिखाई पड़नेके उदाहरण इसी प्रकारके हैं। तन्त्रोंमें किसीकी मूर्ति बनाकर अभिचार प्रयोग और वर्तमान मानसिक चिकित्सक अपने रोगीके प्रति स्वास्थ्यप्रद विचारोंका प्रेषण इसी विज्ञानपर करते हैं। दूसरोंके सद्भाव, आशीर्वादसे हमें जो लाभ होता है, वह भाव द्वारा ही होता है। दूसरा रूप भावके व्यवत होनेका है मानसिक मूर्तिका साक्षात्कार

भयके कारण भूतकी प्रतीति और उससे रोग हो जाना तथा योगशास्त्रके अनुसार मानसिक दृश्य प्रकट हो जाना ऐसा ही है ।

भूत वस्तुतः एक योनि है और वह स्वयं भी प्रकट हो सकते हैं । इसी प्रकार देवता हैं और भाव द्वारा आकर्षित होकर वे व्यक्त भी होते हैं । भावके आधारसे उसीके अनुरूप भगवानका साक्षात्कार भी होता है । ये सब बातें वस्तुतः भी हो सकती हैं और मानसिक मूर्ति भी आ सकती हैं । जैसे सिनेमाके चलचित्रोंके वास्तविक पात्र भी हैं ही, वैसे ही मनके संकल्प सर्वथा निराधार नहीं हैं । संकल्पोंके भावस्तर एवं उनके देवता तो नित्य जगतमें हैं ही । यदि हमारा भाव परिपक्व है तो वे देवता दर्शन भी देते हैं । अनेक बार मन स्वयं ध्यान मूर्तियोंको प्रकट कर देता है । ये मूर्तियां बाजीगर की मूर्तियोंकी भांति हैं । जो साधक यहीं रुक जायगा, वह तो निश्चय भ्रममें पड़ा ; किन्तु जैसे बाजीगरका खेल उसकी मानसिक एकाग्रताका सूचक है और वह अधिक बढ़ाई जाय तो बाजीगर सिद्ध हो जायगा, उसकी मूर्तियाँ वास्तविक हो जायँगी, वैसे ही मानसिक मूर्तियोंका प्रकट होना मनकी एकाग्रता तो सूचित ही करता है । इस एकाग्रताकी वृद्धि होनेपर देवता या प्रभुके आराध्य रूपका वस्तुतः साक्षात्कार होगा और उसकी दिव्यता स्वयं सूचित कर देगी कि वह मानसमूर्ति नहीं है । मन वह अलौकिकता सोच भी नहीं सकता ।

छाया देह

जैसे हमारे शरीरका मूल कारण संकल्प है, संकल्प देहकी छाया यह स्थूल शरीर है ; वैसे ही हमारे स्थूल शरीरकी छाया भी हमसे सम्बन्धित है । जैसे स्थूल शरीरके द्वारा हम प्रभावित होते हैं, वैसे ही छाया शरीरके द्वारा भी प्रभावित हो सकते हैं । रामायणमें समुद्रपार करते समय सिंहका राक्षसी द्वारा भी श्रीहनुमानजीकी छायाका ग्रहण वर्णित है । छाया-पुरुषकी सिद्धि भी इसी छायाके द्वारा होती है । इस छायासे भिन्न एक दूसरी सूक्ष्म तेजोमय छाया शरीरकी सदा आकाशमें पड़ती रहती है और ज्योतिष ग्रन्थोंमें अरिष्ट ज्ञानके लिए उस छाया दर्शनका उपाय तथा लक्षण वर्णन किये गये हैं । व्यावहारिक जीवनमें हमारा काम छायासे नहीं पड़ता । अतः छाया सम्बन्धी साधनोंमें ही इसे देखना चाहिए । सामान्य जीवनमें जहाँ तक शास्त्र छायाका बचाव बतलाते हैं, वहाँ उसका प्रभाव समझना कठिन नहीं है । जैसे रजस्वला स्त्रीकी छाया यदि सर्पपर पड़े तो सर्प बहुत देर तक कुछ भी देखनेमें असमर्थ हो जाता है । ऐसी छाया अपवित्र एवं हानिकर है, इसमें तर्ककी आवश्यकता नहीं दीखती ।

भोग देह

इस स्थूल शरीरके छूट जानेपर सूक्ष्म शरीर रह जाता है ; परन्तु सूक्ष्म शरीरमें तो चौबीस तत्व हैं। उनको एकत्र रहनेका कोई आधार चाहिए। दूसरे सूक्ष्म शरीर कभी भी साक्षात् भोगोंको स्थायी रूपसे उपलब्ध नहीं करता। स्वप्नमें भी हम देखते हैं कि स्वप्नके दृश्य यद्यपि सब हमारे ही मनकी सृष्टि हैं, परन्तु वहाँ भी हमारा एक शरीर है और उसी शरीरके सुख-दुःखका हमें भोग मिलता है। जैसे स्वप्नका हगारा शरीर और स्वप्नका सिंह दोनों हमारे ही संकल्प देह हैं, परन्तु स्वप्नका सिंह घायल हो तो हमें कष्ट न होगा। कष्ट तो वहाँके हमारे शरीरके घायल होनेपर ही होगा। स्वप्नके हमारे शरीरकी आकृति हमारे बाह्य स्थूल शरीर जैसी ही होती है। ऐसा इसलिए होता है कि उस समय हमारे सूक्ष्म शरीरका अहंकार स्थूल शरीरमें अहंरूप है। स्थूल शरीरके छूटते ही भावरूप देहकी प्राप्ति होती है। चाहे स्वप्नमें ऐसा हो या मृत्यु होनेसे। यही भावदेह यातना लोकमें यातना देह कहा जाता है और स्वर्गमें भोग देह।

यातना देह या भोग देह कि आकृति, प्रकृतिके सम्बन्धकी सारी जिज्ञासाएँ स्वप्न शान्त कर देता है ; क्योंकि स्थूल शरीरसे पृथक् होकर जो जीवन है, वह वहाँ प्रत्यक्ष है। अन्तर यह है कि स्वप्नसे हम इसी शरीरमें जागृत होते हैं और मृत्यु स्वप्नसे फिर किसी अन्य शरीरमें वहाँका प्रारब्ध लेकर। स्वप्नमें भोग देहकी आकृति आप जानते ही हैं कि इसी देह जैसी है। स्वप्नमें वह काटा जाता है, जलाया जाता है और फिर भी नष्ट नहीं होता। केवल कष्ट पाता है। भाग नहीं पाता। यातना और भोग देहकी भी यही दशा है और जब तक दूसरे स्थूल शरीरमें प्रारब्धके कारण वह नहीं आता, उसकी आकृति पहिले स्थूल शरीर जैसी ही रहती है। इसीसे पहिले स्थूल शरीरके अवशेषोंसे वह सम्बन्धित रहता है और उनके द्वारा आकर्षित किया जा सकता है।

शरीरमें पंचकोशोंका वर्णन पहिले कर आये हैं। कोशका अर्थ है आवरण। चेतनापर ये कोष आवरण रूप हैं। जिस कोशमें चेतनाका जितना विकास है, वह कोश उतना ही सक्षम है। जैसे विश्वके स्थूल रूपमें चेतनाके विकासके अनुसार प्राणियोंका तारतम्य है, वैसे ही भाव लोकोंमें भोग देह और भाव देहोंमें भी ये कोश स्थित हैं और वहाँ भी चेतनाका प्रकाश उसी तारतम्यसे है।

विश्वमें जैसे स्थावर पृथ्वी, जल आदि अन्न हैं, वैसे ही हमारा यह स्थूल जगत अन्न है। समसा भावलोकके प्राणी अपना पोषण यहीसे प्राप्त करते हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्रादि प्रजापति ही इस अन्नका वहन करते हैं। इस अन्नमय भूलोककी स्थूलताके अनन्तर प्राणमय भुवर्लोक है। इसमें वायु शरीरी प्रेतादिकोंका निवास है और उसके ऊपर स्वर्ग। देवता मनोमय हैं। वे भावग्राही हैं। वे भावसे तुष्ट होते हैं, यह सभी जानते हैं। स्वर्गसे ऊपर ऋषिलोक है। ये ऋषि महः, जनः लोक कहे जाते हैं। ये विज्ञानमय लोक हैं। ऋषिज्ञान स्वरूप हैं—ज्ञानमूर्ति हैं और उनकी तुष्टि भी ज्ञानके द्वारा ही होती है। मनुष्यपर तीन ऋणोंमें जो देवऋण है वह यज्ञसे, जिससे देवता मानसिक तुष्टि लाभ करते हैं, दूर होता है। ऋषि ऋण वेदाध्ययनसे दूर होगा है; क्योंकि ऋषियोंकी तृप्ति ज्ञानसे होती है। पितृ ऋण सन्तति परम्परा बनाये रखनेसे छूटता है; क्योंकि पितरोंको पिण्डदान चाहिए। इस प्रकार इस अन्नमय लोकसे सबके अन्न प्राप्त होते हैं। भगवान् ब्रह्माका सत्यलोक तो आनन्द लोक है। वहाँ वही जाते हैं जिन्होंने स्थूल जगत एवं शरीरकी उपेक्षा करके योगके द्वारा सूर्य मंडल भेदन करके ब्रह्मरन्ध्रसे प्राण त्याग किया है। वह लोक बाह्यकी अपेक्षा नहीं रखता। बाह्य सृष्टिका विस्तार पितामह अपने आनन्दके लिए करते हैं। जैसे हम अपने आनन्दके लिए नाना उद्योग करते हैं।

कारण शरीर

शास्त्रोंने सूक्ष्म शरीरका आधार एक कारण शरीर बताया है। ब्रह्मलोकसे लेकर जगत तक स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका कार्य कलाप है। भोग शरीर एवं भाव शरीर भी सूक्ष्म शरीरके आवरक ही हैं और भाव या भोग लोकके वे एक प्रकारके स्थूल शरीर हैं। कारण शरीर क्या है? यह प्रश्न भौतिक अन्वेषणसे सुलझता नहीं। 'कारण शरीर' यह नाम ही बतलाता है कि यह शरीर इतर शरीरोंका कारण रूप है। एक व्यापक चेतन सत्ता जिस सूक्ष्म मायिक कारणसे नाना जीव रूपोंमें विलसित हुई वही कारण देह है। प्रकृतिके जिस सूक्ष्म रूपमें चेतन प्रतिबिम्बित हुआ, उसे समष्टिमें आप महत्त्व कहते हैं और उसमें प्राप्त चेतनको सूत्रात्मा तथा व्यष्टिमें वही चित्तका मूलाधार चिज्जड़ रूप कारण शरीर कहा जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित चेतन जीव है। व्यापक एक रस अखण्ड चेतन जिस कारणसे विभक्त सा है, वही कारण देह है।

सुषुप्तिके अनन्तर हम इसी शरीरमें क्यों जागृत होते हैं? क्यों मृत्युकी भांति जीव इससे पृथक् नहीं हो जाता? केवल इसलिए कि कारण

देह यहाँ विद्यमान रहता है सुषुप्तिमें। निद्राके पश्चात् हम इस स्थूल शरीरके निद्रासे पूर्वके सम्बन्धों और कार्योंको इसीलिए स्मरण रख पाते हैं कि कारण शरीरमें वह परम्परा वर्तमान थी। मृत्युके पश्चात् कदाचित ही हमें पूर्व स्मरण रहता है। सुषुप्तिसे उठनेपर जो सुखसे सोनेका अनुभव है, वह भी कारण शरीरके द्वारा ही हमें प्राप्त होता है। कारण देह न तो वह अनुभव कहाँ जागृत था जो उपलब्ध हुआ ?

साधनके क्षेत्रमें सविकल्प समाधिका क्षेत्र यही कारण देह है। जगत तथा शरीर, इन्द्रियादिसे ऊपर उठनेपर साधन, साधक, साध्यकी त्रिपुटी इसी आधारमें स्थित रहती है। पृथक्ताका बोध-कारण शरीरका केवल यही रूप है और इस रूपकी ठीक-ठीक अनुभूति तभी हो सकती है, जब स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरसे मनको तटस्थ किया जा सके। जैसे सूक्ष्म शरीरको समझनेके लिए स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नकी स्थितिको समझना पड़ता है, वैसे ही कारणको समझनेके लिए सूक्ष्मको छोड़ना होगा। सूक्ष्मको छोड़कर निद्राकी स्थिति तो अज्ञानकी है, अतः वहाँ कुछ समझना सम्भव नहीं। साधनके द्वारा ही इसे समझनेका एक मात्र मार्ग रह जाता है।

कारण शरीरका क्षेत्र सुषुप्ति और समाधिका क्षेत्र है। वहाँ समस्त व्यापारोंका अभाव हो जाता है। अतएव समष्टिमें प्रकृति, माया, शक्तिका एक रस साम्यावस्थामें स्थित रूप ही उसे कह सकते हैं। ब्रह्मकी एकपाद तिभूति, सम्पूर्ण मायिक जगत प्रलयके पश्चात् अनन्त ब्रह्म द्रवमें धूमता हुआ जिस रूपमें रहता है, वही समष्टिका कारण देह है। श्रद्धाके द्वारा हम उसका अनुमान ही कर सकते हैं। व्यष्टिके कारण देहके समान वह भी प्रमाणका विषय नहीं।

नित्य देह

इस मायिक जगतका सम्पूर्ण विस्तार ब्रह्मकी त्रिपाद्विभूतिके नित्य धामसे है। नित्य जगत ही इस जगतमें प्रतिबिम्बित हुआ है। जैसे छाया देह स्थूल देहका और स्थूल देह सूक्ष्मदेहका प्रतिबिम्बित स्थूल रूप है, वैसे ही भाव रूप है और वह नित्यदेहका प्रतिबिम्ब है। साधन दो प्रकारके है, एक तो ज्ञान प्रधान और दूसरे भाव प्रधान। कारण देहको लीन करके व्यापक नित्य चेतन सत्तासे एकात्मता प्राप्त कर लेना, यह ज्ञान एवं योगका लक्ष्य है। नित्य जगतमें जो चिन्मय स्वरूप हमारे इस स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका मूल है, भावके द्वारा उसीमें सात्मताकी उपलब्धि भक्तिका मार्ग है। नित्य जगतके चिन्मय आकार कारण रूप मायामें भावस्तर बनते हैं और वही समष्टिके भाव लोक हैं। यह भाव ही स्थूल होकर स्थूल पदार्थका रूप धारण

करते हैं। जैसे शब्दका ग्रामोफोनमें रेखांकन और उससे फिर शब्दका प्रकट रूप व्यक्त होता है। क्योंकि भाव रूप ही स्थूल एवं स्थूल जगत है, ये भाव नित्य लोकसे सबद्ध हैं, अतः स्थूल एवं सूक्ष्म जगतको भाव प्रभावित करता है और भावसे नित्य लोककी प्राप्ति होती है।

स्थूल जगतकी अपेक्षा जैसे भाव एवं उनके देवादि प्राणी विलक्षण शक्ति रखते हैं, उनकी तुष्टि भावमय है, वैसे ही भाव जगतसे नित्यधाम विलक्षण है। वह चिन्मय है, आनन्द स्वरूप है। वहाँ बाह्यके आधारपर तुष्टि नहीं होती। वह तो तुष्टि स्वरूप है। जैसे स्थूल देह एवं भोग देहमें आकृति साम्य होता है, वैसे ही नित्य देह एवं स्थूल देहमें भी आकृति साम्य है; परन्तु वहीं तक जितनी समता पदार्थ एवं छायामें होती है। स्थूल देहमें वाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था शरीरके विकार हैं, ये शरीरके स्वरूप नहीं, अतएव देवताओंके अविकृत शरीर नित्य किशोरावस्थाके शास्त्रोंने बताया है। जब भावलोकके भोग देहकी किशोरावस्थाके होते हैं, तो नित्यलोकके चिन्मय शरीर तो नित्य किशोरके होंगे ही। वैसे उनमें वात्सल्यादि भावधाम-वात्पर्य भी होते हैं।

चिन्मय लोकोंकी देश विशेषकी कल्पना व्यर्थ है। देशकी कल्पना तो शरीरकी अपेक्षासे होती है। वह तो सर्वगत है। जैसे देवता एक साथ अनेक स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं, पूजा ग्रहण कर सकते हैं, वैसे ही नित्य लोककी भी बात है। इस स्थूल जगतमें भाव जगत और इन दोनोंमें तथा दोनोंसे परे भी नित्य जगत व्याप्त है। भगवान् अपने सगुण साकार विग्रहसे भी सर्वगत ही है। जैसे प्रत्येक स्थानपर प्रत्येक समय आप अपने स्वप्नका कोई भी दृश्य देख सकते हैं, जैसे पृथ्वीके कण-कणमें आकाश व्याप्त है, जैसे शरीरके प्रत्येक स्थानपर चेतना है, वैसे ही नित्य चिन्मय स्वरूप सार्वत्रिक हैं। उनके अवतरण या उनके धामकी प्राप्ति अर्थ नीचेसे ऊपरसे गमन नहीं है। शास्त्रोंके ऊपरका अर्थ सूक्ष्मतामें और नीचेका अर्थ स्थूलतामें है।

विचार या योगके द्वारा कारण देह क्षीण होनेपर जीव व्यापक चित्तत्वसे एक हो जाता है। भावके परिपाक होनेपर वह मायिक जगतसे उठकर उस भावके मूलमें जो चिन्मय रूप है, उसे प्राप्त करता है। मायिक देहसे वह चिन्मय देह प्राप्त करता है, जैसे मृत्युके समय स्थूल देहसे भोग देह सामान्यतः प्राप्त करता। चिन्मय शरीरका तादात्म्य होनेपर कारण रूप मायाकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। अवश्य ही भगवान् की इच्छासे उनके नित्यजन उनकी लीलामें योग देने स्थूल जगतमें आते हैं; परन्तु तब भी वे मायावद्ध नहीं होते।

देह यहाँ विद्यमान रहता है सुषुप्तिमें। निद्राके पश्चात् हम इस स्थूल शरीरके निद्रासे पूर्वके सम्बन्धों और कार्योंको इसीलिए स्मरण रख पाते हैं कि कारण शरीरमें वह परम्परा वर्तमान थी। मृत्युके पश्चात् कदाचित् ही हमें पूर्व स्मरण रहता है। सुषुप्तिसे उठनेपर जो सुखसे सोनेका अनुभव है, वह भी कारण शरीरके द्वारा ही हमें प्राप्त होता है। कारण देह न तो वह अनुभव कहाँ जागृत था जो उपलब्ध हुआ ?

साधनके क्षेत्रमें सविकल्प समाधिका क्षेत्र यही कारण देह है। जगत तथा शरीर, इन्द्रियादिसे ऊपर उठनेपर साधन, साधक, साध्यकी त्रिपुटी इसी आधारमें स्थित रहती है। पृथक्ताका बोध-कारण शरीरका केवल यही रूप है और इस रूपकी ठीक-ठीक अनुभूति तभी हो सकती है, जब स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरसे मनको तटस्थ किया जा सके। जैसे सूक्ष्म शरीरको समझनेके लिए स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नकी स्थितिको समझना पड़ता है, वैसे ही कारणको समझनेके लिए सूक्ष्मको छोड़ना होगा। सूक्ष्मको छोड़कर निद्राकी स्थिति तो अज्ञानकी है, अतः वहाँ कुछ समझना सम्भव नहीं। साधनके द्वारा ही इसे समझनेका एक मात्र मार्ग रह जाता है।

कारण शरीरका क्षेत्र सुषुप्ति और समाधिका क्षेत्र है। वहाँ समस्त व्यापारोंका अभाव हो जाता है। अतएव समष्टिमें प्रकृति, माया, शक्तिका एक रस साम्यावस्थामें स्थित रूप ही उसे कह सकते हैं। ब्रह्मकी एकपाद विभूति, सम्पूर्ण मायिक जगत प्रलयके पश्चात् अनन्त ब्रह्म द्रवमें धूमता हुआ जिस रूपमें रहता है, वही समष्टिका कारण देह है। श्रद्धाके द्वारा हम उसका अनुमान ही कर सकते हैं। व्यष्टिके कारण देहके समान वह भी प्रमाणका विषय नहीं।

नित्य देह

इस मायिक जगतका सम्पूर्ण विस्तार ब्रह्मकी त्रिपादविभूतिके नित्य धामसे है। नित्य जगत ही इस जगतमें प्रतिबिम्बित हुआ है। जैसे छाया देह स्थूल देहका और स्थूल देह सूक्ष्मदेहका प्रतिबिम्बित स्थूल रूप है, वैसे ही भाव रूप है और वह नित्यदेहका प्रतिबिम्ब है। साधन दो प्रकारके है, एक तो ज्ञान प्रधान और दूसरे भाव प्रधान। कारण देहको लीन करके व्यापक नित्य चेतन सत्तासे एकात्मता प्राप्त कर लेना, यह ज्ञान एवं योगका लक्ष्य है। नित्य जगतमें जो चिन्मय स्वरूप हमारे इस स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका मूल है, भावके द्वारा उसीमें सात्मताकी उपलब्धि भक्तिका मार्ग है। नित्य जगतके चिन्मय आकार कारण रूप मायामें भावस्तर बनते हैं और वही समष्टिके भाव लोक हैं। यह भाव ही स्थूल होकर स्थूल पदार्थका रूप धारण

करते हैं। जैसे शब्दका ग्रामोफोनमें रेखांकन और उससे फिर शब्दका प्रकट रूप व्यक्त होता है। क्योंकि भाव रूप ही स्थूल एवं स्थूल जगत है, ये भाव नित्य लोकसे सबद्ध हैं, अतः स्थूल एवं सूक्ष्म जगतको भाव प्रभावित करता है और भावसे नित्य लोककी प्राप्ति होती है।

स्थूल जगतकी अपेक्षा जैसे भाव एवं उनके देवादि प्राणी विलक्षण शक्ति रखते हैं, उनकी तुष्टि भावमय है, वैसे ही भाव जगतसे नित्यधाम विलक्षण है। वह चिन्मय है, आनन्द स्वरूप है। वहाँ बाह्यके आधारपर तुष्टि नहीं होती। वह तो तुष्टि स्वरूप है। जैसे स्थूल देह एवं भोग देहमें आकृति साम्य होता है, वैसे ही नित्य देह एवं स्थूल देहमें भी आकृति साम्य है; परन्तु वहीं तक जितनी समता पदार्थ एवं छायामें होती है। स्थूल देहमें बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था शरीरके विकार हैं, ये शरीरके स्वरूप नहीं, अतएव देवताओंके अविकृत शरीर नित्य किशोरावस्थाके शास्त्रोंने बताया है। जब भावलोकके भोग देहकी किशोरावस्थाके होते हैं, तो नित्यलोकके चिन्मय शरीर तो नित्य किशोरके होंगे ही। वैसे उनमें वात्सल्यादि भावधाम-वात्सरूप भी होते हैं।

चिन्मय लोकोंकी देश विशेषकी कल्पना व्यर्थ है। देशकी कल्पना तो शरीरकी अपेक्षासे होती है। वह तो सर्वगत है। जैसे देवता एक साथ अनेक स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं, पूजा ग्रहण कर सकते हैं, वैसे ही नित्य लोककी भी बात है। इस स्थूल जगतमें भाव जगत और इन दोनोंमें तथा दोनोंसे परे भी नित्य जगत व्याप्त है। भगवान् अपने सगुण साकार विग्रहसे भी सर्वगत ही है। जैसे प्रत्येक स्थानपर प्रत्येक समय आप अपने स्वप्नका कोई भी दृश्य देख सकते हैं, जैसे पृथ्वीके कण-कणमें आकाश व्याप्त है, जैसे शरीरके प्रत्येक स्थानपर चेतना है, वैसे ही नित्य चिन्मय स्वरूप सार्वत्रिक हैं। उनके अवतरण या उनके धामकी प्राप्ति अर्थ नीचेसे ऊपरसे गमन नहीं है। शास्त्रोंके ऊपरका अर्थ सूक्ष्मतामें और नीचेका अर्थ स्थूलतामें है।

विचार या योगके द्वारा कारण देह क्षीण होनेपर जीव व्यापक चित्तत्वसे एक हो जाता है। भावके परिपाक होनेपर वह मायिक जगतसे उठकर उस भावके मूलमें जो चिन्मय रूप है, उसे प्राप्त करता है। मायिक देहसे वह चिन्मय देह प्राप्त करता है, जैसे मृत्युके समय स्थूल देहसे भोग देह सामान्यतः प्राप्त करता है। चिन्मय शरीरका तादात्म्य होनेपर कारण रूप मायाकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है। अवश्य ही भगवान्की इच्छासे उनके नित्यजन उनकी लीलामें योग देने स्थूल जगतमें आते हैं; परन्तु तब भी वे मायाबद्ध नहीं होते।

अवतार विग्रह

विश्वमें भगवानके जो नित्य अवतार होते हैं, उन अवतार विग्रहोंमें न तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरका भेद होता और न पंचकोष या पंच-महाभूतोंका। वह तो चिन्मय आनन्दधन स्वरूप है। मानवकी भाँति समस्त लीलाएँ वहाँ उन सर्वशक्तिमानका नाट्य मात्र है। वे लीलाएँ भी नित्य होती हैं। एक लीलाका प्रादुर्भाव तथा दूसरीका तिरोभाव वहाँ होता है। सब लीलाएँ सर्वगत एवं शाश्वत हैं। जीव एवं पदार्थोंके स्थूल-रूप एवं अवतार-विग्रहमें यही अन्तर है कि जीव या पदार्थोंका रूप तो पांचभौतिक है। वह नित्यधामके चिन्मयरूपकी छाया मात्र है। अवतार विग्रह चिन्मय आनन्दधन हैं। नित्यधामका रूप ही स्थूल-जगतमें व्यक्त हो गया है, जैसे कभी-कभी भावलोकके देवता प्रकट हो जाते हैं।

जो लोग भगवानके अवतारोंको महापुरुष मानते हैं—उन्हें भारतीय संस्कृतिकी यह विशेषता स्मरण रखना चाहिए कि हमारे यहाँ नाशवान स्थूल शरीर आराध्य नहीं बनता। न यहाँ शरीर रक्षित रखा जाता, न उसकी समाधि या स्मारक बनाते थे और न मरण तिथि मनाई जाती थीं। चक्रवर्ती नरेश सगर, दिलीप, रघु, मान्धाता, भरत ये श्रीरामसे कम प्रताप-शाली नहीं हुए। ऋषियोंको भी जिनके समीप ज्ञानोपदेश लेने जाना पड़ता था; वे महाराज जनक तथा महर्षिगण महापुरुष नहीं थे, यह कहनेके लिए मुखमें डेढ़ हाथकी जीभ चाहिए। इतनेपर भी इनमें कोई आराध्य नहीं बना। किसीकी मूर्ति पूजा न हुई। उपास्य तो भगवान चिन्मय विग्रह ही हैं। अवतार विग्रहोंकी अमायिकताके कारण ही सर्वज्ञ ऋषियोंने उनकी आराधनाका अनादि विधान स्वीकार किया।

भगवत्स्वरूपोंमें शास्त्र पाँच कोटि निर्देश करते हैं—पर, व्यूह, विभव, अर्चा और आचार्य। भगवान अपने जिस आनन्दधन नित्य रूपसे अपने दिव्यधाममें विराजते हैं, वह उनका पर-स्वरूप है। जगतके धारणके लिए वे प्रभु अपने जिस चार स्वरूपोंसे समस्त शक्तियोंका संचालन, धारण पोषण करते हैं, वे उनके व्यूह रूप हैं। वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण ये चतुर्व्यूह स्वरूप हैं भगवान। मूल प्रकृतिमें सूत्रात्मा और शरीर में चैत्य (चेतन सत्ता-जीव) यह भगवानका वासुदेव रूप है। सम्पूर्ण आकृतियोंकी सत्ता इसी वासुदेव रूपसे है। प्रद्युम्न स्वरूप भगवानका काम स्वरूप है—विश्वमें जितनी भी इच्छाएँ हैं, उनका आधार मूल यह रूप है। क्रिया शक्ति—प्रयत्नका अधिष्ठाता भगवद्रूप अनिरुद्ध कहा जाता है। प्राणि

शक्तिका धारण भगवानके संकर्षण—शेष स्वरूपसे होता है। भगवानके पर स्वरूप एवं व्यूह स्वरूप नित्य एकरस स्थित, प्रकट एवं आराधकोंको परम-सिद्ध देने वाले हैं।

भगवानका जब स्थूल जगतमें आविर्भाव होता है, जब वे भक्तोंकी भावनाओंके अनुसार हमारे चर्मचक्षुओंके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं तो उस रूपको विभव कहते हैं। भगवान अपनी योगमायाको तटस्थ उपादान बनाकर अपने नित्यरूपको आविर्भूत करते हैं। यह आविर्भाव भक्तकी भावना अधिकारके अनुसार कुछ क्षणको या अधिक कालको हो सकता है। यह भी सम्भव है कि भगवानका वह रूप भाव देहके देवादिकोंके समान हो और उसे वही भक्त देखे, जिसके लिए वह व्यक्त हुआ हो। यह भी हो सकता है कि प्रभु स्थूल जगतमें व्यक्त हों और सभी उनके दर्शन कर सकें। दोनों दशाओंमें वह रूप कुछ क्षण या पर्याप्त दीर्घकाल तकके लिए व्यक्त होसकता है। इन भेदोंसे शास्त्रोंमें अवतारोंके अनेक भेद किये गये हैं।

आचार्य—गुरु स्वयं भगवद्रूप हैं। गुरुमें मनुष्य बुद्धि करना नरकका कारण होता है। क्योंकि नारीका गुरु पति ही होता है, परम पुरुषको गुरु नहीं मानना चाहिए, अतः पति ही उसके लिए भगवान हैं। एक बात स्मरण रखनेकी है कि गुरुका अर्थ गुरुका स्थूल शरीर नहीं है। क्योंकि भगवानके अवतार विग्रहोंके समान मानव शरीर चिन्मय देह नहीं है। वह पांच भौतिक शरीर है और हिन्दू शास्त्रोंमें देह पूजाके लिए स्थान ही नहीं है। स्थूल शरीरके माध्यमसे ही सूक्ष्मकी तुष्टि होती है, अतएव माता-पिता, अतिथिके समान गुरु शरीर भी सेव्य तो है, किन्तु वह शरीर भगवानके समान आराध्य नहीं है। उस शरीरमें जो दिव्य ज्ञान ज्योति है, वही आराध्य है। गुरुके आदेशोंको भगवानका आदेश मानना ही तात्पर्य है। यह भी यह ध्यान रखनेकी बात है कि शास्त्रोंके अनुसार धर्म एवं शास्त्र विरोधी आदेश भगवानके भी मान्य नहीं हैं। शास्त्रोंने भगवान बुद्धको अवतार माना है, पर उनके आदेश स्वीकार करने योग्य नहीं बताये। आचार्य भगवत्स्वरूप हैं—इस सिद्धान्तको लेकर जो देह पूजा चल पड़ी है, वह शास्त्रीय नहीं है। यदि गुरुका शरीर आराध्य या ध्यानके योग्य होता तो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवार श्रीराम गुरु वशिष्ठाका ही ध्यान और पूजन करते। वर्तमान गुरु पूजाके देहपूजासे अनेक दोष आते हैं। अर्घ्य, पाद्यादिसे अतिथि, विप्र, गुरुका पूजन एक बात है और गुरु देहको जो नश्वर है, भगवद्धि ग्रहका

स्थान देना दूसरी बात । इस भेदको समझकर ही गुरुपूजा शास्त्रीय रूप प्राप्त कर सकती है ।

भगवानका पञ्चम विग्रह है अर्चा विग्रह । आराध्य मूर्ति भगवानका साक्षात् स्वरूप है । वह धातु, काष्ठादि नहीं है । वहाँ पदार्थ भावना करना अपराध है । जैसे भाव परिपाकसे भगवद्दर्शन हृदयमें या बाहर होता है, वैसे ही वह महापुरुष या गुरुके शरीरमें या मूर्तिमें भी हो सकता है ।

आवेश

महापुरुषोंमें भगवानके आवेश होते हैं । लोगोंमें देवता या प्रेतादिके आवेश होते हैं । ये आवेश दो प्रकारके होते हैं ; एकमें तो वह व्यक्ति आविष्ट शक्तिके समान प्रयत्न करता है और दूसरीमें उसको आकृतिके स्थानमें वह आकृति दीख पड़ती है, जिसका आवेश हुआ हो । एक प्रकार का आवेश वह भी है जो मेस्मराइजर अपने मूर्छित पात्रमें करता है ।

स्थूल शरीर तो रहता ही है और कारण शरीर भी रहता है, केवल सूक्ष्म शरीर सुप्त हो जाता है देवशक्तिसे और उसके स्थानपर देवशक्ति काम करने लगती है । उस समय यदि स्थूल शरीरसे देवशक्तिका तादात्म्य गाढ़ हुआ तो स्थूल शरीर उस देव शरीरके रूपका हो जाता है ; क्योंकि स्थूल शरीर तो सूक्ष्म शरीरका प्रतिविम्ब ही है । जैसे स्थूल शरीरके प्रति किये गये व्यवहारसे उसमें तादात्म्यके कारण सूक्ष्म शरीरको तुष्टि या दुःख होता है, वैसे ही आवेशके समय स्थूल शरीरके प्रति किये गये व्यवहार का प्रभाव आविष्ट शक्तिपर पड़ता है ।

आवेश सबमें नहीं हो सकता । जैसे हम चाहे जैसा वस्त्र नहीं पहिन सकते, वैसे ही देवशक्ति सबमें आविष्ट नहीं होती । जिसमें उस शक्तिको धारणकी पात्रता है, क्षमता है, साथ ही उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति है, उसीमें आवेश सम्भव है । दुर्बल मानसमें उच्चशक्तिके आवेशसे उसकी हानि हो सकती है ।

स्थूल देह नश्वर है, साथ ही वह अस्थि, चर्मादिके रूपमें प्रतीत होनेपर भी सङ्कल्पका ही व्यक्त रूप है । नित्य जगतसे भाव जगतके द्वारा वह सम्बन्ध है । इस देह विज्ञानपर ही हिन्दू संस्कृतिके धर्म एवं आचारका विस्तार हुआ है । देहको हम जितना अधिक वास्तविक रूपमें समझेंगे, धर्मका रहस्य उतना स्पष्ट होगा ।

Vinay Avasthi Sahib Bhuvan Vani Trust Donations